हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन

लेखिका

श्रीमती वीणापाणि पाण्डे,

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग,

उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण
१९६०

मूल्य
रुपये ४–५०

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

भारत के प्राचीन धार्मिक साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है। हमारी संस्कृति, तत्कालीन सामाजिक स्थिति एवं इतिहास की उपयोगी सामग्री उनमें मिलती है। महाभारत का खिल होते हुए भी हरिवंश स्वरूपतः एक पुराण ही है जो स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ। पुराणों के सब लक्षण इसमें विद्यमान हैं, यद्यपि इसकी अपनी विशेषताएँ भी हैं। अन्य पुराणों की तरह हरिवंश की ओर प्राच्य और प्रतीच्य विद्वानों का उतना ध्यान नहीं गया जितना जाना चाहिए था, यह सचमुच आश्चर्य और खेद की बात है। अतः विदुषी लेखिका ने इसे अपने अध्ययन तथा गवेषणा का विषय चुनकर हिन्दी के पाठकों के सम्मुख अपने विचार प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है, वह स्तुत्य है।

यह शोधग्रन्थ हिन्दी समिति ग्रन्थमाला का ४४वाँ पुष्प है। इसमें लेखिका ने कृष्णचरित्र, ऐतिहासिक परम्पराओं, नाट्य तथा वास्तुकला आदि, सामाजिक और धार्मिक रूपरेखा, एवं दार्शनिक तत्त्वों का जो विवेचन किया है उसकी उपयोगिता और गुरुत्व संस्कृत के कतिपय विद्वानों ने स्वीकार किया है। आशा है, हिन्दी में भी इसका आदर होगा और हमारे पाठक इससे यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे।

अपराजिता प्रसाद सिंह

सचिव, हिन्दी-समिति

विषय सूची

आमुख

भारतीय बुद्धि तथा कला को पुराणो में बहुत प्राचीन काल से सरक्षण मिला है। भारतीय जीवन के प्रतिबिम्ब होने के कारण पुराणो में इस देश के साहित्य तथा सस्कृति का अविकृत रूप मिलता है। इन्ही विशेषताओ के कारण हरिवश अन्य पुराणो की भाँति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। हरिवश में महाभारत के खिल (Appendix) के साथ पुराणतत्व का समन्वय हुआ है। अत साहित्यिक और सास्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से हरिवश एक महत्वपूर्ण पुराण है।

विद्वानो का ध्यान दूसरे पुराणो की अपेक्षा हरिवश की ओर कम आकृष्ट हुआ है। सम्भवत अठारह महापुराणो तथा अठारह उपपुराणो में हरिवश की गणना न होने के कारण यह पुराण अधिकाश विद्वानो की दृष्टि से वचित रह गया। किन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद हरिवश मे सभी पौराणिक तत्त्व विद्यमान दिखलाई देते हैं। हरिवश में इन तत्त्वो की उपस्थिति देखकर कुछ विद्वानो ने इसे भी पुराणो के समकक्ष स्थापित किया है। फरक्युहर ने हरिवश की गणना महापुराणो मे करके इसको बीसवाँ महापुराण माना है[1]। विण्टरनित्स ने हरिवश को खिल के अतिरिक्त पुराण के रूप में स्वीकार किया है[2]। हापकिन्स न महाभारत के अध्ययन के लिए अनेक स्थलो पर हरिवश से तुलना की है। हापकिन्स के अनुसार हरिवश महाभारत के अर्वाचीनतम पर्वों में एक है[3]। श्री हाजरा ने हरिवश के कृष्णचरित्र के अन्तर्गत रास के आधार पर हरिवश को चतुर्थ शताब्दी के लगभग का पुराण माना है[4]। विद्वानो ने केवल तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से ही हरिवश का उल्लेख किया है। विष्णु, भागवत, देवीभागवत, मत्स्य तथा वायु पुराणो की भाँति हरिवश के सर्वांगीण अध्ययन की ओर विद्वानो का ध्यान नही गया। अत अध्ययन के लिए हरिवश में व्यापक क्षेत्र है।

1 Farquhar Outlines Rel Lit p 136
2 Winternitz His Ind Lit. Vol 1 p 454
3. Hopkins GEI p 387
4 Hazra Pur Rec. p 23.

यह अध्ययन हरिवश में मिलने वाली सास्कृतिक सामग्री के आधार पर किया गया है। सास्कृतिक अध्ययन के अन्तर्गत हरिवश के स्वरूप, कृष्णचरित्र, प्रक्षिप्त स्थल, कालनिर्णय, धार्मिक और सामाजिक रूपरेखा, ललित कलाओ, ऐतिहासिक परम्पराओ तथा दार्शनिक तत्त्व पर विवेचन किया गया है।

पहले अध्याय में हरिवश के स्वरूप पर विवेचन किया गया है। हरिवश केवल खिल है अथवा पुराण यही एक विवाद का विषय है। हरिवश के तथा महाभारत के अन्तर्गत-प्रमाण हरिवश को महाभारत का खिल सूचित करते हैं। हरिवश में पुराण-पचलक्षण के सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मन्वन्तर तथा वशानुचरित मिलते हैं। पुराण-पचलक्षण के सर्ग प्रतिसर्ग के अनुरूप हरिवश मे जगत् की सृष्टि तथा प्रलयसम्बन्धी विचार मिलते हैं। वश तथा मन्वन्तर के अनुरूप राजाओ तथा मन्वन्तरो का विवरण है। वशानुचरित के अनुसार राजाओ तथा ऋषियो के विविध आख्यान मिलते हैं। पुराण-पचलक्षण के अतिरिक्त हरिवश के अनेक वृत्तान्त पौराणिक प्रसगो से समानता रखते हैं। पुराणो में उत्तरकाल में जोडे गये साम्प्रदायिक प्रसग भी हरिवश में मिलते हैं। हरिवश में वैष्णव, शैव तथा शाक्त विचारधाराएँ इसी प्रकार के उत्तरकालीन साम्प्रदायिक स्थल हैं। ज्ञात होता है, महाभारत का खिल होने पर भी हरिवश एक स्वतन्त्र पुराण के रूप में विकसित हुआ है। अत हरिवश के लिए 'पुराण' शब्द समुचित है।

इस अध्ययन के दूसरे अध्याय में हरिवश के महत्वपूर्ण विषय, कृष्ण के स्वरूप, पर विवेचन किया गया है। कृष्ण का स्वरूप भारतीय सस्कृति और साहित्य का एक प्राचीन विषय है। हरिवश के विष्णुपर्व में कृष्ण की बाल्यावस्था से लेकर द्वारका में उनके राज्यकाल तक का विस्तृत विवरण मिलता है। हरिवश के भविष्यपर्व में भी कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध अनेक वृत्तान्त मिलते हैं।

हरिवश का कृष्णचरित्र अन्य वैष्णव-पुराणो के कृष्णचरित्र से विशेषता रखता है। इस पुराण का कृष्णचरित्र अन्य वैष्णव-पुराणो के कृष्णचरित्र से प्रारम्भिक है। विष्णु०, भागवत और पद्म० मे मिलने वाले कृष्णचरित्र के अनेक वृत्तान्त हरिवश में नही ह। विष्णु० का वेणुगीत[1] तथा भागवत के वेणुगीत और माखनलीला[2] हरिवश में नहीं हैं। हरिवश में रास का प्रसग 'हल्लीस' के नाम से अत्यन्त सक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है[3]। रास का स्वरूप विष्णु, भागवत, पद्म० और ब्रह्मवैवर्त में

१. विष्णु० ५. १३.   २. भा० १०. ८. १०. २९-३३
३. हरि० २. २०

क्रमश विस्तृत होता गया है[१]। ब्रह्म०, विष्णु०, भागवत तथा पद्म० में द्वारका के विनाश और कृष्ण के परलोक–गमन का प्रसग है[२]। हरिवश में द्वारका के विनाश तथा कृष्ण के परलोक–गमन का यह वृत्तान्त भावी घटना के रूप में केवल दो श्लोको में वर्णित किया गया है[३]। सम्भवत महाभारत, मौशलपर्व में प्रस्तुत द्वारका के विनाश के प्रसग की आवृत्ति के भय से हरिवश में यह प्रसग पूर्ण रूप से छोड दिया गया है।

हरिवश के कृष्णचरित्र में कुछ नवीन तत्त्वो का समावेश अन्य पुराणो से इस पुराण के कृष्णचरित्र की विशेपता का कारण है। हरिवश में छालिक्यगेय नामक वाद्यमिश्रित सगीत तथा अभिनय किसी भी अन्य पुराण के कृष्णचरित्र में नही मिलता। कालिदासकृत 'मालविकाग्निमित्र' में छलिक नामक किसी नाट्य का वर्णन है[४]। मालविकाग्निमित्र का छलिक नाट्य एक अभिनय-प्रधान नृत्य होने के कारण हरिवश के छालिक्यगेय से नितान्त भिन्न है। हरिवश का अन्य महत्त्वपूर्ण प्रसग पिण्डारक तीर्थ मे यादवो और अन्त पुर की समस्त रानियो के साथ कृष्ण की जलक्रीडा का वर्णन है, जो अन्य सभी पुराणो में अनुपस्थित है[५]। भागवत के एक स्थल पर कृष्ण की जलक्रीडा का प्रसग मिलता है। किन्तु यह जलक्रीडा विपयसामग्री और शैली की दृष्टि से हरिवश के छालिक्य (जलक्रीडा के प्रसग) से समानता न रखकर सस्कृत काव्यो के जलक्रीडा-वर्णन से समानता रखती है[६]। हरिवश का तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रसग वज्रनाभ का वृत्तान्त है। यहाँ पर प्रद्युम्न के, वज्रनाभ नामक दैत्य की कन्या प्रभावती के साथ विवाह का वर्णन हुआ है। इस स्थल में भद्र नामक नट तथा 'रामायण' और 'रम्भाभिसार कौबेर' नामक दो नाटको के अभिनय का प्रसग भारतीय नाट्यशास्त्र का एक गम्भीर विपय है[७]। श्री हर्टेल तथा कीथ ने हरिवश के इस प्रसग से ही सस्कृत नाटको का सूत्रपात माना है[८]। हरिवश के इस स्थल में जिस प्रकार के नाटको

१. विष्णु० ५. १३; भाग० १०. २९–३३, पद्म पाताल० ६९–८३; ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २८.
२ ब्रह्म० २१०–२१२; विष्णु ५. ३७; भाग० ११. १–३०; पद्म उत्तर० २७९.
३. हरि० २. १०२. ३२
४. मालविका० १. प्रस्तावना
५. हरि० २. ८८. ८९.
६. भाग० १०. ९०. १–८. १५
७. हरि० २. ८८–८९. ९१–९७
8 Hertel. VOJ. XXIV in Keith San Drama p 48.

का वर्णन हुआ है, उनसे हरिवंश–कालीन अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की अभिनय-कला का बोध होता है। हरिवंश के नाट्यतत्त्व तथा छालिक्य के विषय में विचार 'हरिवंश में ललित कलाएं' नामक एक स्वतन्त्र अध्याय में विस्तृत रूप से किया गया है।

हरिवंश में कृष्णचरित्र के अन्तर्गत कृष्ण के अत्यन्त प्राचीन व्यक्तित्व पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। यहाँ पर कृष्ण के लिए प्रयुक्त 'सूर्य' 'सूर्यपुत्र' तथा 'ज्योतिषां पति' विशेषण[1], छान्दोग्य०[2] और गीता[3] के कृष्ण से हरिवंश के कृष्ण में सम्बन्ध स्थापित करते हैं। छान्दोग्य० में वर्णित देवकीपुत्र कृष्ण तथा महाभारत और पुराणों के वासुदेव-कृष्ण की एकता के विषय में विद्वानों में विवाद है। अनेक पाश्चात्य विद्वान् घोर आंगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण को पुराणों में सांदीपनि के शिष्य वासुदेव कृष्ण से भिन्न मानते हैं। कृष्ण के लिए 'सूर्यपुत्र' तथा 'ज्योतिषां पति' आदि विशेषण अन्य वैष्णव पुराणों में नहीं मिलते। केवल हरिवंश में इन विशेषणों की उपस्थिति हरिवंश के कृष्णचरित्र की विशेषता को सूचित करती है।

तीसरे अध्याय में हरिवंश के प्रक्षिप्त स्थलों पर विवेचन किया गया है। हरिवंश के भविष्यपर्व में प्रक्षिप्त स्थलों की संख्या सबसे अधिक है। हरिवंशपर्व में ये स्थल बहुत कम मात्रा में मिलते हैं। हरिवंश के प्रक्षिप्त स्थल अन्य पुराणों के इन्हीं प्रसंगों से समानता रखने के कारण लगभग इनके समकालीन ज्ञात होते हैं।

इस अध्ययन के चौथे अध्याय में हरिवंश के काल का निर्धारण किया गया है। श्री हापकिन्स[4], हाजरा[5] और फरक्युहर[6] महाभारत और अन्य पुराणों से तुलना करने पर हरिवंश को चतुर्थ शताब्दी का पुराण मानते हैं। किन्तु अन्त साक्ष्य और बहि साक्ष्य प्रमाणों के आधार पर हरिवंश का काल चतुर्थ शताब्दी से पहले—तृतीय शताब्दी—निश्चित होता है।

हरिवंश के अन्त साक्ष्य प्रमाणों में अश्वघोषकृत वज्रसूची० में पाये जाने वाले श्लोक पूर्णत इसी रूप में हरिवंश में मिलते हैं। श्री रे चौधरी ने वेबर के मत को स्वीकार करते हुए अश्वघोष को हरिवंश के श्लोकों का ऋणी माना है[7]। अश्वघोष

१. हरि० ३. ९०. १७ २०-२१. २. छान्दोग्य० ३. १७
३. गीता० १३. १७.
4. Hopkins: GEI p 387 5. Hazra: Pur. Rec p 23
6. Farquhar : Outlines Rel. Lit. p. 143.
7. Ray Chaudhuri: Studies in Ind Ant Pt IV. p 174

को विद्वान् प्रथम से द्वितीय शताब्दी के बीच का मानते हैं[1]। यदि अश्वघोष ने हरिवंश से श्लोकों को लिया है तो हरिवंश पर्व अवश्य द्वितीय शताब्दी में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान था।

बहिःसाक्ष्य प्रमाणों के आधार पर गौडपाद[2] और आनन्दवर्धन[3] के ग्रन्थ क्रमशः उत्तर-गीताभाष्य तथा ध्वन्यालोक में हरिवंश विषयक विचार मिलते हैं। अग्नि० १३ में रामायण, महाभारत और निगमों के साथ हरिवंश की गणना अग्नि० के पूर्व हरिवंश का वर्तमान रूप में प्रसिद्ध होना सूचित करती है। हरिवंश में दीनारों का उल्लेख इस पुराण के कालनिर्णय में कोई बाधा नहीं डालता। सीवेल[4] ने भारत में दीनारों के प्रचार-काल को प्रथम से द्वितीय शताब्दी माना है। हरिवंश में दीनारों के नाम की उपस्थिति पर भी इस पुराण को तृतीय शताब्दी से बाद का नहीं माना जा सकता।

इस अध्ययन के पाँचवें अध्याय में हरिवंश की धार्मिक और सामाजिक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। इस अध्याय के अन्तर्गत हरिवंश के काल में प्रचलित सभी धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का निरूपण हुआ है। हरिवंश एक वैष्णव पुराण है। वैष्णव-भक्ति के अतिरिक्त शैव और शाक्त विचारधाराएँ भी इस पुराण में मिलती हैं। हरिवंश की वैष्णव, शैव और शाक्त विचारधाराएँ अर्द्ध-विकसित और प्रारम्भिक अवस्था में मिलती हैं। हरिवंश की वैष्णव भक्ति में पाञ्चरात्र का अभाव है। पाञ्चरात्र के चतुर्व्यूह का उल्लेख ब्रह्म०, विष्णु०, भागवत और पद्म० में है[5]। पाञ्चरात्र की अनुपस्थिति हरिवंश की प्रवृत्ति को इन सभी पुराणों की परम्परा से भिन्न सूचित करती है। हरिवंश की धार्मिक और सामाजिक अवस्था अवश्य इन सभी पुराणों से पूर्व की है।

1. Macdonell: His. San. Lit. p. 319; S. Konow: Indi. Drama p. 50
2. पाचवीं से सातवीं शताब्दी तक B N K. Sharma ABORI. Vol. 14.p 215; JRAS 1910 p. 1361; JRAS 1913 p. 51
3. नवीं शताब्दी T. Chaudhury. His. San. Lit p. 150.
4. Sewell: JRAS. 1904
५. ब्रह्म० १९२; विष्णु० ५. १८. ५८; भागवत० १०. ४०. २१; पद्म० उत्तर २७२. ३१३–३१४.

छठे अध्याय में इस पुराण की ललित कलाओ पर विचार प्रकट किये गये हैं। हरिवश के महत्त्वपूर्ण कुछ कला-सम्बन्धी तत्त्व पुराणो और ग्रथो में अनुपस्थित हैं। कृष्ण के द्वारा आविष्कृत, 'छालिक्यगेय' और भद्र नामक नट की सहायता से प्रस्तुत दो नाटको का प्रसग हरिवश में महत्त्वपूर्ण है। छालिक्य विविध वाद्यो के साथ गाया जानेवाला हाव-भावपूर्ण सगीत है[१]। यह किसी भी पुराण में नही मिलता। भद्र नट का प्रसग भारतीय नाटक के जन्म और विकास पर प्रकाश डालता है। कृष्ण के यज्ञ मे भद्र नट के द्वारा प्रस्तुत सगीतपूर्ण अभिनय पाश्चात्य विद्वानो के द्वारा वर्णित मुग्धाभिनय (Pantomime) का सूचक है। यही मुग्धाभिनय प्रद्युम्न, साम्ब, गद और भद्र नट के द्वारा अभिनीत नाटक 'रामायण' और 'कौबेर रम्भाभिसार' में अपनी परिष्कृत अवस्था में मिलता है[२]। अत मुग्धाभिनय से क्रमश नाटक का पूर्ण विकास हरिवश में दिखलाई देता है। हरिवश का यह नाट्यतत्त्व महाभारत तथा पुराणो में ही अनुपस्थित नही है, वरन् नाट्यशास्त्र तक में इस नाट्यतत्त्व से सम्बद्ध कोई भी सामग्री नही मिलती।

सातवें अध्याय मे प्राचीन राजाओ के राजवशो का अध्ययन किया गया है। हरिवश के प्राचीन राजवशो की विविध पुराणो के इन्ही राजवशो से तुलना करने पर हरिवश के राजवशो की प्रामाणिकता का परिचय मिलता है। काशी-वश हरिवश का महत्त्व-पूर्ण राजवश है। इस राजवश में प्रतर्दन से निकली हुई राजाओ की दो शाखाओ का स्पष्ट वर्णन है[३]। इसी राजवश को वायु०, विष्णु०, भागवत और मत्स्य० अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं[४]। हरिवश का दूसरा महत्त्वपूर्ण राजवश परीक्षित के बाद अजपार्श्व नामक राजा तक है[५]। यह राजवश वायु०, विष्णु०, भागवत और मत्स्य० में बिलकुल भिन्न और विस्तृत रूप में मिलता है[६]। यहाँ पर यह निश्चित

१. हरि० २. ८९. ६६–८३; २. ९३. २४
२. हरि० २. ९३.
३. हरि० १. २९. २९–३४, ७२–८२.
४. वायु० उत्तर० ३०. ६४–७५; ब्रह्माण्ड० उपो० ६७ ६७–७९; विष्णु० ४. ८. १२–२१; भाग० ९. १७. २–९.
५. हरि० ३. १. ३–१६
६. ब्रह्म० १३ १२३–१२८; वायु० अनु० ३७ २४८–२५२; मत्स्य० ५०. ६३–८०; विष्णु० ४. २१. १–८

रूप से नही कहा जा सकता कि हरिवश का पाठ प्रामाणिक है अथवा अन्य पुराणो का। किन्तु इन सभी पुराणो से भिन्न हरिवश के वशो का सुव्यवस्थित और स्पष्ट रूप इस पुराण की वशावलियो को विश्वसनीय सूचित करता है।

अन्तिम अध्याय मे पुराण-पचलक्षण के 'सर्ग' 'प्रतिसर्ग' के अन्तर्गत आनेवाले पौराणिक दार्शनिक तत्वो* पर विवेचन किया गया है। हरिवश मे पुराणो के साख्य तथा योग-सम्बन्धी विचार विस्तृत रूप में मिलते है। हरिवश में पद्म०[1] की भाँति विष्णु के पौष्कराबतार को महत्त्व मिला है। पौष्करावतार से सम्बन्धित एकार्णव का प्रसग भी हरिवश में मिलता है। एकार्णव में विष्णु के द्वारा मधुकैटभ के वध का वर्णन है[2]। हरिवश के 'सर्ग' तथा 'प्रतिसर्ग' में भारत के सुव्यवस्थित दर्शन से पूर्वकालीन अवस्था मिलती है। हरिवश में साख्य विपयक विचार उत्तरकालीन 'साख्यकारिका' से पहले के है। इसके विपरीत विष्णु० के साख्य विवेचन के प्रसग में 'बाधा' शब्द को साख्यकारिका की अट्ठाईस बाधाओ में एक मानने के कारण 'साख्यकारिका' से प्रभावित स्वीकार करना पडता है[3]। हरिवश के दर्शन-सम्बन्धी विचार विष्णु०, भागवत, पद्म० तथा कूर्म० के दर्शन सम्बन्धी विचारो से प्रारम्भिक है।

* Cosmogony & Cosmology

१. पद्म० सृष्टि० ६१   २. हरि० ३ २७.

3. S Das Gupta His Ind Phil Vol III p 501.

पहला अध्याय

हरिवंश–खिल या पुराण ?

महाभारत के खिलपर्व के रूप में हरिवंश सर्वमान्य है। महाभारत के प्रारम्भ में पर्वसंग्रहपर्व के अन्तर्गत हरिवंश का महाभारत से यह सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। हरिवंश के दो पर्व—हरिवंशपर्व तथा विष्णुपर्व महाभारत के अन्तिम दो पर्वों में माने गये हैं। इन दो पर्वों को परम अद्‌भुत खिल कहा गया है[1]। पर्वसंग्रहपर्व के अन्य पाठ में हरिवंश के विष्णुपर्व की भी गणना हुई है। इस स्थल पर विष्णुपर्व के अन्तर्गत कृष्ण के चरित्र का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।[2] हरिवंश और महाभारत का निकट सम्बन्ध सूचित करने के लिए महाभारत का यह कथन महत्त्वपूर्ण है।

हरिवंश से महाभारत का सम्बन्ध हरिवंश में मिलनेवाले प्रमाणों से स्थापित होता है। हरिवंश के प्रारम्भिक अध्याय में महाभारत को श्रेष्ठ बतलाया गया है। इस स्थल पर 'भारत' और 'भारत कथा' के निर्माता तथा श्रोता की प्रशंसा की गयी है[3]। महाभारत की प्रशंसा के बाद हरिवंश के माहात्म्य का वर्णन हुआ है[4]। शौनक कुशल श्रोता के रूप में सौति से 'भारत' का आख्यान सुनने के बाद वृष्णि-अन्धकों के विषय में प्रकाश डालने की प्रार्थना करते हैं (हरि० १ १ ५–९)। द्वितीय श्रोता के रूप में जनमेजय वैशम्पायन से महाभारत के सुनने के बाद वृष्णि और अन्धकों के चरित्र को सुनने की इच्छा प्रकट करते हैं।[5] हरिवंश के भविष्य पर्व में शौनक हरिवंश तथा अन्य अनेक पर्वों को सुनने के कारण अपने को सौभाग्यशाली मानते हैं। हरिवंश तथा अन्य पर्व शौनक के अनुसार 'इतिहाससमन्वित' हैं।[6] इसी स्थल पर परीक्षित

१. महा० १. २. ६९ सुकथङ्कर संस्क०—हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम्।
भविष्यत्पर्व चाप्युक्तं खिलेष्वेवाद्‌भुतं महत्॥
२. महा० १. २. अधिक पाठ—विष्णुपर्वशिशोश्चर्या विष्णोः कंसवधस्तथा।
३. हरि० १. १. २ – ४
४. हरि० १. १. ५ – ७
५. हरि० १. १. १२ – १६
६. हरि० ३. २. १ – २ – उक्तोऽयं हरिवंशस्ते पर्वाणि निखिलानि च।

के अश्वमेघ यज्ञ से भारती कथा के साथ पुन हरिवश के वृत्तान्त का प्रारम्भ होता है।[1] हरिवश में मिलनेवाले ये प्रमाण महाभारत से हरिवश के सम्बन्ध की पुष्टि करते हैं।

वृत्तान्तो और प्रसंगो का प्रमाण

महाभारत तथा हरिवश में परस्पर सम्बन्ध को स्थापित करनेवाले इन ग्रन्थो के आन्तरिक प्रमाण ही हरिवश को महाभारत का खिल सूचित नही करते। विविध वृत्तान्तो और पौराणिक प्रसगो की दृष्टि से भी महाभारत तथा हरिवश में परस्पर सम्बन्ध दिखलाई देता है। महाभारत में वर्णित कुछ वृत्तान्त हरिवश में सम्भवत पुनरावृत्ति के भय से जानबूझकर छोड दिये गये हैं। महाभारत में द्वारकावासी यादवो के विनाश का विस्तृत विवरण मौसलपर्व में मिलता है।[2] हरिवश में कृष्णचरित्र को प्रधानता देने पर भी द्वारका के विनाश से सम्बद्ध यह वृत्तान्त उपेक्षित है। द्वारका के विनाश के प्रसग की ओर विष्णुपर्व के १०२ वें अध्याय में सकेत मात्र हुआ है। यहाँ पर द्वारका के विनाश की घटना भावी रूप में वर्णित की गयी है।[3] द्वारका नगरी में विनाश का यह पूर्वकथन महाभारत वनपर्व में अक्षरश इसी रूप में मिलता है।[4] द्वारका के विनाश के वृत्तान्त को भावी घटना के रूप में लिखने के कारण वनपर्व का यह प्रसंग मौसलपर्व से पूर्वकालीन ज्ञात होता है। सम्भवत वनपर्व में भावी घटना के रूप में केवल सकेत करने के उपरान्त मौसलपर्व में इसी घटना का विशद वर्णन हुआ है। द्वारका के वृत्तान्त की आवृत्ति के भय से ही सम्भवत हरिवश में यह वृत्तान्त उपेक्षित है।

हरिवश तथा महाभारत के कुछ विषयो में परस्पर सम्बन्ध नही दिखलाई देता।

यथा पुरोक्तानि तथा व्यासशिष्येण धीमता ॥
तत्कथ्यमानाममितमितिहास - समन्वितम् ।
प्रीणात्यस्मानमृतवत्सर्वपापविनाशनम् ॥

१. हरि० ३. ४. ४५।
२. महा० १६. २ – १५
३. हरि० २. १०२. ३२ – कृष्णो भोगवतीं रम्यामृषिकान्तां महायशा । द्वारकामात्मसात्कृत्वा समुद्रं गमयिष्यति ॥
४. महा० ३. १२. ३४ – ३५ – तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन । द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि ॥

नहुप के पुत्र ययाति का चरित्र महाभारत तथा हरिवश में समान रूप से व्यापकता के साथ मिलता है। द्वारका नगरी के विनाश से सम्बद्ध वृत्तान्त में यदि आवृत्ति का निराकरण किया गया है, तो ययाति के वृत्तान्त में भी यह प्रवृत्ति होनी चाहिए। किन्तु ययाति के वृत्तान्त का महाभारत तथा हरिवश में विस्तृत वर्णन आवृत्ति के भय की सभावना को मिटा देता है। ययाति का वृत्तान्त महाभारत तथा हरिवश में विस्तार के साथ ही नही मिलता, वरन् इस वृत्तान्त के अन्तर्गत कुछ श्लोक महाभारत, हरिवश तथा अन्य पुराणो से अक्षरश समानता रखते हैं। ययाति की वृद्धावस्था में उसकी अनन्त कामतृष्णा मानसिक भावावेश के रूप में उसको एक तत्वपूर्ण बात कहने के लिए बाध्य करती है। इच्छा उपभोग से कभी शान्त नही होती। हविप् के डालने पर अग्नि की भाँति वह बढती जाती है[1]। अनेक पुराण, महाभारत और हरिवश में ययाति के चरित्र के साथ इस श्लोक की उपस्थिति पौराणिक ययातिचरित्र की एक ही परम्परा की ओर सकेत करती है।

इतिहास पुराण में ययाति के चरित्र की व्यापकता का कारण इस चरित्र में ही निहित है। ययाति का चरित्र अत्यन्त प्राचीन है। श्री विण्टरनित्स ने इस चरित्र की प्राचीनता सूचित करने के लिए पतजलि के सूत्रो की ओर सकेत किया है। उनके अनुसार पतजलि ने 'यायातिक' के द्वारा 'ययाति के वृत्तान्त से सम्बद्ध' अर्थ दिया है। ज्ञात होता है, ययाति का वृत्तान्त लगभग इसी रूप में पतजलि के काल में प्रचलित हो गया था[2]। पतजलि के पूर्व ययाति का नाम नही मिलता। किन्तु सभवत पतजलि के पूर्वकाल में ययाति का वृत्तान्त जनसाधारण के लिए ज्ञात हो चुका था।

हरिवश (चित्रशाला सस्करण) के प्रास्ताविक में हरिवश को महाभारत का खिल

१. हरि० १. ३०. ३८ — न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
महा० १. ६०. ५१ – ५३ ; भाग० ९. १९ १३-१७ मत्स्य० ३४.१०; विष्णु० ४. १०. २३।

2. Wint : His Ind Lit Vol 1 p. 469 Footnote—The Yayāti legend for instance is surely at least as early as Patanjali, who teaches the formation of the word 'Yāyātika' he who knows the Yayāti legend' in the Mahabhāṣya. (4 2 60)

सूचित करने के लिए अनेक प्रमाण दिये गये है। इन प्रमाणो को निम्नलिखित आठ भागो में बाँट दिया गया है—

१ महाभारत के पर्वसग्रहपर्व में सौ पर्वों के अन्तर्गत हरिवंश का समावेश।

२ पर्वसग्रहपर्व में ७९ वें श्लोक के अन्तर्गत 'हरिवंशस्य हरिवंशकथने भविष्य-कथने च तात्पर्यम्' का उल्लेख।

३ हरिवंश के उपक्रमाध्याय में शौनक के द्वारा सौति से भारती कथा को सुनने के बाद वृष्णि-अन्धको के चरित्र को सुनने की इच्छा।

४ हरिवंशपर्व में बीसवें अध्याय के अन्तर्गत 'यथा ते कथित पूर्वं मया राजर्षि-सत्तम' के द्वारा ययाति के चरित्र की महाभारत में उपस्थिति।

५ हरिवंशपर्व के बत्तीसवें अध्याय में अदृश्यवाणी का कथन 'त्व चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला' के द्वारा महाभारत में शकुन्तला के उपाख्यान की ओर सकेत।

६ हरिवंश के ५४वें अध्याय में 'मित्रस्य धनदस्य' के द्वारा मित्राशत्व के रूप में कणिक मुनि का उल्लेख। यह उल्लेख आदिपर्व में जम्बूक कथा के वक्ता कणिक मुनि की पूर्वस्थिति की ओर सकेत करता है।

७ भविष्यपर्व की समाप्ति में १३२वें अध्याय के अन्तर्गत महाभारत-श्रवण-फल का वर्णन। महाभारत यद्यपि स्वर्गारोहणपर्वान्त है, किन्तु शतपर्व की गणना में हरिवंश के समावेश से महाभारत को हरिवंश तक मानना पड़ता है।

८ अनुशासन पर्व में कृष्ण के कैलासगमन का सकेत सक्षिप्त रूप में किया गया है। हरिवंश के भविष्यपर्व में इसी वृत्तान्त का विस्तार देखा जा सकता है[1]। हरिवंश के प्रास्ताविक में वर्णित महाभारत तथा हरिवंश की एकता को सूचित करनेवाले ये सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं।

अनेक उत्तरकालीन प्रमाणो के आधार पर महाभारत तथा हरिवंश के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में हरिवंश को महाभारत का उप-सहारपर्व माना है। ध्वन्यालोक के इस स्थल पर हरिवंश में शान्तरस का प्राधान्य

१. हरिवंश (चित्रशाला सस्करण) प्रास्ताविक पृ० २-३।

बतलाया गया है[1]। आनन्दवर्धन का काल नवी शताब्दी माना जाता है।[2] ज्ञात होता है, नवी शताब्दी तक हरिवंश को महाभारत के महत्त्वपूर्ण अग के रूप में माना गया था।

श्री हाजरा ने महाभारत तथा हरिवंश की एकता के प्रवर्तक महत्वपूर्ण सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। नीलकण्ठ ने महाभारत (वंगवासी संस्करण) के अन्त में कहा है कि 'भगवन्केन विधिना' वाक्य से प्रारम्भ होनेवाली स्वर्गारोहणपर्व की दानविधि वस्तुत हरिवश में मिलती है। किन्तु महाभारत के पाठको को प्रोत्साहित करने के लिए दान तथा श्रवण-माहात्म्य इस पर्व में रख दिया गया है[3]। महाभारत में दान तथा श्रवणमाहात्म्य के विषय का हरिवंश से ग्रहण महाभारत तथा हरिवश की एकता का प्रतिपादन करता है।

महाभारत तथा हरिवंश के अन्तर्गत प्रमाणो और विषयो को प्रस्तुत करने की विधि के द्वारा हरिवंश और महाभारत के परस्पर सम्बन्ध की सूचना मिलती है। हरिवश महाभारत का खिलपर्व है, यह निर्विवाद है।

पुराणों से समानता

हरिवंश के वर्तमान रूप के अनुशीलन करने पर इसे केवल खिल ही नही कहा

१. ध्वन्यालोक पृ० ४२५ – ४२६ – 'सत्यं शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यम्'। ····अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाप्तिं विदधता कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक् स्फुटीकृतः।

2. T. Chaudhary : His. San Lit. p. 150.

3. R. C. Hazra Pur. Rec. p. 3—at the close of the Vangvāsī edition of the Mbh., the commentator Nīlkantha says that this chap., which begins with the verse—'भगवन् केन-विधिना', and in which the merits of listening to the Mbh. and the gifts to be made to the reader of its Parvans have been described, was transferred from the Harivanśa to the Mbh. for the encouragement of the audience of the latter—

भगवन्नित्यादिः फलाध्यायो व्यासेन हरिवंशान्ते उक्तः। अत्र श्रोतृप्ररोचनार्थमुक्त इति ज्ञेयम्।

जा सकता। हरिवंश में पुराण-पंचलक्षण पूर्णता के साथ मिलते हैं। पंचलक्षण के सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित हरिवंश के सृष्टि सम्बन्धी वृत्तान्तों, राजवंशवर्णनों तथा विविध आख्यान और उपाख्यानों में मिलते हैं। अतः पुराण-पंचलक्षण का अनुसरण करने के कारण पुराण की समस्त सामग्री हरिवंश में विद्यमान है।

पुराण-पंचलक्षणों का पालन करने के कारण हरिवंश के अनेक स्थल अन्य पुराणों के इसी प्रकार के स्थलों से समानता रखते हैं। पौराणिक सामग्री की प्रधानता को देखते हुए हरिवंश का विकास एक पुराण के रूप में हुआ ज्ञात होता है। विंटरनित्स ने हरिवंश के पुराण होने का प्रमाण ब्रह्म, पद्म, विष्णु, भागवत और वायु के उन विशेष प्रसंगों के आधार पर दिया है, जो हरिवंश के इन्हीं खण्डों से समानता रखते हैं[1]।

स्वतन्त्र वैष्णव पुराण के रूप में हरिवंश से अनेक विद्वान् परिचित हैं। फरक्युहर ने अपने ग्रन्थ में हरिवंश की गणना महापुराणों में की है। उनके अनुसार पुराण पंचलक्षण के पालन तथा मौलिक पुराण होने के कारण हरिवंश बीसवाँ महापुराण माना जाना चाहिए[2]। फरक्युहर का यह कथन अवश्य महत्त्व रखता है।

उत्तरकालीन अनेक ग्रन्थों में हरिवंश को प्रामाणिक वैष्णव ग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। अग्नि० में प्राचीन मान्य ग्रन्थों की सूची के अन्तर्गत

1 Wint His Ind Lit. Vol 1 p 454—The fact that the Hariv is absolutely and entirely a Purāna is also shown by the numerous, often literally identical, coincidences with passages in several of the most important Purānas (Brahma, Padma, Viṣnu, Bhāgavata and especially the Vāyu P)

2 Farquhar Rel Lit of Ind p 136—But the actual number of existing works recognised as *Purāna* is 20, for the Harivanśa, which forms the conclusion of the Mbh is one of the earliest and greatest of the Puranas and must be reckoned as such

रामायण, महाभारत तथा पुराणो के साथ हरिवंश का नामोल्लेख है।[1] गरुड० में महाभारत तथा हरिवंश का सक्षिप्त कथासार मिलता है।[2] ज्ञात होता है गरुड० के काल तक महाभारत की भाँति हरिवंश का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित हो चुका था, वह महाभारत के केवल खिल रूप में नही रह गया था।

रामायण और महाभारत से भिन्न रूप में हरिवंश के उल्लेख से अग्नि० के काल तक स्वतन्त्र वैष्णव पुराण के रूप में हरिवंश की प्रसिद्धि का पता चलता है। ज्ञात होता है, उत्तर काल में हरिवंश वैष्णव पुराण के रूप में स्वीकार कर लिया गया था।

महाभारत विषयक अनेक प्रमाण दो निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। पहले निष्कर्ष के अनुसार हरिवंश महाभारत का अन्तरग भाग है। द्वितीय निष्कर्ष के परिणाम-स्वरूप खिल हरिवश एक सम्पूर्ण वैष्णव पुराण के रूप में दिखलाई देता है। हरिवश में पुराण-पंचलक्षणो के साथ पुराणो में समानता रखनेवाली कुछ स्मृति सामग्री भी मिलती है। इसी कारण खिलपर्व होने पर भी हरिवश का विकास एक स्वतन्त्र पुराण के रूप में हुआ है।

१ अग्नि० ३८३. ५२ – ५३ – सर्वे मत्स्यावताराद्या गीता रामायणं त्विह।
हरिवंशो भारतं च नवसर्गाः प्रदर्शिताः।
आगमो वैष्णवो गीतः पूजा दीक्षा प्रतिष्ठया॥

२. गरुड० पर्व १४४ Wint. His. Ind. Lit. Vol. 1 p. 454—(footnote) The Garuda P. Communicates the contents of the Mbh. and of the Hariv. in extract.

दूसरा अध्याय

कृष्णचरित्र

भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार कृष्ण का व्यक्तित्व

भारतीय साहित्य में कृष्ण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण के चरित्र का विस्तार-क्षेत्र व्यापक है। उपनिषद् से लेकर पुराणों तक इस विस्तृत क्षेत्र में कृष्ण का व्यक्तित्व विकसित हुआ है। पुराणों में कृष्णचरित्र निश्चित रूप धारण करता है। कृष्ण के इस प्राचीन व्यक्तित्व से वैष्णवभक्ति का निकट सम्बन्ध है। अत. कृष्णचरित्र कृष्ण के स्वरूप के विकास की दृष्टि से ही नही, किन्तु वैष्णवभक्ति के विकास की दृष्टि से भी एक उपयोगी विषय है।

कृष्णचरित्र एक प्राचीन वृत्तान्त है। अनेक ग्रन्थ कृष्ण के चरित्र से किसी न किसी प्रकार परिचय की सूचना देते हैं। महाभारत कृष्णचरित्र से परिचित ही नही है, वरन् उसे एक महत्वपूर्ण विषय-सामग्री के रूप में प्रस्तुत करता है। इस विशाल ग्रन्थ के अन्तर्गत कृष्ण के व्यक्तित्व के विविध रूप देखे जा सकते हैं। महाभारत के प्रारम्भ में ही कृष्ण को युधिष्ठिररूपी धर्मवृक्ष का मूल कहकर कौरवों और पाण्डवों के वृत्तान्त में उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया गया है[१]। वनपर्व में मार्कण्डेय प्रलयकाल में जगत् को आत्मसात् करके वटवृक्ष के पत्र में शयन करनेवाले विष्णु को कृष्णरूप बतलाते हैं[२]। शान्तिपर्व का नारायणीय भाग कृष्ण के परब्रह्म स्वरूप पर सबसे अधिक प्रकाश डालता है[३]। इसमें नर, नारायण, कृष्ण और हरि को

१. महा० १. १. १०१ – युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः,
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे,
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥

२. महा० ३. १९१ – यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः॥

३. महा० १२. ३२१ – ३३९।

सनातन नारायण के चार अवतार कहा गया है[1]। शान्तिपर्व में भीष्मस्तवराज के अन्तर्गत कृष्ण के विष्णुस्वरूप की स्तुति की गयी है[2]। सभापर्व में राजसूय यज्ञ के अवसर पर कृष्ण की अग्रपूजा में शिशुपाल आदि राजाओ के विरोध करने पर भी भीष्म कृष्ण के विष्णुस्वरूप पर प्रकाश डालते हैं[3]। शान्तिपर्व के अन्त में भीष्म देहत्याग से पूर्व पाण्डवो को विष्णुरूप कृष्ण में आस्था रखने का आदेश देते हैं[4]।

महाभारत के कुछ स्थल कृष्ण के देवत्वभिन्न मानवरूप को प्रस्तुत करते हैं। पाण्डवो के सलाहकार के रूप में कृष्ण पूर्ण मानव हैं। सभापर्व में कृष्ण के ईश्वरत्व पर विश्वास न करनेवाले ब्राह्मण उनकी सीमित शक्ति की ओर सकेत करते है, जिसके कारण वे स्वय को क्षत्रिय से ब्राह्मण तक नही बना सकते[5]। आश्वमेधिक पर्व के अनुगीता भाग में उत्तक ऋषि का कृष्ण को शाप देने के लिए उद्यत होना कृष्ण के मानव-चरित्र की ओर सकेत करता है[6]।

सभापर्व में कृष्ण के गोपालरूप पर प्रकाश डालनेवाले वृत्तान्त को विद्वानो ने बाद में जोडा गया माना है[7]। इस स्थल के अतिरिक्त वनपर्व तथा शान्तिपर्व में कृष्ण के गोपालस्वरूप का निर्देश है।[8] वनपर्व तथा शान्तिपर्व महाभारत के अन्य पर्वो से अर्वाचीन हैं। शान्तिपर्व के अर्वाचीन माने जाने के कारण इसमें वर्णित गोपालकृष्ण तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्व नही रखते।

(१) बौद्ध जातको में घटजातक कृष्ण के चरित्र को पुराणो की परम्परा से कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत करता है। इस जातक में कृष्ण के माता-पिता का नाम देवगब्भा तथा उपसागर है। नन्द और यशोदा के स्थान पर अन्धकवेण्णु तथा नन्दगोपा का उल्लेख है।

१. महा० १२. ३२१.८ – १०। २. महा० १२. ४२ – ७५।
३. महा० २. ३३. ७ – ३०।
४. महा० १२. ४७. १०– ६१। (सुकथङ्कर सस्करण)
५. महा० २. ४२. ६११ – यद्ययं जगत. कर्ता यथैनम्मूर्ख मन्यसे।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति॥
६. महा० १४. ५६. १०–२७। ७. महा० २.२२. ४–३९, ३६–४४।
८. महा० २. १२. ४३–४४ – नैवं परे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि या।
यानि कर्माणि देव त्व बाल एव महाबलः॥
कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान्॥
महा० १२. १९४ ६६–६७।

इन्होंने वासुदेव तथा बलदेव के अतिरिक्त उनके आठ भाइयों का भी पालन किया। वासुदेव के द्वारा कंसवध का प्रसंग कोई विशेषता नहीं रखता। द्वारवती पर वासुदेव के अधिकार करने का प्रसंग बड़े विचित्र रूप से वर्णित है। एक गर्दभरूपधारी असुर की सलाह से वासुदेव द्वारका नगरी को हस्तगत करते हैं।[1]

आर डे विड्स[2] जातकों को महाभारत तथा रामायण से पूर्ववर्ती मानते हैं। किन्तु घटजातक को विद्वानों ने जातकों में अर्वाचीन माना है[3]। इसका कारण है कि यह जातक कृष्णकथा के विकसित रूप की ओर संकेत करता है।

पतंजलि का महाभाष्य कृष्ण के व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इसमें वासुदेव को कंस का निहन्ता कहा गया है।[4] कंस की घटना को प्रस्तुत करने के कारण 'वासुदेव' कृष्ण का नाम ज्ञात होता है। अतः महाभाष्य के पूर्व गोपाल-कृष्ण के कथानक की स्थिति मानी जा सकती है।

कृष्णचरित्र की प्राचीनता के प्रमाणस्वरूप एक वृत्तान्त है। ३०४ शताब्दी में जेनाब (Zenob) नामक किसी इतिहासकार ने लिखा है कि ईसा से पूर्व १४९–१२० में भाग कर आर्मीनिया में बसनेवाले कुछ भारतीयों ने आर्मीनिया में गिषने (कृष्ण ?) का मन्दिर बनवाया था[5]। इस आधार पर ज्ञात होता है कि ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी में कृष्ण-पूजा व्यापक हो चुकी थी।

कृष्णचरित्र की प्राचीनता का प्रमाण विदेशी इतिहासकार मेगास्थनीज़ तथा एरियन के कथनों से मिलता है।[6] कृष्ण को 'Herakles' नाम देकर एरियन

1 Cowell The Jataka p 50-57
2 Buddhist Ind p 206
3 Bhandarkar Vaisnavism Saivism p 38.
४. महाभाष्य—"जघान कंस किल वासुदेव"। "व्यामिश्रा दृश्यन्ते। केचित् कंस-भक्ता भवन्ति, केचिद् वासुदेवभक्ताः"।
Ray Ch His of the Vais Sect p 37, 49
5 Ray Chaudhary Early His of the Vais Sect p 23
6 J W M'crindle Ind Ant Vol 5 (1876) p 89—" That this Herakles is held in special honour by the Saurasenoi & Indian tribes possessing two large cities, Methora and Cleisobora, while a navigable river, called Jobares flows through their country"

ने उन्हें Methora और Cleisobora नामक स्थानों के नागरिकों के आदर का पात्र बतलाया है।

एरियन के द्वारा निर्दिष्ट इन दो नगरों का तादात्म्य लाजन, हॉपकिन्स तथा मैकिंडल ने मथुरा और कृष्णपुर से सिद्ध किया है।[1] Jobares के द्वारा एरियन का प्रयोजन यमुना से है। Saurasenoi से डॉ० भण्डारकर ने सात्वत नामक प्रसिद्ध जाति का अनुमान लगाया है।[2] अतः एरियन का यह कथन मथुरावासी कृष्ण, यमुना, शूरसेन अथवा सात्वत आदि से सम्बद्ध प्राचीन घटना को सूचित करता है।

मेगास्थनीज तथा एरियन को रे चौधरी ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी का निश्चित करते हैं। मथुरा, यमुना और कृष्ण से इन इतिहासकारों का परिचय ईसवी पूर्व चतुर्थ शताब्दी से बहुत पहले भारत में गोपालकृष्ण के गौरवयुक्त अस्तित्व का परिचय देता है।

वासुदेव का उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है। अष्टाध्यायी के सूत्र ४ ३ ९५[3] तथा ४ ३ ९८[4] से पाणिनि के काल में कृष्ण पूजा के सर्वमान्य रूप का ज्ञान होता है।

ईसवी पूर्व सातवीं शताब्दी से चौथी शताब्दी तक के सुदीर्घ काल के अंतर्गत पाणिनि के काल को निश्चित किया जाता है। डॉ० भण्डारकर पाणिनि का काल ईसा से पूर्व सातवीं शताब्दी मानते हैं[5]। हॉपकिन्स पाणिनि को ईसा से पूर्व तृतीय शताब्दी से पहले स्वीकार नहीं करते[6]। गोल्डस्टूकर पाणिनि को अन्तिम सूना के काल का बतलाते हैं[7]। रे चौधरी ने पाणिनि के समय को ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी में निश्चित किया है[8]। यदि पाणिनि ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी में थे, तो वासुदेव और वासुदेवपूजा इससे बहुत पूर्व निश्चित रूप पा चुकी होगी।

द्वारका में रहनेवाली वृष्णि जाति के अधिपति के रूप में वासुदेव का उल्लेख गीता में है।[9] डॉ० भण्डारकर गीता का काल ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में मानते

1 Ray Ch His Vaish Sect p 38
2 Ray Ch His Vais Sect p 38
३. भक्ति।
४ वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्।
5 EHD p 8
6 GEI p 391
7. Pānini p 108
8 His Vais Sect p 28-30
९ गीता १०. ३७ – 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः'।

हैं। द्वारका में निवास करनेवाली वृष्णि तथा अन्धक जातियों का उल्लेख अष्टाध्यायी में भी है।[1] अतः निश्चित है कि ये जातियाँ अत्यन्त प्राचीन थी और पाणिनि के काल में भी प्रख्यात हो गयी थी।

छान्दोग्योपनिषद् में देवकी-पुत्र कृष्ण को गुरु घोर-आंगिरस से ब्रह्म-विद्या सीखते हुए वर्णित किया गया है।[2] छान्दोग्य की प्राचीनता सर्वमान्य है। हॉपकिन्स इस उपनिषद् को बौद्ध काल के पूर्व का प्रमाणित करते हैं[3]। श्री मैंकडानल[4] और श्री मित्र[5] भी इसी प्रकार का समर्थन करते हैं।

छान्दोग्य के घोर-आंगिरस का उल्लेख कौषीतकि ब्राह्मण[6] तथा काठक संहिता[7] में है। जैनमत के अनुसार कृष्ण बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समकालीन थे[8]। जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का काल ईसवी पूर्व ८१७ माना जाता है।[9] अत. ईसा से पूर्व नवी शताब्दी में भी कृष्ण की स्थिति की सम्भावना की जा सकती है।

विद्वान् लोग कृष्ण के स्वरूप की प्राचीनता और व्यापकता में सन्देह प्रकट करते हैं[10]। विंटरनित्स पाण्डवो के सलाहकार कृष्ण, पौराणिक कृष्ण, गीता के उपदेशक कृष्ण तथा गोपाल कृष्ण को विभिन्न व्यक्ति मानते हैं[11]। भारतीय विचारधारा पाश्चात्य विद्वानों के इस सन्देह को महत्त्व नही देती। इस विचारधारा के

१. ४. १. ११४ — अन्ध्यन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च।

२. छान्दोग्य ३. १७. ६–७ तद्देतद्घोर-आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच 'अपिपास एव स बभूव' सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत्, अक्षितमसि, अच्युतमसि प्राणसंशितमसीति।

3. GEI p. 385.   4. His San. Lit. p. 226.

5. Introduction to Chhāndogya Upaniṣad p. 23-24.

६. कौषीतकि. ३०. ६।   ७. काठक० १. १।

8. Jacobi : Jain Sūtras Pt. I p. 271-279;
 " " " Pt. II p. 112-19.

9. Mrs. Stevenson : *Heart of Jainism* p. 48.

10. Jacobi : ERE. Vol. VII p. 195;
 Keith : JRAs 1915. p. 548.

11. His. Ind. Lit. Vol. I p. 456-457.

अनुसार कृष्ण के अनेक स्वरूपो का समावेश एक कृष्ण में हुआ है। प्रारम्भिक पुराणो में कृष्ण का अंशावतार उत्तरकालीन पुराणो में सोलह कलाओ से युक्त पूर्णावतार हो गया है। कृष्णचरित्र के विभिन्न स्वरूपो का समन्वय ही उत्तरकाल में उनके पूर्णावताररूप को जन्म देता है। उपनिषद, महाभारत, गीता तथा हरिवंश में कृष्ण का विकासशील व्यक्तित्व विष्णु० तथा भागवत में परिपूर्णतम हो गया है।[1]

कृष्ण के विशाल चरित्र में अनेक वृत्तान्तो तथा उपवृत्तान्तो का समन्वय हुआ है। इन वृत्तान्तो में कृष्ण का दो प्रकार का व्यक्तित्व प्रमुख है। हरिवंश तथा पुराणो में प्रारम्भ में गोपालकृष्ण का स्वरूप दिखलाई देता है। दार्शनिक तथा सलाहकार कृष्ण का व्यक्तित्व इसी व्यक्तित्व के साथ समन्वित हो गया है। कृष्ण के दूसरे प्रकार के व्यक्तित्व के दर्शन प्राचीन ग्रन्थो में होते हैं। महाभारत, महाभाष्य, गीता, मेगास्थनीज तथा एरियन के कथन, छान्दोग्योपनिषद् तथा अष्टाध्यायी कृष्ण के द्वितीय स्वरूप पर प्रकाश डालते है।

डॉ० भण्डारकर[2] का मत बालकृष्ण की भक्ति को विदेशी सूचित करता है। सवप्रथम पश्चिम की भ्रमणशील आभीर जातियाँ इस सस्कृति को अपने साथ उत्तरपश्चिमी भारत में लायी। डा० भण्डारकर के अनुसार यह आभीर जाति ही अपने साथ 'क्राइस्ट' देवता को लायी, जिसको भारतीयो ने अपनी भाषा की प्रवृत्ति के अनुसार 'कृष्ण' बना लिया।

केनेडी[3] भण्डारकर के मत का समर्थन करते हैं। भण्डारकर के अनुसार कृष्ण की सस्कृति गुर्जरो के द्वारा पाँचवी शताब्दी में उत्तरपश्चिमी भारत में लायी गयी। वेबर ने बौद्ध और जैन ग्रन्थों में कृष्ण के मानव चरित्र के प्राधान्य की सूचना दी है।[4]

डा० भण्डारकर, केनेडी तथा वेबर का मत समीचीन नही प्रतीत होता। बालकृष्ण की भक्ति भारत के लिए विदेशी वस्तु नही है। रे चौधरी सुदूर वेदो के अन्तर्गत

१. विष्णु० ५. ३. १२; २०. ९६–१०५;
भाग० १०. ३. १३–२२, २४–३१;
" " १४. १–४०।
2. Vaisnavism, Saivism p. 37-38.
3. JRAS. 1907 p. 976.
4. Weber : IA. Vol. XXX (1901) p. 280

विष्णु के नटखट स्वरूप में बालकृष्ण के बीज की उपस्थिति बतलाते हैं[1]। ऋग्वेद[2] में विष्णु को सम्बोधित की गयी ऋक् उन्हें 'कुचर' और 'गिरिष्ठा' कहती है। यही से कृष्ण की बाललीलाओं का आभास मिलता है। ऋग्वेद[3] के अन्य स्थल में 'गोपा' नाम से विष्णु का सम्बोधन गोपों से उनके निकट सम्बन्ध को सूचित करता है। मैकडॉनल और कीथ ने भी 'गोपा' से 'गौओं के रक्षक' (Protector of cows) अर्थ लिया है।[4] हॉपकिन्स ने इसका अर्थ 'गोप' (herdsmen) लिया है।[5] इन विद्वानों के द्वारा गोपा शब्द की व्युत्पत्ति गो, गोप और कृष्ण के सम्बन्ध को पुष्ट करती है।

ऋग्वेद[6] में विष्णु के उस उच्च-लोक की कल्पना की गयी है जो अन्य लोकों से उच्चतर है। इस लोक में गायों का वास है। अनेक सींगोंवाली गायों से युक्त इस स्थान को विष्णु का परम-पद कहा गया है। वैष्णव पुराणों के गोलोक, वृन्दावन और गोकुल की मूल उद्भावना का आभास भी इस ऋक् में पाया जा सकता है।

उत्तरवैदिक साहित्य में कृष्ण के गोपजीवन के सूचक कुछ प्रमाण मिलते हैं। बोधायन धर्मसूत्र में विष्णु को कृष्ण और वासुदेव न कहकर 'गोविन्द' और 'दामोदर' कहा गया है[7]। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भलेख में 'विष्णुगोप' शब्द का उल्लेख है[8]। यह शब्द गोपालकृष्ण और विष्णु के सम्बन्ध को पुनः प्रमाणित करता है। अतः गोपाल-कृष्ण की संस्कृति को विदेशी बतलानेवाले डॉ० भण्डारकर, केनेडी तथा वेबर के कथन अनुचित हैं।

रे चौधरी की नवीनतम गवेषणा के अनुसार कृष्ण के विशाल व्यक्तित्व में

1. Ray Ch. : His. Vais. Sect. p. 46-48.
२. ऋग्० १. ५४. २ प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥
३. ऋग्० १. २२. १८ — त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
4. Vedic Index. Vol 1 p. 238
5. Hopkins : Religions of Ind. p 57.
६. ऋग्० १. १५४. ६—ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥
7. Ray Ch : His. Vais. Sect. p. 47.
8. ,, ,, ,, ,, p 47.

गोपालकृष्ण तथा राजनीतिक और योगीश्वर कृष्ण का अद्भुत समन्वय हुआ है। छान्दोग्य में वर्णित घोर-आगिरस के शिष्य कृष्ण तथा गीता के कृष्ण की एकता को रे चौधरी ने सप्रमाण सिद्ध किया है। छान्दोग्य के कृष्ण और उनके गुरु आगिरस सूर्य के पूजक तथा ज्योति को महत्त्व देनेवाले हैं। रे चौधरी ने गीता में इन्ही विचारो का समर्थन करनेवाले प्रमाणो के उद्धरण दिये है[1]। छान्दोग्य० तथा गीता के कृष्ण की एकता के सिद्ध हो जाने पर गोपालकृष्ण तथा छान्दोग्य और गीता के दार्शनिक कृष्ण के सम्बन्ध का प्रश्न उठता है। गोपालकृष्ण की प्राचीनता को प्रमाणित करनेवाले स्थल ऋग्वेद तथा वैदिक साहित्य में मिलते हैं[2]। किन्तु गोपालकृष्ण तथा दार्शनिक कृष्ण में सम्बन्ध को स्थापित करनेवाली कोई भी शृखला नही है। छान्दोग्य० की भाँति गीता में भी गोपालकृष्ण के विषय में कोई सकेत नही मिलता। कृष्ण के दोनो स्वरूपो की प्राचीनता के सिद्ध हो जाने पर ज्ञात होता है कि हरिवश तथा महाभारत के पूर्ववर्ती साहित्य में कृष्ण के केवल एकागी व्यक्तित्व को अपनाने की प्रवृत्ति पायी जाती थी। गोपालकृष्ण तथा दार्शनिक कृष्ण के स्वरूपो का समन्वय केवल हरिवश तथा पुराणों में हुआ है। पुराणो में कृष्ण के पूर्णतम व्यक्तित्व के प्रदर्शन के उपरान्त कृष्ण का यही स्वरूप सर्वसम्मत हो गया ज्ञात होता है।

हरिवंश तथा अन्य पुराणो के कृष्णचरित्र की तुलना

वैष्णव पुराणो में कृष्णचरित्र के तुलनात्मक अध्ययन के लिए कृष्ण के जन्म से लेकर पृथ्वी-परित्याग तक के वृत्तान्त के अनुशीलन की आवश्यकता होती है। अतः हरिवश और अन्य पुराणो के कृष्णचरित्र की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

हरिवंश

प्रायः सभी पुराणो में कृष्ण-चरित्र का प्रारम्भ विष्णु की स्तुति तथा कृष्ण के वैष्णव स्वरूप पर प्रकाश डालने के उपरान्त होता है। हरिवंश में भार से पीडित वसुन्धरा के दु.ख को दूर करने के लिए ब्रह्मा नारायणाश्रम में प्रवेश करते हैं[3]। ब्रह्मा की स्तुति के द्वारा योगनिद्रा का परित्याग कर के विष्णु पृथ्वी की करुण-कथा सुनते हैं[4]। ब्रह्मा विष्णु को वसुदेव के घर में अवतरित होने की सलाह देते हैं[5]।

1. Ray Ch. : His. Vais Sect. P. 58-59. 2. Same, P. 46-48.
३. हरि० १. ५१. १ – ३३। ४. हरि० १. ५२. १४–५०।
५. हरि० १. ५५. १८–४८।

हरिवश २. १२ में कालियदमन का वृत्तान्त है, किन्तु नागपत्नियो के द्वारा कृष्ण की स्तुति का उल्लेख नही है।

हरि० २.२०–२१ में रासलीला का सक्षिप्त वर्णन है। शारदी ज्योत्सना को देखकर कृष्ण गोपिकाओ के साथ विविध क्रीडाएँ करते हैं।

हरि० २ २६ में अक्रूर के द्वारा जल के अन्तर्गत कृष्ण और अनन्त के ध्यान का उल्लेख है, उनकी स्तुति का नही।

हरि० २ २७–३० में कसधनुर्भंग, कुवलयापीडमारण, चाणूर तथा मुष्टिकवध के प्रसग में कस के विशाल प्रेक्षागार का वर्णन है। अन्य पुराणो में मथुरा के इस प्रेक्षागार का उल्लेख नही है। कृष्ण के द्वारा कस के वध करने पर वसुदेव और देवकी की स्तुति का पुन अभाव है[1]।

हरि० २ . ४६ में बलराम के गोकुलगमन का वर्णन है। बलराम के लिए गोपाल बालक वारुणी तथा विविध वस्त्राभूषण लाते हैं।

हरि० २ . ४७–६० में रुक्मिणीहरण का वृत्तान्त है। इस वृत्तान्त के साथ जरासन्ध, सुनीथ, शाल्व तथा दन्तवक्त्र आदि की मन्त्रणा, रुक्मिणी-स्वयवर में विघ्न, शाल्व का कालयवन के पास कृष्ण के विरुद्ध लडने के लिए गमन, कृष्ण का द्वारवती-प्रयाण तथा कालयवन का वध आदि घटनाओ का वर्णन है।

हरि० २ . ५७ में कालयवन का वृत्तान्त है। गार्ग्य मुनि के नियोग के द्वारा गोपाली का वेष धारण करनेवाली अप्सरा से कालयवन की उत्पत्ति होती है। कृष्ण को कालयवन के पास एक काला सर्प भेजते हुए चित्रित किया गया है। कालयवन को कृष्णसर्प से युक्त घट में चीटियाँ डालकर कृष्ण के पास वापस भेजते हुए कहा गया है। अनेको चीटियो द्वारा खाये गये उस भीषण सर्प को देखकर कृष्ण भय से मथुरा का परित्याग कर द्वारका में राज्य स्थापित कर लेते हैं।

१. हरि० २. ३०. ८९–९०–

तं हत्वा पुण्डरीकाक्ष· प्रहृष्टद्विगुणप्रभ· ।
ववन्दे वसुदेवस्य पादौ निहतकण्टकः ॥
मातुश्च शिरसा पादौ निपीड्य यदुनन्दनः ।
सार्प्रसिचत्प्रस्नवोत्पीडैः कृष्णमानन्दनि सृतं ॥

पारिजातहरण का वृत्तान्त हरि० २ ६४–७५ में विस्तृत रूप में मिलता है। अध्याय ६४ के पारिजातहरण के कथानक की आवृत्ति ६५–७५ अध्यायो में हुई है।

हरि० २ ८८–८९ में छालिक्य क्रीडा का वर्णन है। कृष्ण अपनी समस्त रानियो तथा बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और यादवो को लेकर समुद्र के तट में विविध क्रीडाएँ करते है।

हरि० २ ९१–९७ में वज्रनाभ का वृत्तान्त है। प्रद्युम्न अपनी नाट्यकला से व्रजपुरवासियो को मुग्ध करके प्रभावती नामक वज्रनाभ की कन्या से विवाह करते हैं।

हरि० २ १०४–१०८ में प्रद्युम्नहरण का वृत्तान्त चार अध्यायो में विस्तृत रूप से वर्णित है। शम्बर प्रद्युम्न का हरण करके उन्हें मायावती को दे देता है। बालक का पोषण करके उसमें आसक्त मायावती उसे अपने पुत्र न होने के प्रमाण देती है। स्वय को शम्बर के द्वारा हरण किया हुआ जानकर प्रद्युम्न वैष्णवास्त्र के द्वारा शम्बर का वध कर देते है।

हरि० २ . ११६–१२८ में बाणासुर का आख्यान है। पार्वती के वरदान के अनुसार स्वप्न में उषा का मिलन अनिरुद्ध से होता है तथा अनिरुद्ध को स्वप्न में उषा के दर्शन होते हैं। चित्रलेखा की सहायता से उषा का सयोग अनिरुद्ध से होता है।

हरि० ३ ७४–१०१ में पौण्ड्रक का वृत्तान्त है। कृष्ण के बदरिकाश्रम जाने पर पौण्ड्रक द्वारका पर आक्रमण करता है (हरि० ३ ९३ ६–२५)। तप करके बदरिकाश्रम से लौटने पर कृष्ण पौण्ड्रक का वध कर देते है। (हरि० ३ १००–१०१)। हरि० ३ ७६–९० में कृष्ण के कैलासगमन, बदरिकाश्रम में उनकी तपस्या, उनको शिव आदि देवताओ के दर्शन तथा कृष्ण और शिव की परस्पर स्तुति का प्रसग है।

हरि० २ १०२ ३१–३५ में कृष्ण के स्वर्गगमन तथा द्वारका नगरी के समुद्र में निमज्जन का अत्यन्त सक्षिप्त वर्णन है। द्वारका के समुद्र में डूबने का उल्लेख केवल दो श्लोको के द्वारा हुआ है।

ब्रह्म पुराण

ब्रह्म० १८० में कृष्णावतार के पूर्व व्यास के द्वारा विष्णुस्तुति में चतुर्व्यूहात्मक, निर्गुण, शाश्वत और पुराण विष्णु की स्तुति है।

ब्रह्म० १८१ में पृथ्वी की करुण पुकार सुनकर विष्णु अपने सिर से एक काला तथा एक सफेद बाल निकालकर डाल देते हैं। यह दोनों केश पृथ्वी में राम और कृष्ण के रूप में अवतरित होते हैं।

ब्रह्म० १८२ . ७–८ में कृष्ण के जन्म के पूर्व देवताओं के द्वारा देवकी की स्तुति या वर्णन है। १८२ . १४–१८ में वसुदेव तथा देवकी नवजात कृष्ण की स्तुति करते हैं।

ब्रह्म० १८४ . ४२–५२ में गोकुल को छोडकर वृन्दावन में जाने का कारण गोकुल में होनेवाला शकट भग, पूतनावध तथा यमलार्जुन का पतन आदि बतलाया गया है। गोकुल से ग्वालों के निवास को हटाने का प्रस्ताव कृष्ण नही, वरन् नन्दगोपाल तथा गोकुल के वृद्धजन रखते हैं।

ब्रह्म० १८५ में कालियदमन के प्रसग में नागपत्नियो के द्वारा कृष्ण की स्तुति का वर्णन है।

ब्रह्म० १८९ में गोपिकाओं के साथ कृष्ण की रासक्रीडा का वर्णन है। इसमें कृष्ण को न पाने पर यमुनातट में उनके गुणो के गीत गानेवाली गोपिकाओं का उल्लेख है। १९२ में गोपिकाएँ कृष्ण के मथुरागमन के अवसर पर विलाप करती हुई चित्रित की गयी हैं। इसी अध्याय के ४८–५८ श्लोकों में जल के भीतर अक्रूर के द्वारा चतुर्व्यूहात्मक वासुदेव की स्तुति का उल्लेख है।

ब्रह्म० १९३. ८०–९० में कृष्ण के द्वारा कसवध के बाद वासुदेव की स्तुति का वर्णन है। १९५ . १–२, १०–११ में जरासन्ध का प्रसग हरिवश २–३४ . ५–६ से समानता रखता है।

बलराम के गोकुलगमन का वृत्तान्त ब्रह्म० १९८ . ६–७ में है। वरुण की स्त्री वारुणी वरुण के आदेश से कदम्ब वृक्ष की शाखा में निवास करती है। बलराम वारुणी का पान करते हैं। लक्ष्मी बलराम के लिए अवतसोत्पल, कुण्डल, वरुण द्वारा प्रेषित माला तथा नीलवस्त्र लाती हैं। (ब्रह्म० १९८ . १५–१६)

ब्रह्म० १९९ में रुक्मिणी का विवाह राक्षस-विवाह के नाम से वर्णित है।

ब्रह्म० १९६ . ४ में कालयवन का उल्लेख है। कालयवन को गार्ग्य मुनि के नियोग के द्वारा यवन की स्त्री से उत्पन्न बतलाया गया है। काले सर्प और प्रत्युत्तर में चीटियाँ भेजनेवाले हरिवश के रहस्यमय वृत्तान्त का उल्लेख यहाँ पर नही है।

ब्रह्म० २०३ में पारिजातहरण की घटना है। कृष्ण प्रागुज्योतिपपुर से अदिति

के कुण्डलों को लेकर स्वर्ग गये। वहाँ पर पारिजात वृक्ष के लिए इन्द्र और कृष्ण का युद्ध हुआ। विजयी होकर कृष्ण पारिजात वृक्ष ले आये।

ब्रह्म० २०० में प्रद्युम्न हरण के वृत्तान्त के अन्तर्गत प्रद्युम्न को जल में फेंकने का उल्लेख है। मछली के उदर से निकले हुए प्रद्युम्न को मायावती पालती है। नारद मायावती को प्रद्युम्न के तथा उसके स्वरूप से परिचित कराते हैं।

ब्रह्म० २०९ में बलराम को द्विविद नामक वानर का हन्ता कहा गया है।

ब्रह्म० २१०–२१२ में कृष्ण के स्वर्गगमन का वृत्तान्त हरिवंश से अधिक विशद रूप में मिलता है।

विष्णु पुराण

विष्णु० ५ . १ में कृष्णावतार के पूर्व का वृत्तान्त ब्रह्म० १८१ में समानता रखता है। ५.२ तथा ३ में देवताओं के द्वारा देवकी की स्तुति का वर्णन है। ५.५ में पूतना को राक्षस-स्त्री के वेश में प्रस्तुत किया गया है। विष्णु का यह प्रसग ब्रह्म० से समानता रखता है। ५.१३ में रासलीला का वर्णन है। ब्रह्म० से समानता रखने पर भी इस रासलीला के अन्तर्गत एक विशिष्ट गोपी में राधा के व्यक्तित्व का प्रारम्भिक रूप मिलता है।

कसवध का प्रसग विष्णु० ५.२० में ब्रह्म० से समानता रखता है। कालयवन के प्रसग में विष्णु ५ २३ में मुचुकुन्द के द्वारा कृष्ण की स्तुति का वर्णन है। ५.२२ में जरासन्ध के द्वारा कृष्ण पर आठ बार आक्रमण करने का उल्लेख है।

विष्णु० ५.२५ में उल्लिखित वारुणी और बलराम का वृत्तान्त ब्रह्म० १९८ का अनुसरण करता है। यहाँ पर वारुणी को वरुण की स्त्री कहा गया है। ५ २७ में शम्बर के द्वारा प्रद्युम्नहरण का वृत्तान्त ब्रह्म० २०० से पर्याप्त समानता रखता है। विष्णु० के वृत्तान्त की विशेषता यह है कि इसमें प्रद्युम्न को शम्बर पर आठ बार आक्रमण करते हुए बतलाया गया है।

नरकवध का प्रसग विष्णु० में तीन अध्यायों में वर्णित है (४ २९ ३१) यह प्रसग ब्रह्म० २०२–२०३ से समानता रखता है। विष्णु० ५ ३३ में बाणासुर का आख्यान ब्रह्म० २०५–२०६ से समानता रखता है।

पौण्ड्रक-युद्ध का वृत्तान्त विष्णु० ५ ३४ में ब्रह्म २०७ के आधार पर दिखलाई देता है। ब्रह्म० २०९ की भाँति विष्णु० ५ ३६ में बलराम को द्विविद का हन्ता कहा गया है। विष्णु० ५ ३७ में द्वारका नगरी के जलमग्न होने तथा कृष्ण के मानवदेह-त्याग का वृत्तान्त ब्रह्म० २१०–२१२ से समानता रखता है।

देवी भागवत

देवी भाग० ४.१९ में विष्णु स्वयं को देवी के अधीन बनाकर पृथ्वी की रक्षा के लिए उनकी स्तुति करते हैं।

देवी भाग० ४.३ में कश्यप और अदिति का वसुदेव और देवकी के रूप में अवतार का कारण दिति और वरुण का सम्मिलित शाप कहा गया है। वरुण के शाप का वृत्तान्त हरिवंश १.५५. २१–३६ में इसी रूप में मिलता है। देवी० ४.२–३ में अदिति और सुरसा को देवकी और रोहिणी के रूप में अवतरित होते हुए बतलाया गया है।

देवी भाग० ४.२१ में प्रथम पुत्र के जन्म होने पर देवकी के द्वारा उस बालक को कंस को न देने के लिए प्रार्थना करने का उल्लेख है। बालक के कर्मों की गति पर विश्वास करते हुए वसुदेव वह बालक कंस को देते हैं। करुणावश कंस उस बालक को नही मारता। नारद की प्रेरणा से कंस उस बालक का वध कर देता है।

देवी भाग० ४.२३ में बडे संक्षिप्त रूप में कृष्णजन्म, कृष्ण के गोकुलगमन तथा गोकुल में विविध असुरो का वध करते हुए कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन है। ४.२४ में नन्द के घर कृष्ण की उपस्थिति की सूचना नारद के द्वारा दी गयी है। ४.२४.१८ में कृष्ण पर जरासन्ध के सत्रह आक्रमणों का उल्लेख है।

देवी भाग० ४ २४ में शम्बर के द्वारा प्रद्युम्न के हरण किये जाने पर कृष्ण के विलाप का वर्णन है। उनके द्वारा देवी की आराधना की जाने पर देवी सोलहवें वर्ष शत्रु का वध करके कृष्ण की प्रद्युम्न से भेंट की सूचना देती हैं।

देवी भाग० ४.२५ में पुत्र की प्राप्ति के लिए जाम्बवती की प्रार्थना के अनुसार कृष्ण के तप का वर्णन है। पार्वती कृष्ण को अनेक पुत्रो के लाभ का वर देती हैं।

इसी अध्याय में कृष्ण के स्वर्गगमन तथा द्वारका के नाश का वृत्तान्त पार्वती के मुख से भविष्य की घटना के रूप में मिलता है।

भागवत

भागवत १०.१. १८ में पृथ्वी को गौ के रूप में ब्रह्मा के पास जाते हुए वर्णित किया गया है। १० २.२५–४० में कृष्णजन्म के पूर्व ब्रह्मा और शिव आदि देवताओं के कारावास-गमन तथा हरि की स्तुति का वर्णन है। इस स्तुति के बाद देवताओ के द्वारा देवकी की स्तुति का प्रसग है। १०.३ में कृष्णजन्म के उपरान्त वसुदेव और देवकी की स्तुति का उल्लेख है। १० ३ ११ में कृष्णजन्म के कारण हर्षातिरेक से वसुदेव ब्राह्मणों को १०,००० गायें देने का सकल्प करते हैं।

भागवत १०.६ में पूतना को अत्यन्त रूपवती स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है। १०.८–१० मे कृष्ण की बाललीलाओ के अन्तर्गत माखनलीला और यमलार्जुन-भग का वर्णन है। १०.११ में व्रज से वृन्दावन जाने का वृत्तान्त ब्रह्म० से समानता रखता है। भागवत १०.२४–२७ में गोवर्धनधारण के वृत्तान्त के अन्तर्गत इन्द्र के साथ आकर सुरभि अपने दुग्ध से कृष्ण का अभिषेक करती है। रासलीला का वर्णन भागवत १०.२९–३३ में अत्यन्त विस्तृत हो गया है। विष्णु में राधा का अस्पष्ट व्यक्तित्व यहाँ पर अधिक स्पष्ट हो गया है।

भागवत १० ५० में कृष्ण के साथ जरासन्ध के सत्रह युद्धो का वर्णन है। १० ५० म म्लेच्छो से युक्त कालयवन की सेना के योधाओ की सख्या तीन करोड कही गयी है। १०.५२–५४ में रुक्मिणी-हरण के प्रसग में विवाह के पूर्व रुक्मिणी का कृष्ण को एक पत्र भेजने का उल्लेख है। इसके द्वारा रुक्मिणी कृष्ण को प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट करती है। १०.५५ में प्रद्युम्नहरण का वृत्तान्त ब्रह्म० की परम्परा का अनुसरण करता है। ११.१–३० में कृष्ण के स्वर्गगमन का वर्णन है। यह वृत्तान्त भी ब्रह्म० और विष्णु० के इसी प्रसग से समानता रखता है। १०.६७ में बलराम को द्विविद वानर का हन्ता कहा गया है।'

ब्रह्मवैवर्त पुराण

ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ७ में वसुदेव को देवमीढ तथा मारिषा का पुत्र कहा गया है। इसी अध्याय में पूर्व जन्म में किये गये वसुदेव तथा देवकी के तप का उल्लेख है।

ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० १० में यमलार्जुन को नलकूबर कहा गया है। मृत्यु के उपरान्त पूतना को पार्षदो के द्वारा ले जाने का उल्लेख है।

ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्ण ० १६ में वृन्दावन के प्रसग के अन्तर्गत कृष्ण गोकुलवासियो को रात के समय वनदेवताओ की पूजा करने का आदेश देते हैं। पूजा के फलस्वरूप गोपो को वृन्दावन में पूर्वनिर्मित सुन्दर नगरी मिलती है।

ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २८ में रासलीला का वर्णन भागवत के रास से समानता रखता है। राधा तथा उनकी सहस्रो सखियो का उल्लेख ब्रह्मवैवर्त० के रास-मण्डल की विशेषता है।

ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ६३ में कृष्ण के मथुरागमन के पूर्व कस के दु स्वप्न का उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ७१ में गोकुलगमन के पूर्व अक्रूर के सुन्दर स्वप्न का वर्णन है।

ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ७३–९१ में कृष्ण नन्द को समझाकर गोकुल भेजते है। श्रीकृष्ण० ९९–१०१ में कृष्ण के यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन है।

ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ११४ में उषा अनिरुद्ध के प्रसग में अनिरुद्ध को स्वप्न में उषा के दर्शन करते हुए कहा गया है। उषा और अनिरुद्ध के विवाह में कृष्ण सहायक के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० १२७ ६१–८२ में कृष्ण गोकुल में रासमण्डल की अक्षयता को सिद्ध करके देहत्याग करते है।

पद्म पुराण

पद्म० उत्तर० २७२ में वसुदेव और देवकी की कृष्ण के प्रति स्तुति तथा वर्षा में वसुदेव के गोकुलगमन का वृत्तान्त भागवत से समानता रखता है। इस प्रसग में भागवत की भाँति कृष्ण के नवनीतहरण तथा अनेक असुरो के वध का वर्णन है। इसी अध्याय में अक्रूर गोकुल आकर नन्द, यशोदा तथा वहाँ के निवासियो को कृष्ण के विष्णुरूप से परिचित कराते हैं।

पद्म० उत्तर० २७३ में कृष्ण और बलराम के उपनयन सस्कार का उल्लेख है। इसी अध्याय में द्वारकागमन का प्रसग है। सोते हुए मथुरावासियों को कृष्ण द्वारका पहुँचा देते हैं। दूसरे दिन लोग जब स्वय को स्वर्णमय भवनो में पाते हैं तो उन्हें बडा आश्चर्य होता है। उत्तर० २७६ में नरकवध के प्रसग में कृष्ण का नरकासुर को वर देने का उल्लेख है। नरकासुर अपनी मृत्यु के दिन मगलस्नान करनेवालो को व्याधिरहित होने का वर माँगता है।

पारिजात का वृत्तान्त पद्म० उत्तर० २७६ में ब्रह्म, विष्णु तथा भागवत से भिन्न रूप में मिलता है। अपने सम्मुख शची को पारिजात कुसुम लगाते देखकर सत्यभामा के मन में पारिजात वृक्ष को पाने की उत्कट इच्छा के फलस्वरूप कृष्ण पारिजात वृक्ष को उखाडकर ले जाते हैं। उत्तर० २७७ में बाणासुर के आख्यान में मोहनास्त्र के द्वारा कृष्ण का शिव को मोहित कर देने का उल्लेख है। पार्वती की स्तुति से कृष्ण मोहनास्त्र का सहरण करते हैं।

पद्म० उत्तर० २७८ में पौण्ड्रक वासुदेव को काशिराज कहा गया है। कृष्ण ने युद्ध करके इसका मस्तक काशी नगरी में डाल दिया। यह देखकर दण्डपाणि नामक उसके पुत्र ने शिव के तप के प्रभाव से प्राप्त एक कृत्या कृष्ण के विनाश के लिए भेजी। कृष्ण के चक्र ने कृत्या के साथ काशी को भी भस्म कर दिया। उत्तर० २७९

में भीम के द्वारा जरासन्ध का वध, कृष्ण के द्वारा गोप-गोपिकाओं का तारण, कृष्ण-सुदामा मिलन, कृष्ण की सलाह से कुरुक्षेत्र में पाण्डवों की विजय तथा द्वारका के विनाश का संक्षिप्त वर्णन है।

पद्म० पाताल० ६९–८३ में रासलीला का विशद वर्णन है। यहाँ पर वृन्दावन, गोप, गोपिकाओं, यमुना तथा वहाँ के पशु-पक्षियों को अत्यन्त आध्यात्मिक आवरण में प्रस्तुत किया गया है।

अग्नि पुराण

अग्नि० १३ में कृष्णचरित्र का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में हुआ है। इस पुराण का संक्षिप्त 'हरिवंशवर्णन' हरिवंश के कृष्ण-चरित्र से बहुत समानता रखता है।

हरिवंश मे कृष्णचरित्र का विशेष स्थान

विविध पुराणों के कृष्णचरित्र में हरिवंश के कृष्णचरित्र के स्थान का निर्णय अपेक्षित है। कृष्णसम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को प्रस्तुत करने के कारण हरिवंश के कृष्णचरित्र का विशेष स्थान है।

महाभारत का पर्वसंग्रहपर्व हरिवंश के विष्णुपर्व में कृष्णकथा का निर्देश करता है[1]। महाभारत का अन्य पाठ[2] हरिवंश का परिचय पाँच चरणों में देता है। पाँचवाँ चरण हरिवंश में कृष्णचरित्र का उल्लेख करता है।[3] ज्ञात होता है, महाभारत-पर्व-संग्रह की रचना के काल में हरिवंश में कृष्णचरित्र पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुका था।

हरिवंश के कृष्णचरित्र की प्राचीनता मानने में अनेक विद्वान् सहमत हैं। श्री रे चौधरी[4] ने कृष्णचरित्र के अध्ययन के लिए हरिवंश की गणना उत्कृष्ट प्रमाणों में की है। फर्खुहर हरिवंश को कृष्ण-कथा के दृष्टिकोण से विष्णुपुराण से अधिक

१. महा० १. २. ८२–८३ – विष्णुपर्व शिशोश्चर्या विष्णो कंसवधस्तथा।
२. महा० (दक्षिणपद्धति)।१. २. २५७–खिलेषु हरिवंशस्य व्याख्याता परमर्षिणा।
यत्र दिव्याः कथाः पुण्याः कीर्तिताः पापनाशनाः॥
देवासुरकथाश्चैव विचित्राः समुदाहृताः।
भविष्यदपि चाख्यान विचित्रं पुण्यवर्धनम्॥
यत्र कृष्णस्य कर्माणि श्रूयन्ते जन्मना सह।
(पी पी एस. शास्त्रीद्वारा सम्पादित) (अधिक पाठ)
३. महा० १. २—(अधिक पाठ) यत्र कृष्णस्य कर्माणि श्रूयन्ते जन्मना सह।
4. Ray Ch : His. Vais. Sect. P. 65.

विश्वसनीय मानते है[1]। रुबेन हरिवश की प्राचीनतम प्रति में कृष्ण कथा के प्राचीनतम रूप को स्वीकार करते हैं[2]। विण्टरनित्स हरिवश में वर्णित, कृष्णचरित्र में वज्रनाभ के आख्यान को तथा उसमें वर्णित नाटकों के अभिनय को अत्यन्त प्राचीन बतलाते हैं[3]। कृष्ण-चरित्र के अन्तर्गत वज्रनाभ का वृत्तान्त हरिवश के अतिरिक्त अन्य सभी पुराणों के कृष्णचरित्र में अनुपस्थित है। वज्रनाभ के असाधारण और प्राचीन वृत्तान्तों को प्रस्तुत करने के कारण हरिवंश का कृष्णचरित्र अन्य सभी पुराणों के कृष्णचरित्रसे प्रारम्भिक ज्ञात होता है।

श्री रुबेन ने हरिवश, ब्रह्म०, विष्णु०, भागवत०, ब्रह्मवैवर्त्त० तथा मौसलपर्व का तुलनात्मक अध्ययन किया है। अपने इस लेख में वे हरिवश तथा ब्रह्म के कृष्ण चरित्र में साम्य की ओर सकेत करते हैं। उनका कथन उचित है। हरिवश और ब्रह्म में कृष्ण से सम्बद्ध कथानक एक-दूसरे से प्रभावित ज्ञात होता है।

श्री ताडपत्रीकर ने विभिन्न पुराणो की विशद रूपरेखा प्रस्तुत करके कृष्ण के सम्बन्ध में अपने मत प्रस्तुत किये हैं[4]। ताडपत्रीकर का यह अध्ययन सभी पुराणो के कृष्णचरित्र पर प्रकाश डालता है, किसी विशेष पुराण के कृष्णचरित्र का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत नही करता।

हरिवश में कृष्ण का व्यक्तित्व मानवीय तथा दैवी दोनो विशेषताओं को व्यापक रूप में दिखाता है। हरिवश के नानाविध स्थल कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित करते हैं[5]। हरिवश ३.८८.३६–६७ में कृष्ण को परब्रह्म तथा विराट् माना

1. Farquhar : Religious Lit. of Ind. P. 139, 143-144
2. Ruben : JAOS Vol. 61 p. 124—"One cannot therefore do anything but discuss every single line of both texts following the theory that B. (Brahmao) has borrowed its Krsna story from H. (Harivanśa), not H (Hariv.) from B. (Brahma.) as we read it."
3. Wint: His. Ind. Lit. Vol. P. 451 (footnote)
4. "Krsna Problem" ABORI Vol. X. P. 269-344.
५. हरि० १. ५५. ४०– छादयित्वात्मनात्मानं मायया योगरूपया ।
तत्रावतर लोकानां भवाय मधुसूदन ॥
हरि० १. ५४. १३– अंशावतरणं विष्णोर्यदिदं त्रिदशैः कृतम् ।
क्षयार्थं पृथिवीन्द्राणां सर्वमेतदकारणम् ॥

गया है। हरिवंश २ १२७ ७२–८४ तथा ३ ८८ १८–३० में कृष्ण को सांख्य का पुरुष बतलाया गया है। हरिवंश के अन्य अनेक स्थल कृष्ण को वीर योद्धा तथा महापुरुष के रूप में अंकित करते हैं।[1]

पूर्व–हरिवंश तथा पूर्व–महाभारत साहित्य में गोपाल कृष्ण तथा दार्शनिक कृष्ण के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व का हरिवंश तथा पुराणों में समन्वय दिखलाया जा चुका है। कृष्ण के अत्यन्त प्राचीन व्यक्तित्व को नया रूप देने के कारण हरिवंश तथा महाभारत का स्थान महत्त्वपूर्ण है। हरिवंश में गोपाल कृष्ण तथा दार्शनिक कृष्ण के व्यक्तित्व के समन्वय का प्रयास स्पष्ट दिखलाई देता है। हरिवंश विष्णुपर्व के अनेक स्थलों में कृष्ण के पराक्रमों का वर्णन नारद तथा अन्य व्यक्तियों के द्वारा हुआ है[2]। नारद के द्वारा बाल्यकाल से लेकर द्वारका में कृष्ण के जीवन-काल तक की घटनाओं का वर्णन कृष्ण चरित्र के रहस्यपूर्ण भागों में प्रकाश डालता है। इन स्थलों में गोपाल कृष्ण तथा दार्शनिक कृष्ण के परस्पर सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है।

हरिवंश भविष्यपर्व में कृष्ण की स्तुतियों के अन्तर्गत उनके द्विविध व्यक्तित्व के अनेक प्रमाण मिलते हैं। बदरिकाश्रम में शिव के द्वारा कृष्ण के प्रति की गयी स्तुति में कृष्ण को 'ब्रह्मविद्'[3], 'ज्योतियों का पति', 'सूर्य', 'सूर्यपुत्र' तथा 'तेज का स्वामी'[4] कहा गया है। 'ब्रह्मविद्' शब्द दर्शनशास्त्र से कृष्ण के सम्बन्ध को स्थापित करता है। दर्शन-शास्त्र से कृष्ण का सम्बन्ध छान्दोग्य तथा गीता के कृष्ण की सूचना देता है। इसी स्तुति के अन्तर्गत 'ज्योति' तथा 'सूर्य' से सम्बद्ध कृष्ण के विशेषण छान्दोग्य तथा गीता में 'ज्योति' से सम्बद्ध कृष्ण से एकता का परिचय देते हैं।

छान्दोग्य० में ज्योति से कृष्ण के सम्बन्ध की ओर संकेत श्री रे चौधरी ने किया

१. हरि० २ १०१. ५५–७३; २. १०२. १४०
२. हरि० २. १०१–१०२; २. ११०. २२–८८; २. ११५. ४–२३
३. हरि० ३. ९०. १७– नमो ब्रह्मविदे तुभ्य ब्रह्मब्रह्मात्मने नमः।
४. हरि० ३. ९०. २०–२१ अग्नयेऽग्निपते तुभ्य ज्योतिषां पतये नमः।
सूर्याय सूर्यपुत्राय तेजसां पतये नमः॥

है[1]। रे चौधरी ने उपनिषद् के कृष्ण तथा उनके गुरु को सूर्यपूजक कहा है। शान्ति-पर्व में वर्णित सूर्य के मुख से नि सृत सात्वतविधि का सम्बन्ध भी उन्होंने छान्दोग्य० के सूर्यपूजक कृष्ण तथा उनके गुरु से स्थापित किया है। छान्दोग्य० में कृष्ण को जिस उत्तम ज्योति का पूजन सिखाया जाता है, उसीका कथन कृष्ण ने गीता में किया है[2]। उपनिषद् तथा गीता में ज्योति तथा सूर्य से कृष्ण का सम्बन्ध इन दोनों कृष्णों की एकता की सूचना देता है। हरिवंश के इस स्थल पर 'ब्रह्मविद', 'ज्योतिषां पति', 'सूर्य', 'सूर्यपुत्र' तथा 'तेजसां पति' के विशेषण स्पष्ट ही उपनिषद् तथा गीता के कृष्ण से ऐक्य स्थापित करते हैं। हरिवंश के अन्य स्थल में कृष्ण के मुख से गीता से समता रखनेवाले भावों की अभिव्यक्ति इस मत को पुष्ट करती है[3]।

हरिवंश में कृष्ण के प्रति 'सूर्यपुत्र' विशेषण सूर्यवंशी राजा के अर्थ में नहीं लिया जा सकता। कृष्ण का वंश मनु की पुत्री इला से प्रवर्तित चन्द्रवंश है। मनु वैवस्वत को सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश दोनों के जन्मदाता के रूप में मानने पर कृष्ण के 'सूर्य पुत्र' विशेषण को सूर्यवंश का द्योतक माना जा सकता है। किन्तु इन्हीं विशेषणों के साथ 'ज्योतिषां पति' और 'तेजसां पति' शब्द सूर्यवंश से भिन्न अन्य अर्थ को प्रस्तुत करते हैं। सूर्यवंश से कृष्ण का सम्बन्ध स्थापित करने पर 'ज्योति' और 'तेज' शब्दों के प्रयोग की उपयोगिता नहीं रह जाती।

ज्योति और तेज के साथ कृष्ण का सम्बन्ध हरिवंश के अतिरिक्त अन्य पुराणों के कृष्णचरित्र में अनुपस्थित है। इन पुराणों में कृष्ण के प्रति ये विशेषण क्यों नहीं मिलते, इसके विषय में कुछ कहना कठिन है। किन्तु छान्दोग्य, महाभारत, गीता तथा हरिवंश में एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचानेवाले ये विशेषण इन कृष्णों की एकता सिद्ध करते हैं।

१ Ray Ch · His Vais Sect P 57-58

२ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

३ हरि० २ ११४ ९-१६, मामेव तद्घन तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत ।
१८-२१, १२-१४ समुद्रं स्तव्धतोयोऽहमह स्तम्भयिता जलम् ॥
अह ते पर्वता सप्त ये दृष्टा विविधास्त्वया ।
पकभूत हि तिमिर दृष्टवानसि यद्धि तत् ॥
गीता ७ ८-११; १० २१-३८—अह तमो घनीभूतमहमेव च पातक ।
अह च कालो भूताना धर्मश्चाह सनातन ॥

हरिवंश के कृष्णचरित्र में केवल कृष्ण का व्यक्तित्व ही प्रधान विषय नही है। कृष्ण-चरित्र के अन्तर्गत सभी विशेषताओ की गणना इस अध्याय के अन्तर्गत की गयी है। इसी कारण कृष्णकथा के साथ विष्णुपर्व तथा भविष्यपर्व में मिलनेवाली वैष्णव विचारधारा पर भी प्रकाश डाला गया है। हरिवंश के कृष्णचरित्र में कृष्ण-जीवन से सम्बद्ध सभी वृत्तान्तो की अन्य पुराणो से तुलना की गयी है।

हरिवंश में कृष्ण को शकटासुर[1], पूतना[2], अरिष्ट[3], धेनुक[4], केशी[5] तथा कस आदि दैत्यो का निहन्ता बतलाया गया है। ब्रह्म तथा विष्णु को छोडकर अन्य पुराण कृष्ण को तृणावर्त्त, अघासुर, बकासुर आदि असुरो के हन्ता के रूप में भी प्रस्तुत करते है।

विलसन (Wilson) हरिवंश २ २६ ४२–७१ में अक्रूर के द्वारा भुजगेश्वर के ध्यान के वृत्तान्त को बलराम और कृष्ण में एकता स्थापित करने के निमित्त बतलाते है[6]। यह मत भी उचित नही प्रतीत होता। यहाँ पर 'भोगियो के स्वामी' एकार्ण-वेश्वर की गोद में आसीन विष्णु तथा उनके समीप स्थित बलराम का वर्णन है[7]। अत कृष्ण और बलराम में एकता स्थापित करने का प्रयास नही दिखलाई देता।

देवी भागवत ४ १ में कृष्ण को विष्णु का अशाशावतार माना गया है। यहाँ पर नर और नाराय़ण को विष्णु का अशावतार माना गया है। नर और नारायण के अशावतार होने के कारण अर्जुन और कृष्ण नारायण-विष्णु के क्रमश अशाशावतार है। देवी भाग० ४ २५ में पर्वत पर तप करने पर महादेव के वरदान प्राप्त करते समय कृष्ण स्वय को नारायण का अश बतलाते है[8]।

हरिवंश ३ ७६–७७ में तप करने के लिए कृष्ण के बदरिकाश्रम जाने का उल्लेख है[9]। यहाँ पर नर और नारायण नामक विष्णु के अवतार को कृष्ण से अधिक महत्व नही दिया गया है।

१. हरि० २. ६. ४–२१
२. हरि० २. ६. २२–२३
३. हरि० २. २१. १–२३
४. हरि० २. १३. १४–२३
५. हरि० २. २४. ५–६६
६. Wilson : Visnu p p 546. note.
७. हरि० २. २६. ५४–५९
८. देवी भाग० ४. २५. ५५– शापान्नारायणाशोऽहं जातोऽस्मि क्षितिमण्डले।
९. हरि० ३. ७६. २१– यत्र विष्णुर्जगन्नाथस्तप्तस्त्वा सुदारुणम्।
द्विधाकरोत् स्वमात्मानं नरनारायणाख्यया॥

हरिवश का यह स्थल[1] अर्वाचीन है। हरिवश के प्राचीन स्थलो में नर नारायण का एक साथ उल्लेख नही है। केवल नारायण का उल्लेख अवश्य है। यहाँ नारायण दैत्यो के विनाश के उपरान्त नारायणाश्रम में योगनिद्रा में मग्न चित्रित किये गये है।[2]

भागवत में कृष्ण के व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास देखा जा सकता है। इस पुराण के प्रारम्भिक भाग में कृष्ण को सोलह कलाओ से युक्त कहा गया है। हरिवश के किसी भी स्थल में सोलह कलाओं का उल्लेख नही है।

ब्रह्मवैवर्त० में कृष्ण को त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरूपिणी राधा के साथ निरन्तर गोलोक में विचरण करते हुए दिखाया गया है।[4] गोलोक में वे गो, गोप और गोपिकाओ के स्वामी है। इसी रूप में वे समस्त जगत् के आराध्य माने गये है। कृष्ण का ठीक यही रूप पद्म० पाताल० ६९–८३ में मिलता है। ब्रह्मवैवर्त० में विष्णु के नौ अवतार—शूकर, कल्की, वामन, बौद्ध, कपिल, मीन, नृसिह, राम तथा कृष्ण में अन्तिम अवतार को परिपूर्णतम माना गया है[4]।

हरिवश में कृष्ण की बहिन एकानशा का वृत्तान्त विशेषता रखता है[5]। घट जातक[6] में नन्दगोपा से उत्पन्न वासुदेव की बहिन अजना से इसकी एकता स्थापित की जा सकती है। इस जातक में वसुदेव आदि दस भाइयो के द्वारा अजना को अपने बराबर पृथ्वी का भाग देने का उल्लेख है, इससे दस भाइयो में अजना के महत्त्वपूर्ण स्थान का ज्ञान होता है।

हरिवश के अन्तर्गत युद्ध में विजय के बाद बलदेव और वासुदेव की एकानशा से भेंट का उल्लेख है[7]। अन्य स्थल में एकानशा को यादवो तथा वृष्णियो के सत्कार का भाजन कहा गया है।[8]

अमलानन्द घोष ने हरिवश की एकानशा को विन्ध्यवासिनी देवी का एक स्वरूप माना है। उन्होंने 'कौमुदीमहोत्सव' में उन वाक्यो की ओर सकेत किया है, जो

१. हरि० ३. ७६–७७ २. हरि० १. ५०. ३–७

३. भागवत १. २. १– जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभि.।
संभूतं षोडशकलामादौ लोकसिसृक्षया ॥

४. ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्णजन्म० ९, १३; ५. हरि० २. ३–४, १०१. ११–१८

६. Cowell: The Jātakas p. 50-57.

७. हरि० २. १०१. ११–१८ ८. हरि० २. ३–४, १०१. ११–१८

विन्ध्यवासिनी तथा यदुओं की एकानशा में ऐक्य स्थापित करते हैं। 'कौमुदी-महोत्सव' में 'एकानगा' को श्री घोष एकानशा का विगडा रूप मानते हैं[1]। श्री घोष का यह कथन उचित प्रतीत होता है।

महाभारत २ ३९ १३५, १३९ में एकानशा को एकानगा कहा गया है। महाभारत का यह भाग अर्वाचीन है अथवा प्राचीन यह निश्चित रूप से बतलाना कठिन है। सभापर्व ३६–४४ में कृष्णजन्म से लेकर द्वारका के विनाश तक का समस्त वृत्तान्त वर्णित है। यहाँ कृष्ण के विविध बालपराक्रमो से सम्बद्ध गोकुल का भी उल्लेख है। ज्ञात होता है, सभापर्व का यह भाग अवश्य अर्वाचीन है। इस प्रसग में एकानशा का एकानगा के रूप में उल्लेख इस स्थल की अर्वाचीनता सूचित करता है।

हरिवश में यशोदा की कन्या को कस के द्वारा शिला पर पटकने पर आकाश में सिद्धो और देवताओं आदि से स्तुत होकर उडते हुए कहा गया है[2]। आकाश में उडकर विन्ध्य पर्वत में निवास करनेवाली इस कन्या को विन्ध्यवासिनी तथा आर्या कहा गया है। विष्णुपर्व के अन्तिम भाग में सकट के क्षणो में प्रद्युम्न[3] तथा अनिरुद्ध[4] इसी आर्या का स्तवन करते हैं।

हरिवश २ ४४६–४८ में आकाश में उडकर विन्ध्यपर्वत पर निवास करनेवाली देवी की अशभूत कन्या को एकानशा कहा गया है। एकानशा कोकृष्ण की रक्षाके लिए उत्पन्न बतलाया गया है। अत कौमुदीमहोत्सव[5] में एकानशा (एकानगा ?) तथा विन्ध्यवासिनी में जो साम्य स्थापित किया गया है, उसका सूत्रपात हरिवश की प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की स्तुति में हो जाता है।

अन्य पुराणो के कृष्णचरित्र में एकानशा को योगमाया[6] तथा योगनिद्रा[7] कहा

१. Ind Cul Vol 4 p 271-272—
'लोकाक्षि – भगवत्येव विन्ध्यवासिनी।
देशरक्षित· कुलदैवत हि यदूनामेकानगा।

२ हरि० २ ३. ४

३. हरि० २ १०७ ६–१३

४. हरि० २. १२० ४–३३

५ कौमुदी० पृ ६०–भगवत्येव विन्ध्यवासिनी। कुलदैवत हि यदूनामेकानगा।

६ भागवत १०. ४. ८–१३; विष्णु० ५ १. ७१–८७, देवी भाग० ४. २३. ३२–३३

७ ब्रह्म० १८१–१८२

गया है। हरिवंश को छोडकर अन्य पुराण एकानशा के देवी रूप का ही उल्लेख करते है, उनके मानव-रूप से परिचित नही प्रतीत होते[1]। कस के द्वारा पृथ्वी पर पटकने के बाद एकानशा का यादवो के साथ निवास तथा दुर्वासा के साथ विवाह का उल्लेख केवल ब्रह्मवैवर्त० में है[2]। किन्तु यहाँ पर यादवो के साथ निवास करनेवाली इस बालिका का नामोल्लेख नही है। पुराणो में योगमाया के स्वरूप की समीक्षा से ज्ञात होता है कि हरिवश की एकानशा का वृत्तान्त साधारण पौराणिक परम्परा से भिन्न है।

कृष्णचरित्र में रासलीला का स्थान महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक पुराण में यह अपनी विशेषता के साथ प्रस्तुत की गयी है। हरिवश में रासलीला की विशेषता इसकी सक्षिप्तता में है।

हरिवश में रास का प्रसग २.२० में है। रासलीला को इसमें 'हल्लीसकक्रीडन' कहा गया है। नीलकण्ठ ने एक श्लोक की टीका में 'चक्रवाल' का अर्थ 'रासक' बतलाया है। रासगोष्ठी की परिभाषा उन्होने अमरकोष से दी है। अमरकोष की इस परिभाषा के अनुसार हाथ-पैरो के परिचालन की क्रिया-विशेष ही रासगोष्ठी है[3]।

हरिवश के अन्तर्गत रास के प्रसग में कृष्ण में तन्मय होकर मुक्ति को प्राप्त करने-वाली विशिष्ट गोपिका का सकेतमात्र भी नही है। ब्रह्म०, विष्णु० तथा भागवत इस गोपिका को विशिष्ट स्थान देते हैं।

मुरली का शब्द सुनकर तथा बाहर गुरुजनो को देखकर कृष्ण के पास जाने में असमर्थ होने के कारण किसी गोपिका के कृष्ण में ध्यानमग्न होने की मूल उद्भावना

१. भागवत १०. ४. ८–१३; विष्णु० ५. १. ७१–८७, ३. २६–२९; देवीभाग० ४. २३. ३२–३३; ब्रह्म० १८१–१८२.

२. ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्णजन्म० ७. १२८–१२९

३. हरि० २. २०. ३५ टीका—चक्रवालैः मण्डलैः हल्लीसक्रीडनम्। एकस्य पुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीडा।
'गोपीनां मण्डलीनृत्यबन्धने हल्लीसकं विदु.' इति कोषात्।
तल्लक्षणं तु—पृथुं सुवृत्तं मसृणं वितस्ति-
मात्रोन्नतं कौ विनिखन्य शंकुम्।
आक्रम्य पद्भ्यामितरेतरं तु,
हस्तैर्भ्रमोऽयं खलु रासगोष्ठी॥

ब्रह्म० १८९.२० में मिलती है। यही कल्पना विष्णु० ५.१३ में विकसित हुई है। यहाँ पर एक गोपी गुरुजनो की उपस्थिति से कृष्ण के पास न जा सकने के कारण उनके ध्यानजन्य सुख से पूर्वजन्म के पुण्यो के फल का भोग करती है। कृष्ण के वियोगजन्य दुख के कारण पूर्वजन्म के समस्त पापो के फल का अनुभव करती है। अत सुख-दुख तथा पाप और पुण्यो से मुक्त होकर वह मोक्षावस्था को प्राप्त होती है[1]।

भागवत में देह के बन्धनो को तोडकर परमात्मा से एकाकार होनेवाली अनेक गोपियो का उल्लेख है[2]। अत ब्रह्म० १८९.२० से उद्भूत होकर यह कल्पना उत्तरकालीन वैष्णवपुराणो में निरन्तर विकसित होती गयी है। विष्णु० तथा भागवत में यह अवस्था ऋषियो, सिद्धो और देवताओ के द्वारा भी अभिलषणीय परमगति (मोक्ष) मानी गयी है।

किसी विशिष्ट गोपी की कल्पना (जिसको पद्म० पाताल० तथा ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्म० में राधा कहा गया है) का बीज विष्णु ५.१३ में मिलता है। भागवत में यह कल्पना अधिक स्पष्ट हो गयी है। ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० २८ तथा पद्म० पाताल० ६९–८३ में यह कल्पना साकार हो उठी है। यहाँ राधा के रूप में इस विशिष्ट गोपी को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है।

पद्म० पाताल० ६९–८३ में रास को आध्यात्मिक रूप दिया गया है। इसमें रासमण्डल की गोपिकाएँ योगिनियाँ कही गयी है। कालिन्दी को अमृतवाहिनी सुषुम्ना तथा वृन्दावन को चर्मचक्षुओ के लिए अदर्शनीय कहा गया है। वृन्दावन में पुरुषरूप कृष्ण प्रकृति-रूपा राधा के साथ क्रीडाएँ करते है।[3]

१. विष्णु० ५.१३.२१–२२– तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका॥

२. भागवत १०.२९.९–११–*अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।*
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचना॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष-निर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धना॥

३. पद्म० पाताल० ७७

हरि० विष्णुपर्व २० १५ में शरद् ऋतु की ज्योत्स्ना का सौन्दर्य तथा कृष्ण की मानसिक अवस्था का वर्णन अत्यन्त सीमित शब्दों में करनेवाले श्लोक से हरिवंश के हल्लीसक की संक्षिप्तता का परिचय मिलता है। कृष्ण शारदी निशा तथा अपनी अवस्था को देखकर रास की इच्छा करते हैं[1]। कृष्ण तथा गोपिकाओं की अवस्था और प्रकृति का सौन्दर्य भागवत० १० २९ में हरिवंश की इसी परम्परा का पालन करते हुए विशद हो गया है। भागवत १० २९ में रास के केवल एक अंग चन्द्रिका का वर्णन अपनी विशदता के कारण भिन्न स्थान रखता है। यहाँ पर उदयकालीन चन्द्र को अपनी सान्त्वनापूर्ण किरणों के द्वारा प्राची के मुख को लाल वर्ण से विलेपित करते हुए बतलाया गया है[2]।

हरिवंश २ २० के हल्लीसक की संक्षिप्तता पुराणों में रासलीला के प्राचीन रूप का परिचय देती है। हरिवंश के हल्लीसक में राधा तथा मुक्ति को प्राप्त करनेवाली गोपिका के स्वरूप का अभाव इस बात की पुष्टि करता है।

जरासन्ध का वृत्तान्त हरिवंश में ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वृत्तान्त है। महाभारत[3] तथा हरिवंश[4] में इसको मगधेश्वर कहा गया है। इसकी राजधानी राजगृह बतायी गयी है[5]। जरासन्ध की शक्ति को देखकर कृष्ण ने द्वारका में जाकर नगरी बसायी[6]। जरासन्ध की विशाल सेना तथा उसके शक्तिशाली साम्राज्य का ज्ञान इन प्रमाणों से हो जाता है।

१. हरि० २. २०. १५ — कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशि चन्द्रमसो वनम् ।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति ॥

२. भागवत १० २९. २ — तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं,
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्,
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥

३. महा० २. २२–२३
४. हरि० २. ३५. ९२, ९४; ३६.१.

५. हरि० २. ३४. ३ — कस्यचित्वथ कालस्य राजा राजगृहेश्वरः ।
सुताय निहतं कंस दुहितृभ्यां महीपतिः ॥

६. महा० २. १६. १० — वयं चैव महाराज जरासन्धभयार्दिताः ।
मथुरां सम्पक् परित्यज्य गत्वा द्वारवतीं पुरीम् ॥

हरि० २. ५६. ३५ — कृष्णोऽपि कालयवनं ज्ञात्वा केशिनिषूदनः ।
जरासन्धभयाच्चैव पुरीं द्वारवतीं ययौ ॥

हरिवंश में जरासन्ध के साथ कृष्ण के दो महायुद्धों का वर्णन है। प्रथम युद्ध का वर्णन हरिवंश २.३४–३६ में मिलता है। बलराम के द्वारा जरासन्ध को मारने के लिए मुसल उठाने पर आकाशवाणी ने उन्हें यह करने से रोका। इस अध्याय के अन्त में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वृष्णियों और यादवों ने जरासन्ध को जीत लिया था[1]। कृष्ण का बदला लेने के लिए जरासन्ध की कन्याओ के द्वारा पुनः स्मारित कराने पर जरासन्ध के द्वितीय आक्रमण का सूत्रपात होता है[2]।

हरिवंश में कृष्णप्रमुख यादवों को जरासन्ध की शक्ति से आतंकित प्रस्तुत किया गया है। शृगाल, कालयवन, रुक्मी, शिशुपाल आदि राजा जरासन्ध की ओर से लड रहे थे। मन्त्रणा करके बलराम और कृष्ण दक्षिण में करवीरपुर गये। वहाँ उनकी भेंट परशुराम से हुई[3]। परशुराम की सलाह से कृष्ण और बलराम गोमन्त पर्वत पर गये। यहाँ कृष्ण और बलराम का जरासन्ध की सेना से घोर युद्ध हुआ[4]। इस युद्ध में भी कृष्ण का पक्ष विजयी हुआ और जरासन्ध हारकर युद्ध-क्षेत्र से लौट गया[5]। जरासन्ध के साथ कृष्ण और बलराम के इस द्वितीय युद्ध को चाक और मौसल युद्ध कहा गया है[6]।

जरासन्ध की विशाल सेना का सामना न कर सकने के कारण कृष्ण और बलराम का गोमन्त पर्वत की ओर प्रस्थान, वहाँ पर उनकी परशुराम से भेंट तथा करवीरपुर जाकर कृष्ण के द्वारा शृगाल के वध का वृत्तान्त हरिवश तथा भागवत[7] में मिलता है। इन घटनाओ का उल्लेख ब्रह्म[8], विष्णु[9], देवी भागवत[10], पद्म,[11] तथा ब्रह्मवैवर्त०[12] में नही है। जरासन्ध के वृत्तान्त को अन्य पुराणो से भिन्न रूप में प्रस्तुत करने में ही हरिवश की विशेषता है।

१. हरि० २. ३६. ४० – जित्वा तु मागधं संख्ये जरासन्धं महीपतिम्।
विहरन्ति स्म सुखिनो वृष्णिसिंहा महारथाः॥

२. हरि० २. ३७. ३–४ कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा राजगृहेश्वरः।
सस्मार निहतं कंसं जरासन्धः प्रतापवान्॥
युद्धाय योजितो भूयो दुहितृभ्यां महीपतिः॥

३. हरि० २. ३९. २१–८३ ४. हरि० २. ४०–४३

५. हरि० २. ४३. ७५ – पराजिते त्वपक्रान्ते जरासन्धे महीपतौ।

६. हरि० २. ४३. ९४ ७. भाग० १० ५०–५३ ८. ब्रह्म० १९३

९. विष्णु० ५. २२; १०. देवी भाग० ४. २४; ११. पद्म० उत्तर. २७३-२७४

१२. ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण. ७–१२७.

हरि० विष्णुपर्व २०.१५ में शरद् ऋतु की ज्योत्स्ना का सौन्दर्य तथा कृष्ण की मानसिक अवस्था का वर्णन अत्यन्त सीमित शब्दों में करनेवाले श्लोक से हरिवंश के हल्लीसक की संक्षिप्तता का परिचय मिलता है। कृष्ण शारदी निशा तथा अपनी अवस्था को देखकर रास की इच्छा करते हैं[1]। कृष्ण तथा गोपिकाओं की अवस्था और प्रकृति का सौन्दर्य भागवत० १०.२९ में हरिवंश की इसी परम्परा का पालन करते हुए विशद हो गया है। भागवत १०.२९ में रास के केवल एक अंग चन्द्रिका का वर्णन अपनी विशदता के कारण भिन्न स्थान रखता है। यहाँ पर उदयकालीन चन्द्र को अपनी सान्त्वनापूर्ण किरणों के द्वारा प्राची के मुख को लाल वर्ण से विलेपित करते हुए बतलाया गया है[2]।

हरिवंश २.२० के हल्लीसक की संक्षिप्तता पुराणों में रासलीला के प्राचीन रूप का परिचय देती है। हरिवंश के हल्लीसक में राधा तथा मुक्ति को प्राप्त करनेवाली गोपिका के स्वरूप का अभाव इस बात की पुष्टि करता है।

जरासन्ध का वृत्तान्त हरिवंश में ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वृत्तान्त है। महाभारत[3] तथा हरिवंश[4] में इसको मगधेश्वर कहा गया है। इसकी राजधानी राजगृह बतायी गयी है[5]। जरासन्ध की शक्ति को देखकर कृष्ण ने द्वारका में जाकर नगरी बसायी[6]। जरासन्ध की विशाल सेना तथा उसके शक्तिशाली साम्राज्य का ज्ञान इन प्रमाणों से हो जाता है।

१. हरि० २. २०. १५ — कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशि चन्द्रमसो वनम् ।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति ॥

२. भागवत १० २९. २ — तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं,
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्,
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥

३. महा० २. २२–२३ ४. हरि० २. ३५. ९२, ९४; ३६.१.

५. हरि० २. ३४. ३ — कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा राजगृहेश्वरः ।
शुश्राव निहतं कंसं दुहितृभ्यां महीपतिः ॥

६. महा० २. १६. १० — वयं चैव महाराज जरासन्धभयार्दिताः ।
मथुरां सम्यक् परित्यज्य गत्वा द्वारवतीं पुरीम् ॥

हरि० २. ५६. ३५ — कृष्णोऽपि कालयवनं ज्ञात्वा केशिनिषूदनः ।
जरासन्धभयाच्चैव पुरीं द्वारवतीं ययौ ॥

हरिवंश में जरासन्ध के साथ कृष्ण के दो महायुद्धो का वर्णन है। प्रथम युद्ध का वर्णन हरिवंश २ ३४–३६ में मिलता है। बलराम के द्वारा जरासन्ध को मारने के लिए मुसल उठाने पर आकाशवाणी ने उन्हें यह करने से रोका। इस अध्याय के अन्त में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वृष्णियों और यादवों ने जरासन्ध को जीत लिया था[1]। कृष्ण का बदला लेने के लिए जरासन्ध की कन्याओ के द्वारा पुन स्मारित कराने पर जरासन्ध के द्वितीय आक्रमण का सूत्रपात होता है[2]।

हरिवंश में कृष्णप्रमुख यादवो को जरासन्ध की शक्ति से आतंकित प्रस्तुत किया गया है। शृगाल, कालयवन, रुक्मी, शिशुपाल आदि राजा जरासन्ध की ओर से लड रहे थे। मन्त्रणा करके बलराम और कृष्ण दक्षिण में करवीरपुर गये। वहाँ उनकी भेंट परशुराम से हुई[3]। परशुराम की सलाह से कृष्ण और बलराम गोमन्त पर्वत पर गये। यहाँ कृष्ण और बलराम का जरासन्ध की सेना से घोर युद्ध हुआ[4]। इस युद्ध में भी कृष्ण का पक्ष विजयी हुआ और जरासन्ध हारकर युद्ध-क्षेत्र से लौट गया[5]। जरासन्ध के साथ कृष्ण और बलराम के इस द्वितीय युद्ध को चाक और मौसल युद्ध कहा गया है[6]।

जरासन्ध की विशाल सेना का सामना न कर सकने के कारण कृष्ण और बलराम का गोमन्त पर्वत की ओर प्रस्थान, वहाँ पर उनकी परशुराम से भेंट तथा करवीरपुर जाकर कृष्ण के द्वारा शृगाल के वध का वृत्तान्त हरिवंश तथा भागवत[7] में मिलता है। इन घटनाओ का उल्लेख ब्रह्म[8], विष्णु[9], देवी भागवत[10], पद्म,[11] तथा ब्रह्मवैवर्त०[12] में नही है। जरासन्ध के वृत्तान्त को अन्य पुराणो से भिन्न रूप में प्रस्तुत करने में ही हरिवंश की विशेषता है।

१. हरि० २. ३६. ४० — जित्वा तु मागधं संख्ये जरासन्धं महीपतिम्।
विहरन्ति स्म सुखिनो वृष्णिसिंहा महारथाः॥

२. हरि० २. ३७. ३–४ कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा राजगृहेश्वरः।
सस्मार निहतं कंसं जरासन्धः प्रतापवान्॥
युद्धाय योजितो भूयो दुहितृभ्यां महीपतिः॥

३. हरि० २. ३९. २१–८३ ४. हरि० २. ४०–४३

५. हरि० २. ४३. ७५ — पराजिते स्वपक्षान्ते जरासन्धे महीपतौ।

६. हरि० २.४३.९४ ७. भाग० १० ५०–५३ ८. ब्रह्म० १९३

९. विष्णु० ५. २२; १०. देवीभाग० ४. २४; ११. पद्म० उत्तर.२७३-२७४

१२. ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण.७–१२७.

श्री सुकथङ्कर[1] ने महाभारत के अनेक स्थलों में भार्गव ब्राह्मणों के प्रत्यक्ष प्रभाव की ओर संकेत किया है। उनका यह कथन उचित है। ज्ञात होता है, हरिवंश के इस स्थल में भी भृगुवंशी ब्राह्मणों का सहयोग है। अतः परशुराम के महत्त्व को सिद्ध करने लिए उन्होंने इस प्रसंग में परशुराम का वृत्तान्त जोड़ दिया है। इसी समय जामदग्न्य के मुख से कृष्ण की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है[2]। हरिवंश में परशुराम को कृष्ण के समकक्ष स्थापित करने के कारण भृगुओं ने सम्भवतः परशुराम के प्रति अपने आदर की भावना व्यक्त की है।

जरासन्ध के वृत्तान्त का उल्लेख जैन हरिवंश पुराण[3] में भी है। जैन परम्परा जरासन्ध को रावण के समान शक्तिशाली बतलाती है। इस परम्परा के अनुसार कालयवन जरासन्ध का पुत्र था[4]।

जैन हरिवंश पुराण की भूमिका[5] में इस पुराण की तिथि ७०५ शक बतलायी गयी है। विषयप्रतिवादन और शैली की दृष्टि से यह पुराण अर्वाचीन ज्ञात होता है। अतः इसमें उल्लिखित जरासन्ध का वृत्तान्त कृष्णचरित्र के समुचित ज्ञान में सहायक नहीं माना जा सकता।

हरिवंश[6] में जरासन्ध के वृत्तान्त के विषय में पर्याप्त सामग्री होने पर भी महाभारत[7] में आये हुए जरासन्धवध का उल्लेख नही है। महाभारत में कृष्ण, भीम

१. V. S. Sukthankar. Critical Studies in the Mbh. p. 278-337.

२. हरि० २. ३९. ४८–४९—जाने त्वां कृष्ण गोप्तारं जगतः प्रभुमव्ययम्।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमबालं बालतां गतम्॥
न त्वयाऽविदितं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते।

३ जैन हरि० प्रथम खण्ड १८ २३–२४.

४. जैन हरि० प्रथम० १८. २३–२४—स रावणसमो भूत्वा त्रिखण्डभरताधिपः।
तनयाः सनयास्तस्य ते कालयवनादयः॥

५. जैन हरि० प्रथम० प्रस्तावना पृ० ४—शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तराम्,
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्ति भूभृति नृपे वत्सादिराजे पराम्,
सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति॥

६. हरि० २. ३४–४२ ७. महा० २. २२–२३

तथा अर्जुन ब्राह्मण-वेष में राजगृह जाते हैं। यहाँ पर भीम का जरासन्ध से द्वन्द्व युद्ध तथा जरासन्ध की मृत्यु का उल्लेख है। ज्ञात होता है, जरासन्ध के वध का वृत्तान्त हाभारत में होने के कारण आवृत्ति के भय से हरिवंश में छोड दिया गया है।

कृष्ण पर जरासन्ध के आक्रमणो की सख्या पुराणों में पारस्परिक अन्तर रखती है। महाभारत, हरिवंश तथा ब्रह्म० में जरासन्ध के अट्ठारह आक्रमणो का उल्लेख है[1]। विष्णु०[2] जरासन्ध के साथ कृष्ण के आठ युद्धो की सूचना देता है। भागवत तथा देवीभागवत में जरासन्ध के सत्रह युद्धो का वर्णन है[3]। महाभारत, हरिवंश तथा ब्रह्म० में जरासन्ध के अट्ठारह युद्धो का उल्लेख अतिशयोक्तिपूर्ण होने के कारण किसी अर्वाचीन प्रभाव की ओर सकेत करता है। विष्णु० में आठ युद्धो का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण न होने के कारण विश्वसनीय ज्ञात होता है।

पारिजातहरण का वृत्तान्त हरिवंश में विशिष्ट स्थान रखता है। यह वृत्तान्त हरिवंश में दो बार वर्णित है। हरि[4]० में यह वृत्तान्त कुछ अविकृत तथा सक्षिप्त रूप में है। ब्रह्म०[5] तथा विष्णु०[6] में वर्णित पारिजात के सौख्य को प्राप्त करने के सभी लोगो में समानाधिकार के कथन, रक्षको के आतक तथा युद्ध आदि का यहाँ कोई उल्लेख नही है। कृष्ण पारिजात का हरण करते हैं। इन्द्र कृष्ण के पराक्रम को देखकर पारिजात वृक्ष ले जाने की अनुमति दे देते हैं[7]।

पारिजात-हरण का वृत्तान्त इस अध्याय (६४) के आगे बडे विस्तारपूर्वक तथा कुछ कल्पना का सम्मिश्रण करके बनाया गया ज्ञात होता है। रयूबेन[8] ने इस विस्तृत वृत्तान्त को पहले अध्याय (६४) की पुनरुक्तिमात्र बतलाया है। पारिजात-हरण का यह द्वितीय वृत्तान्त बारह अध्यायो (६५–७६) में वर्णित है।

इस वृत्तान्त के यहाँ पर इतना विस्तृत होने के अनेक कारण है। सर्व प्रथम इस वृत्तान्त की मुख्य कथा में अनेक नवीन घटनाएँ जुड गयी हैं। इन वृत्तान्तो का कथासूत्र

१. महा० २. १५. ३५–४१; हरि० २ ३६. ३७, ३७. ४–५; ब्रह्म० १९३
२. विष्णु ५. २२ ; ३. भाग० १०. ५३. ४२; देवी भा० ४. २४. १८
४. हरि० २. ६४. ६५–७० ; ५. ब्रह्म० २०३; ६. विष्णु० ५. ३०–३१
७. हरि० २ ६७. ६८–७०– उत्पाट्या रोपयामास विष्णुस्तं गरुडोपरि ।
श्रुत्वा त देवराजस्तु कर्म कृष्णस्य तत्तदा ।
अनुमेने महाबाहु कृतकर्मेति चाब्रवीत् ॥
8 Ruben · GAOS Vol 61 p 116.

इस प्रकार है। रैवतक पर्वत में नारद के द्वारा दिये गये पारिजात कुसुम को कृष्ण रुक्मिणी को दे देते हैं। इस पुष्प के प्रदान से सत्यभामा रुष्ट हो जाती है। उनके आग्रह से कृष्ण स्वर्ग से पारिजात का हरण करते हैं।

दूसरी बात है मुख्य-वृत्तान्त में शिव की स्तुति और पुण्यकव्रत का सम्मिश्रण। कृष्ण और इन्द्र के युद्ध की शान्ति के लिए कश्यप ऋषि शिव की तपस्या करते हैं[1]। कृष्ण स्वयं पारिजातहरण की सफलता के निमित्त महादेव की स्तुति करते हैं[2]। सत्यभामा सौभाग्य की प्राप्ति के लिए नारद को पुरोहित बनाकर तथा कोमल तन्तु के द्वारा पारिजात वृक्ष से कृष्ण को बाँधकर प्रभूत धन के साथ कृष्ण का दान करती हैं[3]। पारिजातहरण के इस वृत्तान्त को विस्तृत बनाने में तीसरा कारण है, युद्ध का विस्तृत वर्णन[4]।

पारिजातहरण के प्रसंग में नारद के द्वारा दिये गये पारिजात-कुसुम का उल्लेख पद्म० को छोड़कर ब्रह्म०, विष्णु०, भागवत, देवी भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त० आदि पुराणों में नहीं मिलता। पद्म०[5] में हरिवंश की भाँति शची के द्वारा पारिजात कुसुमों का शृंगार सत्यभामा की पारिजात-वृक्ष को लेने की उत्कट इच्छा का कारण बन जाता है। पद्म० उत्तर ४० में पारिजातहरण का वृत्तान्त हरिवंश से बहुत समानता रखता है।

हरिवंश[6] तथा पद्म०[7] के इन दो वृत्तान्तों की समानता पद्म०[8] को हरिवंश का ऋणी सूचित करती है। इसके कुछ कारण हैं। पहला कारण यह है कि पद्म० के वृत्तान्त में कृष्ण पारिजात-कुसुम को हरिवंश के पारिजातहरण के प्रसंग की भाँति केवल रुक्मिणी को ही नहीं देते। इसमें सोलह हज़ार रानियों को एक कुसुम बाँटने का उल्लेख है। दूसरा कारण यह है कि पद्म० उत्तर० के इसी अध्याय में कृष्ण सत्यभामा के पूर्वजन्म पर प्रकाश डालते हैं। यहाँ पर तुलसीवृक्ष के माहात्म्य का वर्णन है। हरिवंश म इस प्रकार के अर्वाचीन माहात्म्यों का अभाव है। अतः पद्म० ९० के इस वृत्तान्त का पूर्वरूप हरिवंश ६५–७९ में मिलता है।

पारिजात कुसुम का यह प्रसंग महाभारत में नहीं है। ज्ञात होता है, यह वृत्तान्त हरिवंश के बाद पद्म० उत्तर० २०३ में विकसित हुआ है।

१. हरि० २.७२.२९–६६; २. हरि० २.७४.२२–३४; ३. हरि० २.७६.३–२६
४. हरि० २.७३–७५ ५. पद्म० उत्तर० २७६ ६. हरि० २. ६५–७९
७. पद्म० उत्तर० ९० ८. पद्म० उत्तर० ९०

पारिजात वृक्ष के पृथ्वी में स्थितिकाल के विषय में पुराणों में मतभेद है। ब्रह्म०[1] विष्णु०[2], पद्म०[3] तथा भागवत[4] पारिजात वृक्ष को कृष्ण के जीवन काल तक के लिए पृथ्वी में निवास करते हुए प्रस्तुत करते हैं। हरिवंश में केवल एक वर्ष की अवधि दी गयी है। सत्यभामा के व्रत की समाप्ति पर पारिजात वृक्ष पुन. स्वर्ग पहुँचा दिया जाता है[5]।

हरिवंश तथा अन्य पुराणों के बीच इस वैषम्य का कारण है। ब्रह्म०, विष्णु०, पद्म० तथा भागवत पुराणों में यादवों के विनाश के बाद द्वारका के जलमग्न होने के पूर्व पारिजात वृक्ष के स्वर्गगमन का उल्लेख है। इसीलिए पारिजात को एक वर्ष के उपरान्त स्वर्ग भेजने का कथन हरिवंश में द्वारका के जलमग्न होने के वृत्तान्त के अभाव के कारण स्वाभाविक है। हरिवंश में पारिजातहरण का पहला वृत्तान्त संक्षिप्तता के लिए तथा द्वितीय वृत्तान्त अन्य पुराणों से भिन्न कथावस्तु के लिए अन्य पुराणों में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

हरिवंश[6] में जलक्रीडा तथा छालिक्य का वृत्तान्त भी अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसकी कथा इस प्रकार है। एक बार यादव, यादव स्त्रियों और सोलह हजार तथा सौ रानियों से युक्त कृष्ण पिण्डारकतीर्थ में समुद्रयात्रा करने गये। समुद्र में यादव तथा अपनी रानियों के साथ कृष्ण ने जलक्रीडाएँ की। क्रीडा के बाद भोज हुआ। कृष्ण के द्वारा बुलायी गयी पाँच दिव्य अप्सराओं ने यादवों का मनोविनोद किया।

जलक्रीडा का यही वृत्तान्त 'छालिक्यक्रीडा' नाम से हरि० के दूसरे अध्याय (अध्याय २८९) में वर्णित है। इस अध्याय के अन्त में छालिक्य की प्रशंसा की गयी है। देव, गन्धर्व तथा महर्षियों से प्रतिष्ठित संगीत तथा वाद्यमिश्रित इस अभिनय को कृष्ण के द्वारा प्रवर्त्तित माना गया है[7]।

१. ब्रह्म० २०.३ २. विष्णु० ५.२१
३. पद्म० उत्तर० २७६ ४. भा० १०.६७ ३४.
५. हरि० २. ७६. २६ — संवत्सरे ततो याते देवेशिहाऽमरसत्तमः।
पारिजातं पुनः स्वर्गमानयत्सर्वभावन॥
६. हरि० २. ८८–८९. ७. हरि० २. ८९–८३–
छालिक्यगान्धर्वगुणोदयेषु ये देवगन्धर्वमहर्षिसंघाः।
निष्ठां प्रयान्तीत्युपगच्छ बुद्ध्या छालिक्यमेवं मधुसूदनेन॥

हरिवंश में इन दो अध्यायों[1] के कथानक की समानता से ज्ञात होता है कि अध्याय ८९ में इससे पूर्व अध्याय की आवृत्ति मात्र हुई है। इन दो अध्यायों की तुलना से अध्याय ८८ की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। अध्याय ८८ में वंशघोष, हल्लीसक आदि का उल्लेख नहीं है, अध्याय ८९ में है[2]। 'रास' शब्द का उल्लेख अध्याय ८८ में नहीं है तथा अध्याय ८९ में है[3]। इससे ज्ञात होता है कि जलक्रीडा का पूर्ववृत्तान्त[4] कृष्णचरित्र के मूल वृत्तान्त से निकट सम्बन्ध रखता है। हरिवंश के पारिजातहरण के वृत्तान्त की भाँति इस प्राचीन प्रसंग को दूसरे अध्याय में विस्तृत कर दिया गया है।

हरिवंश में प्रस्तुत जलक्रीडा का वर्णन महाभारत तथा अन्य पुराणों में नहीं मिलता। इस प्रसंग को अन्य पुराणों ने क्यों छोड़ दिया, इसका कोई उचित समाधान नहीं है।

पुराणों से भिन्न कुछ ग्रन्थ छालिक्य से परिचय सूचित करते हैं। कालिदास-कृत 'मालविकाग्निमित्र' में 'छलिक' के रूप में छालिक्य का ही उल्लेख हुआ है। यहाँ पर शर्मिष्ठा को 'छलिक' की विधात्री कहा गया है[5]। मालविकाग्निमित्र में छलिक का उल्लेख इसको अभिनयात्मक नृत्य के रूप में अवश्य प्रस्तुत करता है, किन्तु इस नृत्य के उद्गम के विषय में यहा भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता[6]।

हरिवंश के कृष्णचरित्र में वज्रनाभ का वृत्तान्त[7] सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका उल्लेख अन्य किसी भी पुराण में नहीं है। केवल हरिवंश में इस वृत्तान्त की उपलब्धि के कारण इसकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता का रूप निश्चित नहीं किया जा सकता।

१. हरि० २. ८८–८९
२. हरि० २. ८९. ६८– जग्राह वीणामथ नारदस्तु,षड् ग्रामरागादिसमाधियुक्ताम्।
हल्लीसकं तु स्वयमेव कृष्णः सवंशघोषं नरदेवपार्थः॥
३. हरि० २. ८९. ७, २२, ३०
४. हरि० २. ८८
५. मालविका० १. परिव्राजिका–देव! शर्मिष्ठायाः कृतिं चतुष्पदोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति।
६. हरिवं के 'छालिक्यगेय' पर विवेचन 'हरिवंश में ललित कलाएं' नामक अध्याय में देखा जा सकता है।
७. हरि० २. ९०–९१

वज्रनाभ का वृत्तान्त इस प्रकार है। वज्रनाभ नामक एक असुर ने तपस्या की। उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा ने उसे देवो से अपराजित होने का वर दिया। वज्रनाभ ने वज्रपुर नामक नगरी बसायी। पराक्रम के गर्व से उसने पृथ्वी में अत्याचार किये। इन्द्र ने कृष्ण को वज्रनाभ के दुष्कार्यों से विदित कराया। कृष्ण ने यज्ञ किया। इसमें अनेक ऋषि आये थे। इस यज्ञ में एक नट ने अपने अभिनय से महर्षियों को सन्तुष्ट किया। इसी समय देवलोकवासी हसो को बुलाकर कृष्ण ने उन्हें वज्रपुर में भेजने का आयोजन किया। हसो का कार्य था वज्रनाभ की कन्या प्रभावती को प्रद्युम्न के प्रति आसक्त करना। हस ने प्रभावती को प्रद्युम्न के रूप और गुणो से परिचित कराया। प्रभावती ने प्रद्युम्न के दर्शन की इच्छा प्रकट की। प्रद्युम्न तथा साम्ब आदि ने वेप बदल कर वज्रपुर में प्रवेश किया। अपनी कला से उन्होने वज्रपुरवासियो को प्रसन्न कर लिया। प्रद्युम्न ने प्रभावती से गान्धर्व-विवाह किया। साम्ब तथा गद आदि ने प्रभावती की सखियो से विवाह किया। प्रद्युम्न, साम्ब और गद के पुत्रों को देखकर वज्रपुरवासियो को शत्रु के नगर में प्रवेश का पता चला। वज्रनाभ तथा यादवो की सेना का परस्पर युद्ध हुआ। कृष्ण के चक्र से प्रद्युम्न ने वज्रनाभ का वध किया।

वज्रनाभ का वृत्तान्त हरिवंश में केवल एक ही स्थल में मिलता है, अन्यत्र इस वृत्तान्त का सकेत तक नही है। कृष्ण के अन्य पराक्रमो का उल्लेख हरिवंश में अनेक बार हुआ है। हरिवंश १४१ १५६–१६० में विष्णु के केशवावतार के वर्णन में कृष्ण के सभी मुख्य पराक्रमो का उल्लेख है, किन्तु वज्रनाभ के वृत्तान्त का उल्लेख नही है। हरिवंश २ १०१–१०२ में नारद वज्रनाभ का वध करके द्वारका आये हुए कृष्ण के सभी पराक्रमो का वर्णन करते हैं, किन्तु वज्रनाभ के प्रसग के लिए वे मौन है। हरि० २ ११५ में पुन कृष्ण के पराक्रमो का वर्णन है, किन्तु वज्रपुर के कृष्ण पराक्रम का कोई उल्लेख नही है।

विण्टरनित्स ने हरिवंश में वज्रनाभ के वृत्तान्त को अत्यन्त प्राचीन माना है[1]। इन्होंने इसे हरिवंश का सुन्दरतम अश बतलाया है। श्री हर्टेल ने नाट्यकला पर प्रकाश डालनेवाले हरिवंश के इस भाग को अत्यन्त प्राचीन माना है। इस स्थल में नाट्य के उल्लेख को हर्टेल सस्कृत साहित्य में नाट्यकला का सूत्रपात मानते है[2]।

1. Wint. : His. Ind. Lit. Vol. 1 p. 451.
2. Hertel JVoJ. XXIV 117. in Keith : San. Drama p. 48.

हरिवश में कृष्ण के पराक्रमवर्णन के प्रसग में वज्रनाभ के वृत्तान्त के अभाव से यह निश्चित होता है कि यह प्राचीन वृत्तान्त उत्तरकालीन कृष्णचरित्र में स्थान प्राप्त न कर सका। इसके बाद के पुराणो के कृष्णचरित्र में इस वृत्तान्त को छोड देने की ही परम्परा चल पडी ज्ञात होती है।

हरिवश में मैन्द और द्विविद नामक वानरो का कृष्ण से सम्बन्ध अपनी विशेषता रखता है। हरि० १.४१ ५६–५७ में कृष्ण के अवतार के निरूपण में मैन्द और द्विविद का वध बतलाया गया है। हरिवश २ ११५ २० में भी मैन्द और द्विविद नामक वानरो का कृष्ण के द्वारा युद्ध में जीते जाने का उल्लेख है।

ब्रह्म०[1] विष्णु[2] तथा भागवत[3] द्विविद वानर के हन्ता के रूप में बलराम को चित्रित करते हैं। द्विविद वानर का वध बलराम ने किया था अथवा कृष्ण ने, इस सन्देहास्पद स्थिति में अग्नि०[4] ने हरिवश के कथन को स्वीकार किया है। अग्नि०[5] ने प्राचीन ग्रन्थो की सूची में हरिवश का भी नामोल्लेख किया है। इसके द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि कृष्ण को द्विविद के हन्ता के रूप में चित्रित करने की प्रेरणा अग्नि० ने हरिवश से ली है। अत कृष्ण को द्विविद का हन्ता बतलाकर हरिवश ने अन्य वैष्णव पुराणो से भिन्न परम्परा का पालन किया है।

हरिवश में पौण्ड्रक राजा का वृत्तान्त अन्य पुराणो में उल्लिखित पौण्ड्रक के वृत्तान्त से भिन्न रूप में मिलता है। कैलासयात्रा के पूर्व कृष्ण द्वारका-वासियो को पौण्ड्रक के आक्रमणो से सचेत होने की सलाह देते हैं तथा पौण्ड्रक की विशाल शक्ति से उन्हें परिचित कराते हैं[6]। द्वारका में कृष्ण की अनुपस्थिति में पौण्ड्रक आक्रमण कर देता है[7]। इसी समय कृष्ण तपस्या पूर्ण करके द्वारका लौटते हैं और पौण्ड्रक का वध करते हैं[8]।

ब्रह्म[9], विष्णु[10] तथा भागवत[11] पुराणो में पौण्ड्रकवध का वृत्तान्त समानता रखता है। युद्ध में कृष्ण के द्वारा फेंका गया काशिराज का मस्तक काशी में गिरता है।

१. ब्रह्म० २०९ २. विष्णु० ५. ३६. १९–२१
३. भाग० १० ६७, २–२७; ४. अग्नि० १३; ५. अग्नि० ३८३
६ हरि० ३. ७४. १८ — न ह्यल्पसाध्यो बलवान् पुण्ड्रस्येशो नृपोत्तमा।
यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु प्रगृहीतशरासना ॥
७ हरि० ३. ९३. ६–२० ८. हरि० ३. १००–१०१
९ ब्रह्म० २०७; १०. विष्णु० ५ ३४; ११. भाग० ११. १०. ६६

उसका पुत्र तप करके कृष्ण का वध करने के लिए कृत्या को प्राप्त करता है। कृष्ण का चक्र कृत्या को नष्ट करके काशी को भस्म कर देता है।

पद्म०[1] में पौण्ड्रक वासुदेव और काशिराज में ऐक्य स्थापित किया गया है। इसमें पौण्ड्रक की राजधानी काशी बतलायी गयी है। इसके आगे का वर्णन ब्रह्म०, विष्णु० तथा भागवत से समानता रखता है।

पौण्ड्रकवध के प्रसग में अन्य पुराणो में मिलनेवाला काशीदाहवर्णन हरिवंश में नही मिलता। काशिराज का उल्लेख भी हरिवश के इस प्रसग में नही है। हरिवंश में काशीदाहवर्णन तथा काशिराज का आश्चर्यजनक अभाव इस पुराण के कृष्ण-चरित्र को पुन अन्य पुराणो की परम्परा से भिन्न सूचित करता है।

अन्य पुराणो में[2] आनेवाले कृष्ण के मानवदेहत्याग तथा द्वारका के समुद्रमज्जन का वृत्तान्त हरिवश में पूर्णत उपेक्षित है। हरिवश के केवल एक स्थल पर[3] नारद के द्वारा कृष्ण के पराक्रम के वर्णन के प्रसग में उनके मानवदेहत्याग की ओर सकेत किया गया है। इसमें भविष्य में आनेवाली घटना के रूप में कृष्ण के द्वारा द्वारका को आत्मसात् करके समुद्र में निमज्जित करने का उल्लेख है[4]।

हरिवश में यह भाग[5] बाद में जोडा गया प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि हरिवश में इस घटना का उल्लेख किसी अन्य भाग में नही है। यह घटना लगभग इन्ही शब्दो में महाभारत वनपर्व[6] में मिलती है। सम्भवत हरिवश[7] ने इस प्रसग की प्रेरणा वनपर्व से ली है।

हरिवश में द्वारका के जलमग्न होने तथा कृष्ण के मनुष्यदेहत्याग के वृत्तान्त के अभाव में रूबेन का कथन महत्त्वपूर्ण है[8]। उनके अनुसार महाभारत के खिल होने के कारण हरिवश में महाभारत मौसलपर्व की इस विस्तृत घटना का उल्लेख नही हुआ है। हरिवश का प्रारम्भिक रूप महाभारत का खिल होने के कारण महाभारत

१. पद्म० उत्तर० २७८
२. ब्रह्म० २१०–२१२; विष्णु० ५ ३७; भागवत ११. १–३०; ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्ण० १२७, पद्म० उत्तर० २०९
३. हरि० २. १०२
४. हरि० २. १०२ ३१–३५
५. हरि० २. १०२. ३१–३५
६. महा० ३. १२. ३५
७ हरि० २. १०२. ३१–३५.
8. Ruben : JAOS Vol. 61 p. 120.

में विस्तृत रूप से वर्णित द्वारका के विनाश के वृत्तान्त की उपेक्षा करता ज्ञात होता है। आवृत्ति का भय ही सम्भवतः इस प्रसंग की उपेक्षा का कारण है।

हरिवंश का कृष्णचरित्र अनेक पुराणों के कृष्णचरित्र की पृष्ठभूमि है। अतः हरिवंश में कृष्णचरित्र तथा विष्णुभक्ति का प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है। हरिवंश के अनेक प्रसंग समस्त साहित्यों में कृष्ण के अस्पष्ट चरित्र को आलोकित करते हैं। अन्य वैष्णव पुराणों से भिन्न हरिवंश की यह विशेषता इस पुराण के कृष्णचरित्र को महत्त्व देती है।

तीसरा अध्याय

प्रक्षिप्त प्रसंग

पुराण किसी युगविशेष तथा व्यक्तिविशेष की रचनाएँ नहीं हैं। सुदीर्घ काल से अनेक व्यक्ति इन के निर्माण, परिवर्त्तन और परिवर्धन में भाग लेते रहे हैं। महामुनि व्यास[1] के अतिरिक्त सूत[2] लोगों ने भी इनके निर्माण में योग दिया है। पुराणों में पाये जानेवाले वक्ता और श्रोता (वैशम्पायन–जनमेजय और सौति-शौनक आदि) पुराणों की सामग्री में परिवर्त्तन के लिए उत्तरदायी हैं। सामाजिक अभिरुचियाँ और प्रवृत्तियाँ पुराणों के रूप को बदलती हुई अपना अमिट प्रभाव छोड़ गयी हैं[3]। पुराणों के विविध प्रसग मिलकर इतने एकाकार हो गये हैं कि मूल अशों को पृथक् करना कठिन प्रतीत होता है। सुव्यवस्थित और स्वाभाविक रूप से आगे बढ़नेवाले वृत्तान्तों के प्रवाह के साथ बाद में जोड़े गये ये वृत्तान्त व्यवधान उपस्थित करते हैं। अत पुराणों के समालोचनात्मक अध्ययन के लिए इनके मौलिक तथा प्रक्षिप्त अशों के स्वरूप का तथा प्रक्षिप्त भागों के काल का ज्ञान आवश्यक है।

१. मत्स्य० ५३. ८–९, ६९; विष्णु० ३. ३–६

२. महा० १. ४. १; विष्णु. ३. ४. १०–सूतं जग्राह शिष्यं स इतिहासपुराणयोः।
   विष्णु० ३. ६. १६– प्रख्यातो व्यासशिष्योऽभूत् सूतो वै रोमहर्षणः।
   पुराणसंहितां तस्मै ददौ व्यासो महामुनिः॥

3. R. C. Hazra : Pur. Rec. p. 6—The Purāṇās have not come down to us with their early incorporations, because tradition demanded that they should be re-edited with the changes in society, so that their importance as works of authority might not decrease cf. Matsya 53. 8—9—.

   कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप।
   व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे॥

   cf also Padma (Sṛṣṭi) 1. 49-50; Dbh. 1.3.20; Skanda 5.3 126-181.

पुराणो की भाँति हरिवश में भी प्रक्षिप्त स्थलो की उपस्थिति स्वाभाविक है। हरिवश के हरिवशपर्व में सबसे कम तथा भविष्यपर्व में सबसे अधिक प्रक्षिप्त स्थल मिलते है। नरसिंह स्वामी ने हरिवंश के प्रारम्भिक १–२६ अध्यायो को प्रक्षिप्त बतलाया है[1]। उन्होने हरिवश और ब्रह्म० के समानान्तर पाठ के आधार पर इन दोनों पुराणो के मौलिक तत्त्व की एकता का समर्थन किया है। इस मूल पाठ के अतिरिक्त इन दोनों पुराणो के अत्युक्तिपूर्ण स्थल प्रक्षिप्त हैं[2]। नरसिंह स्वामी ने हरिवश और मत्स्य की यादव वशावली के आधार पर इन दोनो पुराणो के मौलिक पाठ की समानताओ का उल्लेख किया है[3]। हरिवश के अधिकाश भाग ब्रह्म०[4] तथा बहुत सीमित भाग मत्स्य०[5] से समानता रखते है।

श्राद्ध-माहात्म्य

हरिवश हरिवशपर्व १–१५ अध्याय परस्पर सबद्ध है। इन अध्यायो में सृष्टि की उत्पत्ति, मन्वन्तरगणना, वैवस्वत मनु की उत्पत्ति और उनसे उद्भूत सूर्यवश का वर्णन अन्य उपाख्यानो से विच्छिन्न न होकर अबाध गति से आगे बढता है। यहाँ पर विवस्वान् सूर्य को कश्यपपुत्र कहा गया है[6]। विवस्वान् के पुत्र मनु-वैवस्वत 'श्राद्धदेव' भी कहे गये हैं[7]। वैवस्वत मनु को श्राद्धदेव क्यों कहा गया है, इसका विश्लेषण हरिवशपर्व १५ के अन्त तथा १६ के प्रारम्भ में मिलता है। यहाँ वैवस्वत मनु के प्रति 'श्राद्धदेव' विशेषण की आवृत्ति हुई है।[8] हरिवश पर्व १६ के प्रारम्भ में जनमेजय वैशम्पायन से वैवस्वत मनु के श्राद्धदेवत्व का कारण तथा श्राद्ध-

1. JVOI. Vol. 6. 1945 p. 70—Hariv., text 1-26 is supposed to be an interpolation, disturbing the connection in parallelism with the other Puranas.
2. JVOI. Vol. 6. 1945. p. 24.
3. JVOI. Vol 6. 1945. p. 59.
४. हरि० १.१-२, ९-१५, २५-३९, १४०-१४१. ब्रह्म० १-२. ६–१७ १७९, २१२
५. हरि० १.८१. ३१-३८, ४३-४८; मत्स्य० ९.४३-५०, १६८-१७८.
६. हरि० १.९.१
७. „ १. ९. ८—मनुर्वैवस्वतः पूर्वं श्राद्धदेवः प्रजापतिः।
८. „ १. १५. ३७—श्राद्धदेवस्य देवस्य प्रजानां पुष्टिदस्य च।

विधि पूछते है[१]। जनमेजय के प्रश्न के पहले भाग का कोई उत्तर नही मिलता। प्रश्न का श्राद्धविधि-विषयक दूसरा भाग हरिवंश पर्व १६–१९ अध्यायो में विस्तार-पूर्वक वर्णित है। इस प्रसग के अन्तर्गत भीष्म के द्वारा युधिष्ठिर को श्राद्ध का माहात्म्य समझाया गया है। श्राद्ध-माहात्म्य में भीष्म के द्वारा पितरो को पिण्डदान, तथा पिण्ड-ग्रहण के लिए शान्तनु का हाथ फैलाना और श्राद्ध की रीति का अनुसरण करते हुए भीष्म के द्वारा पिण्ड को हाथ में न देकर वेदी पर रखना वर्णित है। श्राद्धमाहात्म्य-विषयक यह वृत्तान्त लगभग इसी रूप में महाभारत[२] में मिलता है। हरिवंश पर्व १–१५ अध्यायो के अन्तर्गत वश-वर्णन के मौलिक पौराणिक प्रसग से श्राद्धमाहात्म्य-सम्बन्धी स्थल बहुत अर्वाचीन ज्ञात होते हैं। अत हरिवंश प० १६–१९ अध्यायों में श्राद्ध-माहात्म्य का प्रसग प्रक्षिप्त है।

हरिवंश पर्व १७–१८ में सनत्कुमार के द्वारा मार्कण्डेय के प्रति पितरो की सेवा और उससे प्राप्त फल का वर्णन है। हरिवंश पर्व १९–२४ में दुष्कर्मों के फलस्वरूप भरद्वाज के पुत्रो के योगभ्रष्ट हो जाने से प्राप्त उनके विविध जन्मो और कर्मों का वर्णन है। योगभ्रष्ट होने के कारण भरद्वाज के पुत्र कौशिकात्मज कहलाये[३]। विविध जन्मो के दीर्घकालिक चक्र के बाद पितृपूजा के फलस्वरूप सातवाँ कौशिकपुत्र ब्रह्मदत्त हुआ[४]। ब्रह्मदत्त को अणुह का पुत्र तथा काम्पिल्य का राजा कहा गया है[५]। ब्रह्मदत्त और पूजनीया पक्षी का वृत्तान्त इस समस्त अध्याय में विस्तार के साथ वर्णित है। श्राद्धमाहात्म्य के अन्तर्गत ब्रह्मदत्त और पूजनीया का यह वृत्तान्त शैली तथा सामग्री की दृष्टि से प्राचीन प्रतीत होता है। ब्रह्मदत्त-पूजनीया का प्रसग महाभारत[६] के अतिरिक्त किसी अन्य पुराण में नही मिलता[७]। इस कारण तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा इस वृत्तान्त

१. हरि० १. १६ १
२ महा० १२. २७६. ६-१२
३. हरि० १. १९. १-४
४. हरि० १. २०. ३
५. हरि० १. २०. ३–४
६. महा० १२. १२९
७. यद्यपि विभ्राज (अणुह–हरियश) के पुत्र 'सत्वरतत' ब्रह्मदत्त और पिपीलिका का वृत्तान्त निम्नलिखित पुराणों में समानता रखता है—हरि० १. २४; मत्स्य० २०. २३–३८; पद्म० सृष्टि० १०. ६८–१२७

की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता का ज्ञान नही होता। महा० शान्तिपर्व अर्वाचीन पर्वों में माना जाता है। शान्तिपर्व में इस वृत्तान्त की उपस्थिति अवश्य हरिवश को इसका मूलस्रोत सूचित करती है। इस पर्व में ब्रह्मदत्त-पूजनीया का प्रसग हरिवश से अधिक विशद है। पूजनीया का ब्रह्मदत्त को उपदेश हरिवश में पाये गये इसी उपदेश से विस्तृत है[1]। अत यह प्रसग हरिवश से प्रभावित होने के कारण उत्तर-वर्ती ज्ञात होता है। ब्रह्मदत्त-पूजनीया वृत्तान्त हरिवश का एक प्राचीन वृत्तान्त है।

विन्टरनित्स पूजनीया और ब्रह्मदत्त के वृत्तान्त की प्राचीनता तथा हरिवश में उसके अविकृत रूप से सहमत है। उनके अनुसार मनुष्य की बोली में बोलने तथा मनुष्यवत्-आचरण करने वाले पक्षी से राजा के निकट सम्बन्ध का सूचक यह वृत्तान्त महत्वपूर्ण है[2]।

श्राद्ध-माहात्म्य के प्रसग में भीष्म को सातवें कौशिक पुत्र ब्रह्मदत्त का वृत्तान्त बता कर मार्कण्डेय अपना सवाद समाप्त कर देते हैं। मार्कण्डेय के मुख से सुने गये ब्रह्मदत्त के वृत्तान्त को भीष्म युधिष्ठिर के प्रति विस्तारपूर्वक सुनाते है। इस अध्याय के अन्त में स्वय भीष्म युधिष्ठिर की श्राद्ध-विषयक जिज्ञासा शान्त करने के लिए इस प्राचीन वृत्तान्त को उपयोगी समझते हैं[3]। अन्य स्थल में मार्कण्डेय के द्वारा कौशि-कात्मजो के इस वृत्तान्त की पूर्वकालीनता सूचित की गयी है[4]। इन प्रमाणो के आधार पर हरिवश के इस वृत्तान्त की प्राचीनता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

ब्रह्मदत्त-पूजनीया के प्राचीन वृत्तात का श्राद्धमाहात्म्य के अर्वाचीन प्रसग से सम्मिलन किस प्रकार सम्भव है, यह एक प्रश्न है। महाभारत में पूजनीया का वृत्तान्त स्वतन्त्र रूप में मिलता है[5]। ज्ञात होता है, हरिवश का प्राचीन वृत्तान्त अर्वाचीन काल में

१. महा० १२. १२९. ५२–७०, ७२–१०७
2. Winternitz : His. Ind. Lit. Vol. 1. p. 473.
३. हरि० १. २०. १३९–१४२–
इत्येतत्ते मया ख्यातं पुराभूतमिद नृप। ब्रह्मदत्तस्य राजेन्द्र यद्वृत्तं पूजनीयया॥
श्राद्ध च पृच्छसे यस्मा, युधिष्ठिर महामते॥
अतस्ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
गीतं सनत्कुमारेण मार्कण्डेयाय पृच्छते॥
४. हरि. १. २१. ३–यत्प्राप्तं ब्राह्मणैः पूर्वं तन्निबोध महामते।
५. महा० १२. १२९

विविध साम्प्रदायिक सामग्री के मिश्रण के समय श्राद्धमाहात्म्य को प्रामाणिकता देने के लिए जोड दिया गया है। श्री हाज़रा ने पुराणों में स्मृतिसम्बन्धी सामग्री के मिश्रण *का काल २००–७०० ई० तक माना है*[१]*। स्मृतिसामग्री के अन्तर्गत श्राद्धकल्प भी* आता है[२]। श्राद्धमाहात्म्य से सम्बद्ध यह प्रसग चतुर्थ शताब्दी के लगभग का माना जा सकता है।

हरिवशपर्व में श्राद्धमाहात्म्य-सम्बन्धी स्थल राजवशवर्णन तथा ब्रह्मदत्त-पूजनीया के वृत्तान्त से बहुत उत्तरकालीन होने के कारण प्रेक्षिप्त है। मत्स्य[३], और पद्म[४] के श्राद्ध-कल्प से हरिवश के श्राद्धकल्प के साम्य से पुराणगत सर्वसाधारण स्मृतिसामग्री का बोध होता है। वायु[५], विष्णु[६] तथा अग्नि[७] के श्राद्धकल्प की शैली पूर्वोक्त पुराणो के श्राद्ध-कल्प की शैली से भिन्न और अर्वाचीन है। इनमें भरद्वाज के सात पुत्रो तथा उनके जन्मान्तरो का उल्लेख नही है। इन पुराणो में विहित श्राद्धविधि विविध आचार तथा नियमो के विशद-विवरण प्रस्तुत करने के कारण हरिवश और पूर्वोक्त पुराणो से उत्तरकालीन ज्ञात होती है। हरिवश में वर्णित श्राद्धकल्प ब्रह्मदत्त-पूजनीया के वृत्तान्त तथा राजवशवर्णन से उत्तरकालीन एव वायु, विष्णु और अग्नि के श्राद्धकल्प से पूर्वकालीन है।

1. R. C. Hazra . Pur. Rec p 188
2. R. C. Hazra : Pur. Rec p 188—The Purāṇās dealt only with those topics on Hindu rites and customs which formed the subject matter of the early Śruti Samhitās, such as those of Manu and Yajñavalkya (these topics are Varnaśrama Dharma—Ācāra, Āhnik, Bhakshyābhakshya, Vivāha, Āsanca, Srāddha etc)

३. मत्स्य० १३–२२

४. पद्म० सृष्टि० ९–११

५. वायु० ३०—आनन्दाश्रम ग्रन्थावली। ग्रन्थांक ४९. हरिनारायण आपटे द्वारा पूना में मुद्रित।

६. विष्णु० ३. १३–१६

७ अग्नि० ११७. ग्रन्थांक ४१ आनन्दाश्रम प्र०।

आर्या एकानशा

हरिवश विष्णुपर्व के प्रारम्भ में आर्या एकानशा का प्रसग विष्णुपर्व के अन्तिम भाग की आर्या से भिन्नता रखता है। इस विषय में विस्तृत विवरण 'सामाजिक रूपरेखा' नामक अध्याय में है[१]। विष्णुपर्व के प्रारम्भ तथा अन्त में आर्या के स्वरूपो के तुलनात्मक परीक्षण के द्वारा प्रक्षिप्त भाग को मूलभाग से पृथक् करने के लिए इस अध्याय में पुन यह विषय लिया गया है।

विष्णुपर्व के प्रारम्भ में एकानशा का मानवी रूप प्रधान है। यहाँ वे 'नन्दगोपसुता'[२], 'बलदेवभगिनी',[३] 'ब्रह्मचारिणी' तथा 'ब्रह्मवादिनी'[४] कही गयी है। दो हाथो से सुशोभित सुन्दर शरीर उनके मानवी रूप को पूर्णता प्रदान करता है[५]। एकानशा को कृष्ण के आदेश से विन्ध्यपर्वत पर मोरपखो से अलकृत विचित्र वेशभूषा में भूतगणों के बीच विचरण करते हुए कहा गया है। यहाँ भी एकानशा के कौमार्यरूप का उल्लेख हुआ है[६]। एकानशा के लिए 'जननी सिद्धसेनस्य'[७] का विशेषण उनके कौमार्यरूप का विरोधी है। सम्भवत: एकानशा के मातृरूप को महत्त्व देने के लिए 'जननी सिद्धसेनस्य' के विशेषण का प्रयोग किया गया है।

आर्या एकानशा के द्वारा शुम्भ-निशुम्भ नामक दैत्यो का वध उनके दुर्गारूप का परिचय देता है[८]। किन्तु दुर्गा का शिवपत्नीत्व एकानशा के स्वरूप से पूर्णत भिन्न ज्ञात होता है। इस प्रसग में विन्ध्यपर्वतो पर शबर, वर्वर और पुलिन्दो से पूजित, मुर्गी, बकरी, भेड, सिह तथा व्याघ्रो से आवृत ब्रह्मवादिनी आर्या के रूप के ही दर्शन होते है[९]।

शम्बरवध के पहले प्रद्युम्न के द्वारा देवी की स्तुति[१०] में शुम्भनिशुम्भ-मन्थन, विन्ध्यपर्वत पर निवास, तथा 'एकानशा' विशेषण प्रारम्भिक आर्या के स्वरूप का

१. पाँचवें अध्याय का प्रारंभ देखिए।
२. हरि० २. ३. ११ ३. हरि० २. ३. १०
४. ,, २. ३. ३; २. ३. १६
५. ,, २. २. ४०–४४; ४. ३८–४०
६. ,, २. २. ४३–४७
७. ,, २. ३. ३—जननी सिद्धसेनस्य उग्रचारी महाबला।
८. ,, २. २. ५१–तत्र शुम्भनिशुम्भौ द्वौ मानवौ नभचारिणौ।
तौ च कृत्वा मनसि मां सानुगौ नाशयिष्यसि ॥
९. ,, २. ३. ६–८ १०. हरि० २. १०७. ७–१२

ज्ञान कराते हैं। एकानंशा के प्राचीन स्वरूप के साथ ही यहाँ पर दुर्गा के शिवपत्नी-रूप का समन्वय महत्त्वपूर्ण है[1]।

बाणासुर-युद्ध के अवसर पर रक्षा के लिए अनिरुद्ध के द्वारा देवी की स्तुति के अन्तर्गत एकानंशा के स्वरूप में शिवपत्नी रूप मिश्रित दिखलाई देता है। यहाँ देवी के लिए 'आर्या'[2], 'एकानंशा'[3], 'महेन्द्रविष्णु-भगिनी'[4], 'विन्ध्यकैलासवासिनी'[5] और 'निशुम्भशुम्भमथनी'[6] के प्राचीन विशेषणों के साथ 'रुद्रप्रिये'[7] विशेषण उनके पूर्ण महादेवीत्व का परिचय देता है। आर्या के निरन्तर विकासशील रूप में शिव-पत्नीत्व के समन्वय का अन्य प्रमाण विन्ध्यपर्वत के साथ कैलास का नामोल्लेख है।

हरिवंश में विन्ध्यवासिनी आर्या का कौमार्य-रूप शिवपत्नीरूप से प्रारम्भिक होने के कारण विष्णुपर्व २–४ अध्याय प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के स्तुतिपरक अध्यायों[8] से पूर्ववर्त्ती हैं। देवी के स्वरूपों के विकास के आधार पर इन विभिन्न स्थलों का पौर्वापर्य लगभग निश्चित हो जाता है।

रामावतार-वर्णन और रामायण

हरिवंशपर्व ४१ में दशावतारों के अन्तर्गत रामावतार का वर्णन है। यहाँ राम का चरित्र संक्षिप्त रूप में मिलता है[9]। संक्षिप्त रामावतार के अन्त में लिखी गयी गाथा इस आख्यान के प्राचीन स्वरूप का परिचय देती है[10]। रामावतार के इस

१. हरि० २. १०७. ६–७ ओम् नमः कात्यायन्यै गिरीशायै नमो नमः।
नमः शत्रुविनाशिन्यै नमो गौर्यै शिवप्रिये।

२. „ २. १२०. ४–देवीमार्यां लोकनमस्कृताम्।

३. „ २. १२०. १५–एकानंशां सनातनाम्।

४. „ २. १२०.६–महेन्द्रविष्णुभगिनीं नमस्यामि हिताय वै।

५. „ २. १२०. १७–विन्ध्यकैलासवासिनीम्।

६. „ २. १२०. २०–निशुम्भशुम्भमथनीम्।

७. „ २. १२०. ४७–रुद्रप्रिये महाभागे भक्तानामार्तिनाशिनि।

८. „ २. १०७; १२०. ९. हरि० १. ४१. २१–५५.

१०. „ १. ४१. ५०–५१—श्यामो युवा लोहिताक्षो दीप्तास्यो मितभाषिता।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत्॥

वर्णन में 'रामायण' का उल्लेख नहीं है। विष्णुपर्व ९३ के अन्तर्गत यादवों के द्वारा वज्रपुर-वासियों को 'रामायण महाकाव्य' के अभिनय से मुग्ध करते हुए चित्रित किया गया है[१]। 'वाल्मीकि के गीत'[२] तथा 'रामायण'[३], का उल्लेख क्रमश: हरिवंश के आदि और अन्तिम अध्यायों में है। किंतु यह दोनों अध्याय भूमिका और उपसहार के रूप में बाद में जोड़े जाने के कारण अर्वाचीन हैं। अत. इनमें 'वाल्मीकि के गीत' और 'रामायण' का उल्लेख प्रस्तुत विवेचन की सीमा से बाहर है। हरिवंशपर्व में रामावतार (हरि० १.४१.५०-५१) और विष्णुपर्व के रामायण-महाकाव्य (विष्णु० २ १३ ६) के बीच काल का दीर्घ अन्तर ज्ञात होता है। हरिवंशपर्व में रामावतार रामोपाख्यान की वह अवस्था ज्ञात होती है, जब उसका सकलन और सवर्धन रामायण महाकाव्य के रूप में नहीं हुआ था।

रामोपाख्यान से रामायण महाकाव्य तक विकास के बीच समय का पर्याप्त अन्तर स्वाभाविक है। पाश्चात्य विद्वानों में विंटरनित्स ने इस विचार का समर्थन किया है। विंटरनित्स के अनुसार चौथी से तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व त्रिपिटक के रचना-काल में रामोपाख्यान सर्वज्ञात था, किन्तु रामायण महाकाव्य नहीं[४]। अन्य स्थलों में उन्होंने रामोपाख्यान और रामायण महाकाव्य के बीच समय के दीर्घ अन्तर का उल्लेख किया है[५]। निस्सन्देह रामोपाख्यान रामायण से बहुत पूर्ववर्ती है।

१. हरि० २. ९३. ६—रामायणं महाकाव्यमुद्दिश्यं नाटकीकृतम्।
जन्म विष्णोरमेयस्य राक्षसेन्द्रवधेप्सया॥

२ „ १. १. ६—गीतं च वाल्मीकिमहर्षिणा च।

३. „ ३. १३२. ९५—वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।

4. Winternitz: His. Ind. Lit. Vol. 1. p. 509—All this makes it seem likely that at the time when the Tripitaka came into being (in the 4th and 3rd B.C.) there were ballads dealing with Rāma, perhaps a cycle of such ballads, but on Rāma epic as yet.

5. Winternitz : His. Ind. Lit. Vol. 1. p. 516—The later parts of the Rāmāyana, especially books I. VII are separated from the genuine Rāmāyana of books 2-6 by a long interval of time.

पारिजात-हरण

विष्णुपर्व के कृष्णचरित्र के अन्तर्गत पारिजात-हरण का वृत्तान्त दो स्थलों में मिलता है। विष्णुपर्व ६४ में यह वृत्तान्त अत्यन्त संक्षेप में है। कृष्ण नरकासुर का वध कर के उसके द्वारा हरण किये वलराम के छत्र को लेकर सत्यभामा के साथ इन्द्र के राज्य में प्रवेश करते हैं। वहाँ वे अदिति से आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। स्वर्ग से लौटते समय इन्द्र के उपवन से पारिजात वृक्ष को उखाड कर द्वारका की ओर प्रस्थान करते हैं। स्वय इन्द्र कृष्ण के इस कार्य का अनुमोदन करते हुए दिखाये गये हैं[1]। कृष्ण के कार्य के लिए इन्द्र तथा शची का कृतज्ञतापूर्ण अनुमोदन तर्कसगत है। कृष्ण ने देवताओं के शत्रु नरकासुर का वध कर के इन्द्र का उपकार किया था। नरकासुर के द्वारा बलात्कार से लाये गये वरुण के छत्र को पुन स्वर्ग में पहुँचा दिया था[2]। उनके इन परोपकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप इन्द्र और शची की प्रसन्नता उनके क्रोध से अधिक स्वाभाविक है। इस स्वाभाविक तथ्य को अत्यन्त सक्षेप में प्रस्तुत करना ही इस प्रसग की विशेषता है।

हरिवश में पारिजातहरण के अन्तर्गत यह प्रसग पुराणो में पाये जाने वाले पारिजातहरण के सामान्य वृत्तान्त से भिन्न है। लगभग सभी वैष्णव पुराणो में पारिजात-निबन्धन हरिवश के इस पूर्वोक्त प्रसग से नितान्त भिन्न रूप में मिलता है। इन पुराणो में कृष्ण सत्यभामा के इन्द्रलोक पहुँचने पर सत्यभामा की शची के प्रति ईर्ष्या, पारिजातहरण के लिए कृष्ण की प्रतिज्ञा, कृष्ण-इन्द्र-युद्ध और अन्त में इन्द्र की पराजय का उल्लेख है[3]। विष्णुपर्व ६५–८१ में पारिजातहरण का यही विशद प्रसग वर्णित है। विष्णुपर्व ६५-८१ में पारिजातवृक्ष की प्राप्ति के वाद सत्यभामा के व्रतविशेष—पुण्यकव्रत का वर्णन है[4]। यह व्रत सत्यभामा के द्वारा कृष्ण की दीर्घायु के लिए किया गया है। पुण्यकव्रत नाम हरिवश के अतिरिक्त अन्य पुराणो में नही मिलता।

१. हरि० २. ६४. ६८–७०—उत्पाट्यारोपयामास विष्णुस्तं गरुडोपरि।
  „ २. ६४. ७०—श्रुत्वा स देवराजस्तु कर्म कृष्णस्य तत्तदा।
    अनुमेने महाबाहु कृतकर्मेति चाब्रवीत्॥
२. „ २. ६४. १९.
३. विष्णु० ५. ३०. ३१; ब्रह्म० २०३; पद्म० उत्तर० ९०; भाग १०. ५९. ३८–४०; देवी भाग० ४. २५. २५–२७.
४. हरि० २. ७५. ८१.

किन्तु यह प्रसंग कुछ भिन्नता के साथ अनेक पुराणों में दिखलाई देता है। मत्स्य० में त्रैमासिक व्रत[1] कुछ सीमा तक हरिवंश के पुण्यकव्रत से समानता रखता है। किन्तु इस व्रत का उल्लेख यहाँ पर स्वतन्त्र रूप से हुआ है। पारिजात से इस व्रत का कोई सम्बन्ध नहीं दिखलाया गया है। पद्म० में तुलापुरुषदान पुण्यकव्रत से बहुत कुछ समानता रखता है। नारद ने सत्यभामा के अखण्ड सौभाग्य के लिए दान की यह विधि बतायी थी। पुण्यकव्रत की भाँति ही कृष्ण यहाँ पर कल्पवृक्ष सहित नारद को दान-रूप में दिये जाते हैं[2]।

विष्णुपर्व ६५–७५ में पारिजात का वृत्तान्त विस्तार के साथ वर्णित है। विशद होने के कारण यह वृत्तान्त विष्णुपर्व ६४ के पारिजात के वृत्तान्त से ही अर्वाचीन नहीं, वरन् स्वतन्त्र रूप से भी एक अर्वाचीन प्रसंग ज्ञात होता है। पारिजातहरण के अन्तर्गत दो स्तुतियाँ मिलती हैं। पहली स्तुति इन्द्र और कृष्ण के युद्धोद्योग को देख कर कश्यप ऋषि के द्वारा शिव के प्रति है[3]। दूसरी स्तुति इन्द्र के विरुद्ध संग्राम में शक्ति की प्राप्ति के लिए कृष्ण के द्वारा बिल्वोदकेश्वर महादेव के प्रति है[4]। महादेव के प्रति की गयी स्तुति विष्णु-शिव की एकता को महत्त्व देने वाले अर्वाचीन मत को प्रस्तुत करती का विस्तृत वर्णन[5] इस प्रसंग की अर्वाचीनता का अन्य प्रमाण है।

विष्णुपर्व के पारिजात-हरण का यह प्रसंग अन्य पुराणों के पारिजात-हरण के प्रसंग से बहुत समानता रखता है। इन विविध वैष्णव पुराणों में पाया जाने वाला पारिजात का प्रसंग भी निस्सन्देह अर्वाचीन है।

विष्णुपर्व ६४, और ६५–८१ के पारिजात-हरण के दो वृत्तान्तो में ६५–८१ का वृत्तान्त उत्तरकालीन है। पारिजात-हरण का दूसरा वृत्तान्त इस स्थल में प्रक्षिप्त ज्ञात होता है। यह वृत्तान्त सम्भवतः उस काल का है, जब पारिजात का वृत्तान्त विभिन्न पुराणों से सम्बद्ध हो गया था। पुण्यकव्रत की अर्वाचीन सामग्री हरिवंश के पारिजातहरण के वृत्तान्त की अर्वाचीनता को पुष्ट करती है।

पुण्यकव्रत हरिवंश में स्मृतिसामग्री का प्रतिनिधित्व करता है। इस विषय में विशद विवेचन 'सामाजिक रूपरेखा' नामक अध्याय में किया गया है[6]। पुराणो

१. मत्स्य० २७४. ६–७८. २. पद्म० उत्तर० ९०. ३८–३९.
३. हरि० २. ७२. ४. हरि० २. ७४. ५. हरि० २. ७३–७५.
६. देखिए पाँचवें अध्याय का मध्य।

में स्मृतिसामग्री के मिश्रण का काल हाज़रा ने द्वितीय से छठी शताब्दी तक माना है[1]। पुण्यकव्रत का प्रसग स्मृतिसामग्री का प्रारम्भिक भाग नही ज्ञात होता। इस प्रसग में दान-माहात्म्य के अन्तर्गत रत्न, तिल, धान्य, सुवर्ण आदि के कृत्रिम पर्वतो के दान का उल्लेख है[2]। यही पर लवण, नवनीत, गुड, मधु, सुवर्ण, फल, चाँदी, और औदुम्बर की प्रतिमाओ के दान का विधान है[3]। ब्राह्मणो को धातु तथा मणिमय कृत्रिम पर्वत तथा विविध प्रतिमाएँ और भोज देने का कथन है[4]। पुण्यकव्रत का यह प्रसग अर्वाचीन स्मृतिसामग्री का परिचायक है। अत पुण्यकव्रत-सम्बन्धी स्मृतिसामग्री को चौथी से पाँचवी शताब्दी के बीच का माना जाना चाहिए।

विष्णुपर्व में वज्रनाभ और बाणासुर के वृत्तान्त के बीच ९८–११५ अध्याय विष्णुपर्व के अन्य स्थलो से अर्वाचीन है। यह भाग अनेक कारणो से प्रक्षिप्त ज्ञात होता है। विष्णुपर्व ९७ में वज्रनाभ का वृत्तान्त पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है। विष्णुपर्व ९८ में 'पुनर्विशेपतो द्वारवतीनिर्माणम्' नामक अध्याय के अन्तर्गत द्वारवती के निर्माण के प्रसग (विष्णु पर्व ५८) की आवृत्ति हुई है। विष्णुपर्व ५८ तथा विष्णुपर्व ९८ में प्रस्तुत की गयी स्थापत्यकला में अन्तर है। विष्णुपर्व ५८ की स्थापत्यकला म वास्तुदेवो की स्थापना और उनकी पूजा से सम्बद्ध अश उल्लेखनीय है[5]। विष्णुपर्व ९८ में स्थापत्यकला का अधिक विकसित रूप मिलता है। कृष्ण और उनकी पत्नियो के प्रासादो के विविध नाम इस अध्याय में पारिभाषिक (Technical) महत्त्व रखते हैं। इन प्रासादो के नाम निम्नलिखित है—प्रवर, भोगवत्, मेरु, पद्मकूल, महाकूट, सूर्यप्रभ, हरितप्रभ, पर, केतुमान् और निरजा[6]। इनमें से कुछ प्रासादो के नाम मत्स्य० में मिलते हैं[7]। अन्य प्रासाद मानसार में वर्णित प्रासादो की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं[8]। विष्णुपर्व ९८ में द्वारवती के पुनर्निर्माण का प्रसग विष्णुपर्व ५८ की स्थापत्यकला से उत्तरकालीन है। अत यह अर्वाचीन स्थल प्रक्षिप्त है।

1. R C. Hazra : Pur. Rec. p. 188.
२. हरि० २. ७९. २३.
३. हरि० २. ७९. २५–२६.
४. हरि० २–७९ २१–५२.
५. हरि० २. ५८. १३–१८.
६. हरि० २. ९८. ४१–५६.
७. मत्स्य० २५३–२५५, २६९–२७०.
८. समरांगण० ५५. ११–८२, ६३. ५; ६३. १५–१६; ५५. १०५; ५८. ७–८.
PKA : Dict Hindu Archi p. 409 ; PKA : Architecture of Mān Vol. 5 p. 25.

ब्रह्मगार्ग्य

विष्णुपर्व १०० के अन्तर्गत सभा में कृष्ण से भेंट करने वाले लोगों में काश्य सान्दीपनि और ब्रह्मगार्ग्य के नाम का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है[1]। ब्रह्मगार्ग्य का उल्लेख विष्णु १०१ में पुन. हुआ है। यहाँ बलराम और कृष्ण को 'ब्रह्मगार्ग्य के द्वारा संस्कृत' बतलाया गया है[2]। इसके पूर्व बलराम और कृष्ण के संस्कारक पुरोहित के रूप में ब्रह्मगार्ग्य का उल्लेख हरिवंश में कहीं भी नहीं मिलता। कृष्ण और बलराम के गुरु के रूप में ब्रह्मगार्ग्य का उल्लेख भागवत, पद्म० और ब्रह्मवैवर्त० में है[3]। ज्ञात होता है, हरिवंश का यह भाग पूर्वोक्त पुराणों के ब्रह्मगार्ग्य-विषयक अर्वाचीन भागों का समकालीन है। हरिवंश के कृष्णचरित्र के प्रारम्भिक भाग में ब्रह्मगार्ग्य की अनुपस्थिति तथा यहाँ पर ब्रह्मगार्ग्य का उल्लेख इस स्थल की प्रक्षिप्तता सूचित करता है।

द्वारका नगरी का समुद्रमज्जन

विष्णुपर्व १०२ में नारद के द्वारा कृष्ण के पराक्रमों का वर्णन है। कृष्ण के पराक्रमों से पृथ्वी में शान्ति स्थापित हो जाने पर भावी घटना के रूप में द्वारका के विनाश की ओर संकेत हुआ है[4]। द्वारका के विनाश का उल्लेख हरिवंश के इस स्थल को छोड़ कर अन्यत्र नहीं दिखलाई देता। द्वारका के विनाश की अनागत घटना को सूचित करनेवाला हरिवंश का एक श्लोक अक्षरशः महाभारत वनपर्व में मिलता है[5]। महाभारत वनपर्व तथा हरिवंश विष्णुपर्व के मिलते-जुलते ये स्थल लगभग समकालीन ज्ञात होते हैं।

१. हरि० २. १००. ५—काश्यं सान्दीपनिश्चैव ब्रह्मगार्ग्यं तथैव च।

२. हरि० २. १०१. ४५-४६—एतौ हि वासुदेवस्य पुत्रौ गुरुसुतोपमौ।
वबृधाते महावीर्यौ ब्रह्मगार्ग्येण संस्कृतौ॥
जन्मप्रभृति चाप्येतौ गार्ग्येण परमर्षिणा।
याथातथ्येन विज्ञाप्य संस्कारं प्रतिपादितौ॥

३. भा० १०. ८. १-१९; पद्म० उत्तर० २७३; ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्म० २२-२४.

४. हरि० २. १०२. ३०-३४.

५. हरि० २. १०२. ३२—कृष्णो भोगवतीं रम्यामृषिकान्तां महायशाः।
द्वारकामात्मसात्कृत्वा समुद्रं गमयिष्यति॥
महा० ३. १२. ३५—तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां महायशाः।
द्वारकामात्मसात्कृत्वा समुद्रं गमयिष्यति॥

विविध वैष्णव पुराणों के कृष्णचरित्र के अन्त में द्वारका के समुद्रमज्जन और यादवों के विनाश का प्रसंग किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है[1]। द्वारका के विनाश का यह प्रसंग ब्रह्मा० में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में है। यही प्रसंग विष्णु, भागवत और पद्म० में विशद हो गया है। महाभारत वनपर्व में भावी घटना के रूप में मिलने वाला द्वारका के विनाश का वृत्तान्त[2] मौसलपर्व के अन्तर्गत विस्तार के साथ मिलता है। हरिवंश में द्वारका-विनाश का अनुल्लेख पुराणो की अर्वाचीन प्रवृत्ति का विरोध करता है। अतः विष्णुपर्व १०२ में द्वारका के विनाश का प्रसंग इस स्थल की अर्वाचीनता सूचित करता है।

विष्णुपर्व १०७ में प्रद्युम्न के द्वारा देवी की स्तुति के अन्तर्गत शक्ति के शिवपत्नी तथा आर्या एकानंशा के रूपों का मिश्रण है[3]। इस सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है।

बलदेवाह्निक

विष्णुपर्व १०९ में 'बलदेवाह्निक' अर्वाचीन शैली का प्रतीक है। शम्बर का वध कर के द्वारका लौटने पर प्रद्युम्न ने आत्मरक्षा के लिए बलदेव से किसी स्तोत्र को सीखने की इच्छा प्रकट की[4]। प्रद्युम्न के भय को दूर करने के लिए बलदेव ने इस आह्निक का पाठ किया। इस आह्निक के अन्तर्गत सप्तसागर, चारो दिशाओ में प्रवाहित होनेवाली नदियो, विविध तीर्थों, देवी-देवताओ, लोकपालों, वसुओं, ऋषिगणों और समुद्र के रत्नो का रक्षा के लिए आवाहन किया गया है[5]। यहाँ पर गिनाये गये नामो का आवाहन तीर्थ-माहात्म्य तथा देवी-देवताओ के पूजन से प्रभावित ज्ञात होता है। हरिवंश में पुण्यकव्रत के प्रसंग को छोड कर अन्य स्थलो में तीर्थमाहात्म्य और बहुदेवपूजा-विषयक सामग्री का अभाव इस स्थल की अर्वाचीनता को सूचित करता है।

१. ब्रह्म० २१०–२१२; विष्णु० ५. ३७–३८; भाग० ११. १, ६, ३०–३१; देवी भाग० ४.२५.

२. महा० ३. १२. ३५

३. हरि० २. १०७. ६–१३.

४. हरि २. १०९. ५—कृष्णानुज महाभाग रोहिणीतनय प्रभो।
किंचित्स्तोत्रं मम ब्रूहि यज्जप्त्वा निर्भयोऽभवम्॥

५. हरि० २. १०९.

द्विविद-वध

विष्णुपर्व ११५ में वैशम्पायन राजा जनमेजय को कृष्ण के विभिन्न पराक्रमो के वृत्तान्त सुनाते है। वासुदेव के द्वारा मैन्द और द्विविद नामक वानरो का वध इन पराक्रमों में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण को युद्ध में इन वानरों का विजेता कहा गया है[1]। कृष्ण के द्वारा मैन्द और द्विविद नामक वानरो के वध का उल्लेख हरिवश के अन्तर्गत कृष्ण के पूर्वोक्त चरित्र में कही भी नही हुआ है। मैन्द-द्विविद वानरो के वधकर्त्ता के रूप मे कृष्ण का उल्लेख विचारणीय है।

मैन्द और द्विविद नामक क्रूर वानरो का उल्लेख अनेक पुराणो के कृष्णचरित्र में है। इन सभी पुराणो में मैन्द और द्विविद वानरो के वधकर्त्ता बलराम कहे गये है[2]। मैन्द-द्विविद के द्वारा यादवस्त्रियो के अपमान को देख कर बलराम ने मैन्द और द्विविद वानरो का वध किया[3]। इन पुराणो में पाया जाने वाला यह वृत्तान्त बहुमत से समानता रखता है। हरिवश में मैन्द और द्विविद से सम्बद्ध कृष्ण का वृत्तान्त इन सभी पूर्वोक्त पुराणो की प्रवृत्ति से भिन्न है। ज्ञात होता है, पुराणो में दीर्घकाल से प्रचलित मैन्द-द्विविद तथा बलराम का सम्बन्ध हरिवश के इस स्थल पर बदल गया है। सम्भवत कृष्ण का महत्त्व दिखाने के लिए यह पराक्रम जानबूझ कर कृष्ण के चरित्र में सक्रान्त कर लिया गया है। इस कारण हरिवश का यह अध्याय बलराम और मैन्द-द्विविद को साथ दिखानेवाले अन्य पुराणो के स्थलो से अर्वाचीन है।

हरिवश के इन अन्तर्गत-प्रमाणो के आधार पर विष्णुपर्व ९८—११५ अध्याय पक्षिप्त ज्ञात होते है। वज्रनाभ और बाणासुर के वृत्तान्तो के बीच की यह सामग्री निस्सन्देह अर्वाचीन है।

हरिवश के कालनिर्धारण के लिए इस पुराण के प्रत्येक पर्व का कालविभाजन किया गया है। इस अध्याय में भविष्यपर्व हरिवश के सभी पर्वों से उत्तरकालीन माना गया है[4]। भविष्यपर्व में प्रक्षिप्त स्थलो की सख्या बहुत अधिक है।

१. हरि० २. ११५. २०—२१—वानरौ च महावीर्यौ मैन्दो द्विविद एव च।
विजितौ युधि दुर्धर्षौ।
२. विष्णु० ५. ३६; ब्रह्म० २०९; भाग० १०. ६७.
३. „ ५. ३६. ५—२३; भाग० १०. ६७. २—२७.
४. "कालनिर्णय" पृ० २०५, २२८.

बदरिकाश्रम मे कृष्ण का तप

विष्णुपर्व में कृष्ण के पुत्रो का वृत्तान्त भविष्यपर्व में दूसरी दिशा की ओर अग्रसर हुआ है। विष्णुपर्व में रुक्मिणी-हरण के बाद रुक्मिणी के दस पुत्रो के जन्म का वर्णन है[1]। इसके अगले अध्याय विष्णुपर्व २ ६१ में रुक्मि की कन्या वैदर्भी से कृष्ण-रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न के विवाह का वर्णन है[2]। प्रद्युम्न तथा वैदर्भी से अनिरुद्ध नामक पुत्र का जन्म बतलाया गया है[3]। रुक्मि की पौत्री रुक्मवती से पुन अनिरुद्ध के विवाह का उल्लेख है[4]।

विष्णुपर्व ९१–९७ अध्याया में प्रद्युम्न तथा प्रभावती के विवाह का प्रसग है। विष्णुपर्व में रुक्मिणी तथा कृष्ण के विवाह के बाद कृष्ण के पुत्रो और पौत्रो के जन्म तथा अन्त में विवाह का वृत्तान्त व्यवस्थित रूप से आगे बढता है।

भविष्यपर्व में विष्णुपर्व के पूर्व-वृत्तान्त का विरोध दिखलाई देता है। भविष्य० ७३ में पुत्र की प्राप्ति के लिए कृष्ण के प्रति रुक्मिणी की प्रार्थना का वर्णन है[5]। रुक्मिणी की भक्ति से प्रसन्न कृष्ण उनकी कामना-पूर्ति का वचन देते हैं। वे पुत्र की प्राप्ति के लिए बदरिकाश्रम जा कर शिव का तप करने का निश्चय करते हैं[6]। बदरिकाश्रम में कृष्ण और शिव की भेंट का वर्णन है[7]। इस प्रसग की समाप्ति कृष्ण और शिव की परस्पर प्रशसा और स्तुति में होती है[8]। अन्त में शिव कृष्ण को सूचित करते हैं कि कामदेव उनके पुत्र प्रद्युम्न के रूप में जन्म लेनेवाले हैं[9]।

१. हरि० २. ६०. ३६–३९—तस्यामुत्पादयामास पुत्रान् दश महारथान्।
चारुदेष्णं सुदेष्णं च प्रद्युम्नं च महाबलम्॥
सुषेणं चारुगुप्तं च चारुबाहुं च वीर्यवान्।
चारुविन्दं सुचारुं च भद्रचारुं तथैव च॥
चारुं च बलिनां श्रेष्ठं सुतां चारुमतीं तथा।

२. हरि० २ ६१ ३–८.

३ „ २ ६१. ९–१०.

४. हरि० २. ६१. ११–१७.

५ हरि० ३ ७३ १८–२५.

६ हरि० ३. ७३. २५–४५

७ „ ३ ८६

८. „ ३. ८७. ९०.

९ „ ३. ८८. १३—ज्येष्ठस्तव सुतो देव प्रद्युम्नेत्यभिविश्रुत।
स्मरं तं विद्धि देवेश नात्र कार्या विचारणा॥

विष्णुपर्व में रुक्मिणी-विवाह के बाद कृष्णचरित्र स्वाभाविक गति से आगे बढ़ता है। इस पर्व में प्रद्युम्न का जन्म, प्रद्युम्न-वैदर्भी विवाह[१], अनिरुद्ध का जन्म[२], अनिरुद्ध-रुक्मवती विवाह[३], प्रद्युम्न-प्रभावती विवाह[४], प्रद्युम्न-मायावती विवाह[५] तथा अन्त में अनिरुद्ध-उषा विवाह[६] का प्रसग मिलता है। विष्णुपर्व के अन्त में प्रद्युम्न और अनिरुद्ध विषयक वृत्तान्त लगभग समाप्त हो गया है।

विष्णुपर्व की इन घटनाओं के बाद भविष्यपर्व के अन्तिम स्थल में रुक्मिणी की कृष्ण के प्रति पुत्र की कामना की अभिव्यक्ति असगत प्रतीत होती है। पुत्र की प्राप्ति के लिए कृष्ण के तप से सम्बद्ध यह अध्याय विष्णुपर्व में रुक्मिणी-हरण के बाद होने चाहिए। किन्तु यह अध्याय विष्णुपर्व के रुक्मिणीहरण और प्रद्युम्न अनिरुद्ध के विवाह-विषयक प्रसगो के समकालीन नही है। यदि यह अध्याय विष्णुपर्व के इन पूर्वोक्त अध्यायो के समकालीन होते तो प्रद्युम्न आदि के जन्म के पूर्व इनका विवरण आवश्यक था। भविष्यपर्व के विविध वृत्तान्तो के बीच पुत्र-कामना विषयक इन अध्यायो की असगति स्पष्ट दिखलाई देती है।

कृष्ण के द्वारा बदरिकाश्रम में तप के वृत्तान्त की विष्णुपर्व में न हो कर भविष्य-पर्व में उपस्थिति अवश्य कोई प्रयोजन रखती है। सम्भवत यह अध्याय विष्णुपर्व के बहुत काल बाद भविष्यपर्व में जोडे गये हैं। इसी कारण वृत्तान्तो के क्रम का ध्यान न रख के यह अध्याय भविष्यपर्व में रख दिये गये हैं।

कृष्ण के बदरिकाश्रम-गमन के वृत्तान्त की प्रक्षिप्तता के लिए अनेक प्रमाण हैं। इन अध्यायो में साम्प्रदायिक विचारधाराएँ प्रधान रूप में मिलती हैं। कृष्ण के बदरिकाश्रम पहुँचने पर देवता, गन्धर्व और ऋषियो के द्वारा उनकी स्तुति में विष्णु-भक्ति का प्राधान्य[७] दिखलाई देता है। इसी प्रसग में बदरिकाश्रम में तप करते हुए कृष्ण के पास घण्टाकर्ण नामक पिशाच का आगमन और उसके द्वारा कृष्ण की स्तुति का वर्णन है[८]। इस स्तुति में वैष्णवभक्ति-सम्बन्धी साम्प्रदायिक विचार अधिक मात्रा में मिलते

१. हरि० २. ६१. ३–८. २. हरि० २. ६१. ९–१०.
३. " २. ६१. ११–१७. ४. " २. ९१–९७.
५. " २. १०४–१०८. ६. " २. ११८–१२८.
७. हरि० ३. ७६. १३–३०.
८. " ३. ८०. ३८–५३; ५९–८१; ३. ८२.

है[1]। कृष्ण के दर्शन और स्तवन से पवित्र हो कर पिशाच के वैकुण्ठ-गमन[2] में पुन. वैष्णव-मत का प्रतिविम्ब दिखलाई देता है। भविष्यपर्व में रुक्मिणी की पुत्र-कामना के प्रसग के साथ घण्टाकर्ण की मुक्ति का वृत्तान्त इस समस्त स्थल की अर्वाचीनता को सिद्ध करता है।

वदरिकाश्रम में शिव के दर्शन के वाद कृष्ण के द्वारा शिव की विशद स्तुति[3] तथा शिव के द्वारा कृष्ण की स्तुति[4] में वैष्णव और शैव मतो की एकता का प्रयास दिखलाई देता है। इन स्तुतियो में शिव के द्वारा विष्णु तथा शिव के परस्पर अभेद-सम्बन्ध की स्थापना हुई है[5]। वैष्णव और शैव मतो में एकता को स्थापित करने का प्रयास एक अर्वाचीन प्रवृत्ति है। अत यह सम्पूर्ण स्थल अर्वाचीन है।

विष्णुपर्व ८२ के अन्तर्गत घण्टाकर्ण के द्वारा कृष्ण की स्तुति में हरिवंश में न मिलनेवाले कृष्ण के वहुत से वृत्तान्तो की गणना हुई है। कृष्ण के विष्णु-रूप का वर्णन करते हुए घण्टाकर्ण प्राचीन काल में उनके मोहिनी-रूप तथा अमृत-वितरण का उल्लेख करता है[6]। विष्णु के स्वरूप-वर्णन में उनके मोहिनी-रूप का उल्लेख हरिवंश के किसी भाग में भी नही मिलता। ज्ञात होता है, घण्टाकर्ण की स्तुति का यह भाग हरिवंश में अर्वाचीन काल में जोड दिया गया है।

घण्टाकर्ण के द्वारा विष्णु की पूर्वोक्त स्तुति में दुग्ध तथा दधिसम्बन्धी कृष्ण की लीलाओ का उल्लेख है[7]। गोकुल में कृष्ण के दुग्ध तथा दधिपान का उल्लेख हरिवंश के किसी अन्य भाग में नही है। यह वर्णन पूर्व-कथित अर्वाचीनता को पुष्ट करता है।

१. „ ३. ८०. ५९–६०—नमो भगवते तस्मै वासुदेवाय चक्रिणे।
नमस्ते गदिने तुभ्यं वासुदेवाय धीमते॥
ओम् नमो नारायणाय विष्णवे प्रभविष्णवे।
मम भूयात्मन शुद्धिः कीर्तनात्तव केशव॥

२. हरि० ३. ८०. ८२; ३. ८१; ३. ८३.

३. „ ३. ८७. १३–३८; ३. ८८. १८–६७; ३. ९०. २–२८

४. „ ३. ८८. १८–६७; ३. ९०. २–२८

५. हरि० ३. ८८. ६०–६७.

६. हरि० ३. ८२. ९—
आद्यो द्यावर्शभुजेन मन्दरं निर्जित्य सर्वानसुरान्महार्णवे।
दद्यौ च शक्राय सुधामयं महान्स एव सास्तादिह मामवस्थितः॥

७ हरि० ३. ८२. २१—पयपानं सदा कुर्वन् भक्षयन् दधिपिण्डरम्।
बाल्ना बद्धोदरो विष्णुर्मात्रा दधिमया बृहम्॥

घण्टाकर्ण की स्तुति में कृष्ण के पूर्व-चरित्र से एक अन्य भेद मिलता है। यहाँ पर पूतना का उल्लेख दानवी के रूप में हुआ है[1]। दानवी-पूतना का वर्णन लगभग सभी वैष्णव पुराणों में मिलता है[2]। किन्तु हरिवंश विष्णुपर्व के प्रारम्भिक भाग में पूतना शकुनि पक्षी के रूप में चित्रित की गयी है[3]। हरिवंश के कृष्णचरित्र में पूतना का शकुनि-रूप अपनी विशेषता रखता है। सम्भवतः पूतना का पक्षी-रूप उसके दानवी-रूप से पूर्ववर्ती है। भविष्यपर्व से पूर्व-कालीन विष्णुपर्व में पूतना का शकुनि के रूप में चित्रण इस स्वरूप की प्रारम्भिकता का प्रतीक है। पूतना का सर्वस्वीकृत दानवी-रूप उसके शकुनि-रूप से अवश्य अर्वाचीन है।

इन पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर भविष्यपर्व ७३–९० तक का भाग अर्वाचीन ज्ञात होता है। भविष्य० ९१ से कृष्ण के साथ पौण्ड्रक नामक राजा के युद्ध का नवीन वृत्तान्त आरम्भ होता है। अतः भविष्य० ७३–९० का भाग प्रक्षिप्त है।

बदरिकाश्रम में कृष्ण के तप का वृत्तान्त सभी पुराणों का स्वीकृत विषय नहीं है। कुछ वैष्णव पुराणों में यह प्रसंग मिलता है[4]। महाभारत अनुशासन में शिव की आराधना के लिए कृष्ण के कैलासगमन का वर्णन है। वनपर्व में कृष्ण के द्वारा बदरिकाश्रम में १०० वर्ष तक तप करने का उल्लेख है[5]। हरिवंश का यह अर्वाचीन भाग कदाचित् वनपर्व या अनुशासनपर्व से प्रेरणा ग्रहण करता है।

भविष्य ७३–९० के प्रक्षिप्त भाग के काल का निर्णय आवश्यक है। इस प्रसंग में शिव तथा कृष्ण में परस्पर ऐक्य का उल्लेख कालनिर्णय में सहायक होता है। वैष्णव और शैवमत में एकता स्थापित करने का प्रयत्न अर्वाचीन प्रवृत्ति है।

१. ,, ३. ८२. २०—उत्तानशायी शिशुरूपधारी,
पीत्वा स्तनं पूतनिकाप्रदत्तम्।
व्यसुं चकाराशु जनार्दनस्तदा,
दनोः सुता तामवसत्सुख हरिः॥

२. ब्रह्म० १८४. ४२–५२; विष्णु० ६. ७–११; भाग० १०. ६. २–१८; महा० २. ३६. ८०; ब्रह्मवैवर्त्त० कृष्णजन्म० १७.

३. हरि० २. ६. २२–२५. २३—पूतना नाम शकुनी घोरा प्राणभयंकरी।
आजगामार्द्धरात्रे वै पक्षौ क्रोधाद्विधुन्वती॥

४. देवीभाग० ४. २५.　　५. महा० ३. १२. ३५.

अतः साम्प्रदायिक-विचार-प्रधान यह प्रक्षिप्त भाग चतुर्थ शताब्दी के लगभग बाद का हो सकता है।

पौण्ड्रक-वासुदेव तथा हंस और डिम्भक

भविष्य० ९१–१३३ में हरिवंश के सामान्य प्रसंग मिलते हैं। भविष्य० ९१–१०३ में पौण्ड्रक-वासुदेव नामक राजा का वृत्तान्त है। कृष्ण के नाम से सादृश्य के कारण पौण्ड्रक-वासुदेव कृष्ण के वासुदेवत्व को मिटा कर जगत् में केवल अपने नाम को सिद्ध करते हुए दिखलाया गया है[1]। अन्त में पौण्ड्रक तथा कृष्ण के परस्पर युद्ध का वर्णन है जिसमें कृष्ण पौण्ड्रक का वध करते हैं।

भविष्य० १०४–१२९ में हंस तथा डिम्भक का वृत्तान्त है। इस प्रसंग में कृष्ण के द्वारा हंस नामक अभिमानी राजा के वध का उल्लेख है। हंस के वध को देख कर उसका भाई डिम्भक आत्मोत्सर्ग करता हुआ दिखलाया गया है[2]।

पौण्ड्रक वासुदेव का वृत्तान्त अन्य पुराणों के कृष्ण-चरित्र में भी मिलता है। हरिवंश की भांति इन पुराणों में भी इस राजा को पौण्ड्रक-वासुदेव कहा गया है[3]।

हंस और डिम्भक का वृत्तान्त अन्य वैष्णव पुराणों में अनुपस्थित है। महाभारत में हंस-डिम्भक का वृत्तान्त मिलता है। यहाँ डिम्भक को 'सिभक' कहा गया है[4]।

पौण्ड्रक-वासुदेव तथा हंस और डिम्भक के वृत्तान्त अर्वाचीन हैं। इन दोनों वृत्तान्तों में विष्णु-द्वेष पर विष्णुभक्ति की विजय का प्रदर्शन हुआ है। अन्य साम्प्रदायिक विचारों पर विष्णुभक्ति का प्राधान्य एक अर्वाचीन प्रवृत्ति है। अत. यह स्थल उत्तरकालीन साम्प्रदायिक भावना का प्रतिनिधित्व करता है।

हरिवंश भविष्य पर्व के अन्त में अध्याय १३२ और १३४–१३५ की अर्वाचीनता

१. हरि० ३. ९१. ५–६—अहं चक्रीति गर्वोऽभूत्तस्य गोपस्य सर्वदा।
शंखी चक्री गदी शार्ङ्गी शरी तूणी सहायवान् ॥
एवमादिर्महागर्वस्तस्य संप्रति वर्त्तते।
लोके च मम यन्नाम वासुदेवेति विश्रुतम् ॥
अगृह्णान्मम तन्नाम गोपो मदबलान्वितः ॥

२. हरि० ३. १२८–१२९.

३. ब्रह्म० २०७; विष्णु० ५. ३४; भाग० १०. ६६. १–२३; पद्म० उत्तर० २७८.

४. महा० २. १९. २९.

स्पष्ट है। भविष्य पर्व १३२ में महाभारत के प्रत्येक पर्व का श्रवण-फल, तदुपरान्त दानविधि और ब्राह्मणभोज का विधान है। महाभारत के अट्ठारह पर्वों के पाठ के बाद हरिवश के श्रवण का फल अधिक बतलाया गया है। अन्त में हरिवश को महाभारत का खिलपर्व मानते हुए हरिवश की प्रशसा की गयी है[१]।

हरिवश भविष्य० १३४ में इस पुराण की विषयसूची है। हरिवश के वर्तमान रूप को प्राप्त कर लेने के बाद ही इस सूची को जोडा गया होगा, यह निर्विवाद है।

हरिवश भविष्यपर्व १३५ में हरिवश के श्रवण का फल बतलाया गया है। अट्ठारह पुराणो के श्रवण से जो फल मिलता है, वह हरिवश के श्रवण से प्राप्त बतलाया गया है[२]। अन्त में हरिवश के वाचक के लिए विविध दानो का विधान है[३]। अट्ठारह पुराणो का निश्चित ज्ञान तथा ब्राह्मणो को दान देने की विधि—यह दोनो ही प्रसग अर्वाचीन है[४]। भविष्य० १३२, १३४–१३५ के सबसे अन्त में जोडे जाने के विषय में कोई भी सन्देह नही रह जाता।

हरिवश के अन्तर्गत विविध सामग्री के काल का विभाजन हरिवश के अन्तर्गत-प्रमाणो पर आधारित है। किसी पुराण के समालोचनात्मक अध्ययन के लिए प्रत्येक भाग के काल का ज्ञान परम आवश्यक है। किसी पुराण में चित्रित सामाजिक दशा के ज्ञान के लिए यह अध्ययन उपादेय सिद्ध होता है।

१. हरि० ३. १३२. २. हरि० ३. १३५. २–४. ३. हरि० ३. १३५. ७–१४.

4. Hazra : Pur. Rec p 3—The second mention of the 'eighteen Purānās' is found in verse 3 of Hariv. 3 135. Though this chapter is found to be one of the two sources of chap. 6 of the Swargārohana It is very doubtful whether it can be placed as early as about 400 A D, the probable date of the Hariv. The chap is not found in many of the Bengal Mss of the Hariv.

चौथा अध्याय

हरिवंश का कालनिर्णय

हरिवंश महाभारत का खिलपर्व है। महाभारत के प्रारम्भ में इसके प्रमाण मिलते हैं। आदिपर्व में पर्वसंग्रहपर्व के अन्तर्गत खिल हरिवश का उल्लेख हुआ है[1]। हरिवंश के प्रारम्भ तथा अन्त में महाभारत से सम्बन्ध का कथन है[2]। महाभारत तथा हरिवंश के इन अन्तर्गत कथनों के द्वारा खिल के रूप में हरिवंश का महाभारत से सम्बन्ध सूचित होता है।

महाभारत में शतसहस्र श्लोकों की संख्या हरिवंश के स्वरूप तथा काल के विषय में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। महाभारत के एक लाख श्लोक अट्ठारह पर्वों के साथ हरिवंश का भी समावेश करते हैं। चौबीस हजार श्लोकों से युक्त भारत के लिए 'महाभारत' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आश्वलायन गृह्यसूत्र में हुआ है[3]। हॉपकिन्स आश्वलायन गृह्यसूत्र को गृह्यसूत्रों में अन्तिम मानते हैं। अन्य गृह्यसूत्रों में 'महाभारत' के उल्लेख का अभाव उनके इस विचार को पुष्ट करता है[4]। ज्ञात होता है, गृह्यसूत्रों के काल तक महाभारत का वर्तमान रूप लगभग निश्चित हो चुका था।

महाभारत का उल्लेख गृह्यसूत्र के पूर्ववर्ती साहित्य में भी हुआ है। शान्तिपर्व में महाभारत को इतिहासपुराण कहा गया है[5]। छान्दोग्य० में इतिहास-पुराण के पंचम वेदत्व की सूचना दी गयी है, किन्तु महाभारत का उल्लेख नहीं हुआ है[6]।

१. महा० १. २. २५६–२५७—अधिक पाठ (पी० पी० एस० शास्त्री संस्करण)
२. हरि० १. १. २–७, ५. १२–१७; ३. १३२. ९०–९४.
3. Proceedings & The Trans. of the First Oriental Conf. Poona, p. 51—The tradition of a Bhārata & as also of a Mahābhārata may reasonably be presumed to be known to the author of the Āśva. Gr. Sūtra from the beginning.
4. Hopkins : GEI. p. 389-390.
५. महा० १२. ३०२. १०९—यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे यच्चेतिहासेषु महत्सुदृष्टम्।
६. छांदोग्य० ७. १. १.

पाणिनि अष्टाध्यायी में भारती कथा के विविध पात्रो से परिचित हैं[१]। ज्ञात होता है पाणिनि के काल में भी महाभारत की कथा का कोई न कोई रूप प्रचलित था[२]।

प्राचीन ग्रन्थो में महाभारत का उल्लेख और हरिवश के नाम का अभाव कारण-विशेष की ओर सकेत करता है। महाभारत का खिल होने के कारण हरिवश सम्भवत प्रारम्भ में स्वतन्त्र सत्ता नही रखता था। महाभारत के अन्तर्गत हरिवश का अन्तर्भाव स्वाभाविक है। हरिवश की स्वतन्त्र सत्ता के अभाव के कारण ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो में इस पुराण की उपस्थिति का निषेध नही किया जा सकता। हरिवश में मिलने वाले आख्यान तथा उपाख्यान ब्रह्म० से समानता रखने के कारण अत्यन्त प्राचीन ज्ञात होते हैं। इन आख्यानो तथा उपाख्यानो की तात्विक समानता किसी प्राचीन स्रोत से प्रेरणा-ग्रहण सूचित करती है। अत प्राचीन साहित्य में हरिवश के नाम के अभाव पर भी हरिवश के प्राचीन वृत्तान्तो की सत्ता का निषेध नही किया जा सकता[३]।

१. अष्टा० ४. ३. ९८—वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्।

२. पाणिनि के काल को विद्वानो ने तृतीय शताब्दी ई० पूर्व से सातवीं शताब्दी ई० पूर्व तक स्वीकार किया है (१)। श्री विल्सन ने महाभारत के प्रारम्भिक रूप का संकेत ब्राह्मणकाल में किया है (२)। अतः भारती कथा का प्रारम्भिक रूप इस काल में भी देखा जा सकता है।

(1) Ray Ch : His. Vais. Sect. p. 24-30.

(2) Hopkins : GEI. p. 386, from Episches im Vedischen Ritual p. 8—" Die Māhabhārata—sage reicht somit ihrer Grundlage nach in die Brāhmaṇa Periode hinein."

३. विण्टरनित्स ने महाभारत के वर्तमान रूप को अत्यन्त प्राचीन माना है। उन्होंने पाँचवीं अथवा छठी शताब्दी के किसी दानपत्र में महाभारत के अनुशासनपर्व के दानधर्म के प्रसंग से संगृहीत कुछ उदाहरणों की ओर संकेत किया है। इसी दानपत्र के किसी भाग में उन्होंने एक लाख श्लोकोंवाले महाभारत के उल्लेख की सूचना दी है। एक लाख श्लोकोंवाले महाभारत में शान्तिपर्व तथा अनुशासन पर्वों का ही समावेश नहीं होता, हरिवंश का भी योग स्वीकार करना पड़ता है (१)। विण्टरनित्स ने हॉपकिन्स के द्वारा उल्लिखित शापो-

हरिवंश के मूल आख्यान तथा उपाख्यानों के साथ पौराणिक अर्वाचीन सामग्री का समावेश हरिवंश के आकार की वृद्धि करता है। वैष्णव, शैव तथा शाक्त परम्पराएँ तथा व्रत-माहात्म्य (पुण्यक व्रत) हरिवंश की अर्वाचीन-पौराणिक सामग्री को प्रस्तुत करते हैं। उत्तरकाल में खिल-हरिवंश का विकास निश्चय ही एक स्वतन्त्र पुराण के रूप में हुआ था।

कालनिर्णय पुराणों के अध्ययन का सबसे अधिक कृच्छ्रसाध्य किन्तु महत्त्वपूर्ण

क्रिसॉस्टोमस के कथन के आधार पर महाभारत की स्थिति प्रथम शताब्दी में मानी है। डायो क्रिसॉस्टोमस ने भारत में होमर की कृति तथा इस कृति के पात्र प्रायम की ख्याति की सूचना दी है। डायो क्रिसॉस्टोमस के द्वारा कथित भारत में पायी गयी होमर की कृति से महाभारत का बोध होता है। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर डायो क्रिसॉस्टोमस का भारत में आगमन-काल द्वितीय शताब्दी माना जाता है। इसी कारण प्रथम शताब्दी में महाभारत का वर्तमान रूप प्रामाणिक ज्ञात होता है (२)। विण्टरनित्स के द्वारा प्रस्तुत अन्य लेखकों के कथनों के आधार पर महाभारत का काल चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व से ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक माना गया है (३)।

(1) Wint. : His. Ind. Lit. Vol. 1 p. 464.

(2) Wint. : His Ind. Lit. p. 465—(Hopkins : GEI p. 391)

If Dio Chrysostomouse's statement that even the Indians sang Homer's poems and that they were acquainted with the sufferings of Priam etc., alluded to the Mbh. (as is the view of A. Weber: Ind. Stud. II. 161; Holtzmann : Das Mbh. IV. 163; Pischel: K. G. 195, H. G. Rawlinson : *Intercourse between India and the Western World*, Cambridge, 1916, p. 140, 171) then this statement would constitute our earliest external evidence of the existence of the Mbh. in the 1st. Cen. A.D.

(3) Wint. His. Ind. Lit. Vol. 1 p. 465-466.

विषय है। पुराणविशेष के कालज्ञान के द्वारा तत्कालीन सस्कृति और साहित्य का रूप स्पष्ट हो जाता है। किन्तु पौराणिक विषयसामग्री की समानता इनके कालज्ञान में कठिनाई उत्पन्न करती है। किसी काल में प्रचलित सामाजिक रीतियो, ऐतिहासिक घटनाओं तथा पूर्ववर्ती ग्रन्थो से परिचय के द्वारा पुराण-विशेष का काल निश्चित किया जा सकता है। उत्तरकालीन ग्रन्थो में इन पुराणो के नामोल्लेख तथा उदाहरणो के द्वारा भी पुराण के काल का कुछ ज्ञान हो जाता है। विविध प्राचीन और आधुनिक लेखको के द्वारा पुराणो का कालविषयक मत इस क्षेत्र में कम महत्त्व-पूर्ण नही है। पुराणो के आन्तरिक तथा बाह्य प्रमाण, लेखको के मत तथा पुराणो का तुलनात्मक अनुशीलन पौराणिक अध्ययन के प्रामाणिक आधार हैं। अत हरिवंश का अध्ययन इन चार बातो को ध्यान में रखते हुए किया जाता है।

हरिवंश के आन्तरिक प्रमाण

पुराण के अन्तर्वर्ती होने के कारण अन्त साक्ष्य प्रमाण सर्वप्रथम विवेचन के विषय हैं। इन प्रमाणो की सख्या हरिवंश में बहुत कम है। किन्तु हरिवंश के कालनिर्णय में परम सहायक होने का कारण यह प्रमाण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

हरिवंश के अधिकाश आन्तरिक प्रमाणो से अनेक विद्वान् परिचित हैं। हरिवंश में दीनारक का उल्लेख इसी प्रकार के अन्त साक्ष्य प्रमाणो में से एक है[1]। दीनार का प्रयोग हरिवंश में इन्द्र के द्वारा द्वारकावासियों के प्रति भेजे गये उपहार के लिए हुआ है[2]। दीनार प्रथम तथा द्वितीय शताब्दियो में भारत में प्रचलित होने वाले स्वर्ण के सिक्के हैं[3]। इस आधार पर विद्वानो ने हरिवंश का काल चतुर्थ शताब्दी में निश्चित किया है[4]। किन्तु दीनार तथा उनके भारत में प्रचार के विषय में सीवेल के द्वारा प्रस्तुत किये गये लेख नवीन प्रकाश डालते हैं। सीवेल भारत में दीनारो

1. Majumdar : JRAS. 1908 p. 529. ; A B Keith JRAS 1907 p. 681.
२. हरि० २. ५५. ५०—मायुराणां च सर्वेषां भागा दीनारका दश।
3. Sewell : JRAS. 1904. 591-617.
4. Majumdar. JRAS 1907. 409; A. B Keith· JRAS 1907 p. 681; Hazra Pur. Rec p 23; Farquhar: Rel Lit Ind p. 143.

के प्रचार का काल एक शताब्दी पीछे निश्चित किया है[1]। इस आधार पर हरिवंश का काल तृतीय शताब्दी के लगभग निर्धारित होता है।

दीनारों का उल्लेख हरिवंश में ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। अन्य अनेक प्राचीन पुराणों को छोड़कर दीनार शब्द का उल्लेख केवल हरिवंश में हुआ है। महाभारत, विष्णु तथा भागवत दीनार से परिचय की सूचना नही देते। महाभारत, विष्णु० तथा भागवत में दीनार के अभाव के कारण इन ग्रन्थो के काल को हरिवंश से प्राचीन ठहराया जा सकता है। किन्तु दीनार शब्द ही किसी पुराण के काल-निर्णय का एकमात्र साधन नही है। पुराणो में मिलने वाले अनेक प्रमाणो के द्वारा किसी पुराण की प्राचीनता तथा अर्वाचीनता का निर्णय अधिक तर्कपूर्ण ज्ञात होता है।

हरिवंश के भविष्यपर्व में परीक्षित तथा व्यास के वार्तालाप के प्रसंग में एक अन्य प्रमाण मिलता है। व्यास अश्वमेध यज्ञ के लिए उद्यत परीक्षित को रोककर भविष्य में इस यज्ञ के कर्त्ता का नाम बतलाते हैं। कश्यपवंशी किसी ब्राह्मण सेनानी को कलिकाल में इस यज्ञ का उद्धारक बतलाया गया है।[2] इस सेनानी के लिए प्रयुक्त औद्भिज्ज शब्द की व्याख्या नीलकण्ठ ने 'भूमि से प्रकट होने वाला योगी' की है।[3] किन्तु श्री रायचौधरी ने उद्भिज्ज का अर्थ भूमि से उत्पन्न होने वाली वनस्पति माना है तथा 'औद्भिज्ज' को काञ्ची की पल्लव जाति तथा वनवासी की कदम्बजाति की

1. Sewell. JRAS 1904 p 616 The use of the Roman word *denarius*, *in its form dīnār*, in early *inscriptions* is well known.—Introduced into India as early as the first-century A D, it remained as a word in common use for several years.

२. हरि० ३. २. ३९–४०–उपात्तयज्ञो देवेषु ब्राह्मणेषूपपत्स्यते।
औद्भिज्जो भविता कश्चि-
त्सेनानीः काश्यपो द्विजः।
अश्वमेध कलियुगे,
पुनः प्रत्याहरिष्यति॥

३. हरि० ३. २. ४० टीका–उद्भिद्य जायत इत्यौद्भिज्ज', भूबिलस्थो योगी सन्यमानायां भुवि प्रकटीभविष्यतीत्यर्थ.।

तरह वनस्पति से प्रादुर्भूत सज्ञाविशेष माना है।[1] रे चौधरी ने इस यज्ञ के प्रवर्तक ब्राह्मण सेनानी को शुग राजा पुष्यमित्र कहा है।[2] ऐतिहासिक प्रमाण पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ को प्रामाणिक सिद्ध करते हैं।[3] अत श्री रे चौधरी द्वारा प्रस्तुत यह सिद्धान्त समुचित है।

व्यास तथा परीक्षित के वार्तालाप में औद्भिज्ज सेनानी के प्रसग की तत्त्व-पूर्णता हरिवंश के अन्तर्गत अन्य ऐतिहासिक तथ्य से भी सिद्ध होती है। हरिवश में वर्णित राजाओ की वशावली परीक्षित के बाद पाँचवें राजा अजपार्श्व के जीवन काल में समाप्त हो जाती है।[4] पाडवो के वश में परीक्षित के बाद पाँचवें राजा होने के कारण अजपार्श्व को भारत के सुव्यवस्थित इतिहास के समीप ही समझना चाहिए। वायु० में परीक्षित के बाद के राजाओ की लम्बी वशावली दी गयी है। किन्तु परीक्षित के बाद की वायु० की वंशावली हरिवश से पूर्णत भिन्न है। मत्स्य०, विष्णु०, भागवत तथा ब्रह्माण्ड में परीक्षित के उपरान्त राजाओ की वशावलियाँ वायु० से मिलती-जुलती तथा हरिवंश से भिन्न हैं।[5]

वायु० के अन्तर्गत पुष्यमित्र सेनानी का राज्यकाल स्पष्ट वर्णित है। मगध-राजवशी राजाओं की अनेक पीढियो के बाद पुष्यमित्र सेनानी के द्वारा बृहद्रथ को राजसिंहासन में अधिष्ठित करते हुए कहा गया है।[6] मगधराजवश के प्रथम राजा जरासन्ध को पाण्डवो का समकालीन मान लेने पर मगधवशी पुष्यमित्र सेनानी का काल बहुत उत्तरवर्ती निश्चित होता है। हरिवश के अन्तर्गत परीक्षित तथा व्यास के सवाद में 'औद्भिज्ज' सेनानी को केवल भावी व्यक्ति के रूप में माना गया है। कलिकाल में औद्भिज्ज सेनानी के द्वारा अश्वमेध यज्ञ के प्रत्याहरण की ओर सकेत का अभिप्राय सम्भवत परीक्षित के काल से पुष्यमित्र के काल की दूरी को सूचित करना है। परीक्षित के कुल के प्रथम पाँच राजा पूरवशी है तथा पुष्यमित्र सेनानी

1. Ray Ch. : IC. Vol. 4 p. 363-366.
2. Ray Ch. : IC. Vol. 4. p 363-366.
३. मालविकाग्निमित्र० Intro p. IXX-IXX1; Rapson : Ancient India p. 114.
४. हरि० ३. १. ३–१६
५. वायु० उत्तर० ३७; विष्णु० ४. २१; मत्स्य ५०. ५७–८८.
६. वायु० उत्तर० (अनुषंग०) ३७.

मगध के राजाओं में एक है। पुष्यमित्र सेनानी ने प्राचीन मगध के अन्तिम नृपति का वध करके शुंगवंश की स्थापना की। हरिवंश में औद्भिज्ज सेनानी निश्चय ही वायु० के इस पुष्यमित्र सेनानी का वाचक है।

हरिवंश में औद्भिज्ज सेनानी की भावी राजा के रूप में गणना महत्त्वपूर्ण है। पुष्यमित्र का जीवनकाल द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व माना जाता है।[1] पुराणों में पुष्यमित्र के काल के पूर्व अनेक राजाओं के राज्यकाल का स्पष्ट कथन हुआ है। इन विभिन्न राजाओं तथा राजवंशों के राज्यकाल की गणना करने के बाद पुष्यमित्र का राज्यकाल द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व ही प्रतीत होता है।[2] सम्भवतः वायु० में इस विस्तृत वंशावली के अतिरिक्त अन्य छोटे राजवंश भी होंगे। वायु० के पाठ में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों के कारण बीच के कुछ राजवंशों की अनुपस्थिति की संभावना की जा सकती है। अतः वायु० में आये हुए शुंगवंशी राजाओं के राज्यकाल का उल्लेख पर्याप्त विश्वसनीय है।

वायु० तथा० ब्रह्माण्ड की विषय-सामग्री हरिवंश के कालनिर्णय में सहायक हो सकती है। वायु० की प्राचीनता लगभग सर्वमान्य है। कारण यह है कि वायु० में पुराण पंचलक्षण का पूर्ण पालन हुआ है। दूसरा, वायु० का विभाजन अनुषंग, चर्या आदि के द्वारा होने के कारण पुराण विभाजन की प्राचीन शैली की सूचना देता है। तीसरा, प्राचीन पुराण के रूप में वायु० का उल्लेख स्वयं हरिवंश में हुआ है।[3] श्री पाटिल, दीक्षितर, सुकथङ्कर तथा हाजरा ने हरिवंश में वायु० के नामोल्लेख के द्वारा उसकी प्राचीनता निश्चित की है।[4] किन्तु वायु० का पाठ अपनी प्रारम्भिक

1. The age of Imperial unity p 97—Pusyamitra ruled for about 36 years (C 187-151 B C) and was succeeded by his son Agnimitra, Camb His Vol I p 462
2. Pargiter Dynasties of the Kali age p 27-30
३. हरि० १. ७ १३—एते महर्षयस्तात वायुप्रोक्ता महाव्रता।
हरि० १ ७ २५—वायुप्रोक्ता महाराज पञ्चम तदनन्तरम्।
4. D R Patil. Cul His from the Vāyu p 4—We cannot do better than quote the remarks of V S Sukthankar, on this point "The reference in our Purāna to Vayu in 'वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य' (3 189 14) is worth considering in this

अवस्था में नही मिलता। इसमें अनेक प्रक्षिप्त अशो के मिश्रण के कारण पुराण का मौलिक और शुद्ध रूप विकृत हो गया है। उसमें मिलने वाले अर्वाचीन स्थल इस प्रवृति के प्रमाण है।

वायु० के अर्वाचीन स्थलो में स्मृतिसामग्री मिलती है। स्मृति की यह सामग्री प्राचीन स्मृति ग्रन्थो से अवश्य प्रेरणा ग्रहण करती है।[1] किन्तु किसी स्मृति-विशेष की ओर सकेत करना कठिन है। वायु० के अन्तर्गत वर्णाश्रम के नियम, आश्रमानुरूप कार्यों का विभाजन तथा विभिन्न सस्कारो से सम्बन्ध आचार-विचारो में स्मृति-ग्रन्थो का प्रभाव दिखलाई देता है।

वायु० से अधिकाश में समानता रखने के कारण ब्रह्माण्ड० को प्राचीन पुराण स्वीकार करना पड़ता है। ब्रह्माण्ड के पुराणपचलक्षण और विभाजन (अनुषग, क्रिया, चर्या आदि) के कारण इस पुराण की प्राचीनता को स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु ब्रह्माण्ड० की स्मृति सम्बन्धी सामग्री में स्मृतिग्रन्थो का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।[2]

पचलक्षणो का पालन करने वाले पुराणो में मत्स्य० का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नही है। किन्तु मत्स्य० में स्मृतिसामग्री सबसे अधिक मात्रा में मिलती है। इस पुराण के अन्तर्गत राजधर्म-विवेचन के प्रसग में स्मृतियो का प्रभाव अनेक रूपो में देखा जा सकता है। राजधर्म के अन्तर्गत साम, दाम, दण्ड तथा भेद के इन चार उपायों का वर्णन है। दण्ड के विवेचन के प्रसग में अपराध-विशेष तथा उनके लिए बताये गये दण्डो का वर्णन है। पुरुष और स्त्री के सम्मिलित अपराध में पौराणिक स्मृति-सामग्री में भी पुरुष को दण्ड का भोगी तथा स्त्री को दण्ड से मुक्त घोषित किया गया

connection The Mbh draws upon a Purāna of Vāyu and indeed the topic narrated belongs to a Purāna in its sight, a Purāna which is older than the extant Purānas which must be presumed to have been lost
V R R. Dikhitar : Some aspects of the Vāyu P. p 47.
R C Hazra : Pur. Rec p 13.

१. वायु० १६, १९, ३२.
२ ब्रह्माण्ड० अनु० २५–२७; ब्रह्माण्ड० उपो० १३–२०, ५८.

है।[1] इसी प्रकार स्मृतिकार दण्ड के विधान में ब्राह्मणों को अन्य वर्णों की अपेक्षा कम दण्ड का भागी बतलाते हैं।[2] मत्स्य० के दण्डविषयक अध्याय में भी ब्राह्मणों के लिए इसी प्रकार का व्यवहार दिखलाई देता है।[3] मत्स्य० और स्मृतियों की इन समान प्रवृत्तियों के कारण मत्स्य० अथवा मनुस्मृति इन दो में से कौन-सा ग्रन्थ किसका ऋणी है यह नहीं कहा जा सकता। सम्भवत मत्स्य० तथा मनुस्मृति इन दोनों ने एक ही स्रोत से तथा लगभग एक ही काल में सामग्री ली हो।

मनु तथा उनके सिद्धान्तो से परिचय हरिवश पुराण की विशेषता नही है। अनेक पुराणो में स्मृतियो से परिचय का पता लगता है। हरिवश में स्मृति साहित्य की न्यूनता इस पुराण को स्मृतिकालीन साहित्य के प्रारम्भिक काल का निश्चित करती है। इसका कारण यह है कि हरिवश में स्मृति साहित्य के रूप में पुण्यकव्रत और कलिवर्णन के अतिरिक्त अन्य कोई विषय नही मिलता। पुण्यकव्रत का अन्य पुराणों में अभाव इस प्रकार के व्रत की उत्तरकालीन समाज में अप्रसिद्धि को सूचित करता है। ज्ञात होता है, पुण्यकव्रत स्मृति साहित्य के प्रारम्भिक काल में प्रचलित होकर पुन मिट गया। कलिवर्णन में बौद्ध-धर्म की अवहेलना इस काल को प्रमाणित करती है। बौद्ध धर्म के प्रति घृणा का भाव इस धर्म की ह्रासोन्मुख अवस्था का परिचय देता है। बौद्ध धर्म की यह अवस्था कुशानों के राज्यकाल के बाद आती है।[4] लगभग द्वितीय से तृतीय शताब्दी का यह काल पुराणों के स्मृति साहित्य का प्रारम्भिक काल है। अत हरिवश की सामाजिक पृष्ठभूमि तृतीय शताब्दी के मध्यकाल का चित्र प्रस्तुत करती है। श्री रे चौधरी ने हरिवश के सकलनकाल को छठी शताब्दी से पूर्व माना है।[5] इस आधार पर हरिवश का कालविषयक सिद्धान्त निश्चित हो जाता है।

अवतारो की सख्या तथा उनके उल्लेख का क्रम पुराणो के काल-निर्णय में सहायक

१. मत्स्य० २२७; १२२-१२३; १२७-१२८.
२. मनु० ८. ३८०—न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
३. मत्स्य० २२७. २१५
4. K. P. Jayaswal: His Ind p. 46—"We see from the recorded policy of the Kushan Viceroy that he suppressed Brahmins and made the population Brahminless".
5. H Ray Chau. His. Vais Sect. p 69.

सिद्ध हुआ है। हरिवश के अन्तर्गत दशावतार में मत्स्य को अवतार के रूप में नही माना गया है। बुद्ध का अवतार हरिवश में नवी सख्या रखता है तथा कल्कि नामक दशम अवतार भावी माना गया है। बुद्ध के प्रति हरिवश में प्रदर्शित प्रवृत्ति महत्त्व-पूर्ण है। हरिवश में बुद्ध के प्रति अनास्था तथा बौद्धमतानुयायियो के प्रति 'पापड' शब्द का प्रयोग पुराणो की मध्यकालीन प्रवृत्ति का परिचय देता है[१]। हरिवश के अतिरिक्त विष्णु०, भागवत, वायु० मत्स्य० अग्नि० और बृहद्धर्म० में बौद्धो के प्रति अवहेलना की यही प्रवृत्ति दिखलाई देती है[२]। ब्रह्म०, तथा देवी भाग० के अवतारो की सूची में बुद्ध के नाम के अभाव का कारण सम्भवत बौद्धमत के प्रति प्रदर्शित की गयी उपेक्षा है[३]। किन्तु उत्तरकालीन पुराणो में सम्भवत भारत में बौद्धधर्म के आदरणीय स्थान पा लेने पर इस धर्म के प्रति श्रद्धाभाव दृष्टिगोचर होता है। भागवत के चौबीस अवतारो की सूची में बुद्ध को एक अवतार माना गया है[४]। वाराह० के दशावतारो की गणना में भी बुद्ध का नाम है[५]। हरिवश में बौद्ध मत के लिए अवहेलना-सूचक शब्द पुराणो की सामान्य प्रवृत्ति के प्रतीक है। इस प्रवृत्ति के द्वारा काल का निश्चित ज्ञान नही हो पाता, किन्तु यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म को घृणा की दृष्टि से देखने के कारण पुराण का यह स्थल बुद्ध के जीवनकाल से पर्याप्त अर्वाचीन होगा। बुद्ध के जीवनकाल के बाद कुछ समय तक बौद्ध धर्म उन्नति के चरम शिखर पर रहा। बौद्ध धर्म मे पतन के लक्षण बुद्धकाल के बहुत समय बाद दृष्टिगोचर हुए। यह काल द्वितीय तथा तृतीय शताब्दी का मध्यवर्ती ज्ञात होता है। पुराणो मे बौद्ध धर्म के प्रति इसी प्रकार की प्रवृत्ति के द्वारा सभी पुराणो को इस काल का नही कहा जा सकता। बौद्ध धर्म के प्रति घृणासूचक भाव के प्रत्येक पुराण में इसी रूप में मिलने के कारण पौराणिक परम्परा बौद्ध धर्म की विरोधी ज्ञात होती है। सम्भवत पुराणो के सकलनकाल में ब्राह्मणधर्म के प्रभुत्व के कारण वर्णो की एकता को महत्त्व देनेवाले तत्कालीन बौद्ध धर्म के प्रति अवहेलना प्रकट की गयी थी। इसी कारण पुराण विभिन्न

१. हरि० ३. ३ १५

२ बृहद्धर्म० पूर्व० ३०. ११–१२, १५, २२, ३०; वायु० ५८. ३५–१०८, मत्स्य० १४४. ४–८४; अग्नि० १६ २–५; बृहद्धर्म० मध्यम० ४१–७२ ततो लोकविमोहाय बुद्धस्त्व विभविप्यसि।

३. ब्रह्म० २१३. २९–१६६; देवी भाग० ४. १६

४. भाग० १. ३; २. ७; ६. ८ ५. वाराह० ४. २.

कालो में सकलित किये जाने पर भी बौद्धो के प्रति द्वेप की प्राचीन प्रवृत्ति को समान रूप से व्यक्त करते हैं।

हरिवश में महाकाव्य के रूप में रामायण का उल्लेख एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय है[1]। अनेक पुराण वाल्मीकिकृत रामायण तथा रामोपाख्यान से परिचय सूचित करते हैं। मत्स्य० वाल्मीकिकृत रामोपाख्यान से परिचित है[2]। अग्नि० में रामायण को प्रख्यात ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है[3]। बृहद्धर्म० रामायण को समस्त पुराण तथा महाभारत का मूलस्रोत मानकर सर्वश्रेष्ठ स्थान देता है[4]। महाभारत वनपर्व में रामोपाख्यान विशद रूप में मिलता है[5]। श्री विलियम्स भी वनपर्व में रामोपाख्यान से परिचित है। उनके अनुसार वनपर्व के अन्तर्गत रामोपाख्यान में इस ग्रन्थ के रचयिता वाल्मीकि का नाम अनुपस्थित है[6]।

श्री विलियम्स रामायण तथा महाभारत को समस्त पुराणो का स्रोत निश्चित करते हुए अनेक पुराणो में रामोपाख्यान की उपस्थिति बतलाते है। उनके अनुसार अग्नि० पद्म०, स्कन्द०, विष्णु० और ब्रह्माण्ड० किसी न किसी रूप में रामोपाख्यान से परिचित हैं[7]। अतः हरिवश मे रामायण का उल्लेख कोई नवीनता नही रखता।

१. हरि० २. ९४.
2. Dikshitar : Matsya—a study p. 51—
वाल्मीकिना तु यत्प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम् (मत्स्य० ५३. ७१–७२)
३. अग्नि० ३८३. ५२–सर्वे मत्स्यावताराद्या गीता रामायणं त्विह।
४. बृहद्धर्म० पूर्व० ३०.११–भारतं कृतवान् पूर्वं देवो नारायणः स्वयम्।
रामायणं तस्य बीजं परात् परतरं स्मृतम्॥
५. महा० ३. २२८–२४६
6. Mon. Williams : Indian Wisdom p. 367—In the Mahābhārata (Vanaparva) (11177-11219) the Rāmopākhyāna is told very nearly as in the Rāmāyana.
7. *Mon. Williams. Indian Wisdom p. 370—The 18 Purānas* contain numerous allusions to the Rāmāyana and relate the whole story. These Purānas are—Agni; Padma,; Skanda; Viṣnu; in Section (IV.4) and in III. 3. describes Vālmiki as the Vyāsa of the 24th Dvāpara. In Brhamāndao there is Rāmāyana-Māhātmya and Adhyātma Rāmāyaṇa.

पुराणो में वर्णित रामोपाख्यान रामायण का प्रारम्भिक रूप है। महाकाव्य के रूप में रामायण उत्तरकालीन अवस्था का परिचायक है। अतः हरिवंश में महाकाव्य के रूप में रामायण का उल्लेख महाभारत वनपर्व के रामोपाख्यान से अर्वाचीन ज्ञात होता है। सम्भवतः हरिवंश के काल में रामायण महाकाव्य के रूप में प्रसिद्ध हो गया था।

रजि का वृत्तान्त पुराणो के कालनिर्णय के लिए अन्य महत्त्वपूर्ण साधन है। पुराणो के अन्तर्गत रजि के सौ पुत्रो को पथभ्रष्ट करने के लिए बृहस्पति के द्वारा प्रणीत शास्त्र के अलग अलग नाम मिलते हैं। हरिवंश में रजि के पुत्रो को पथभ्रष्ट करने वाला शास्त्र 'वादशास्त्र' कहा गया है। वादशास्त्र का अध्ययन करने से उत्पन्न तर्कों के द्वारा रजि के पुत्रो को श्रुतिमार्ग पर अनास्था प्रकट करते हुए प्रदर्शित किया गया है। श्रुतियो में अनास्था के कारण रजि के वे पुत्र सत्यमार्ग से भ्रष्ट चित्रित किये गये हैं[1]।

हरिवंश से भिन्न अन्य पुराणो मे रजि के पुत्रो के लिए निर्मित यह शास्त्र 'जिनधर्म' कहा गया है। विष्णु० में बृहस्पति के द्वारा रजि के पुत्रो के लिए प्रणीत इस शास्त्र का नाम 'जिनशास्त्र' है। यहाँ पर 'महामोह' का चित्रण जैन भिक्षु की आकृति से समानता रखता है[2]। जैन भिक्षु का यही रूप पद्म० के 'मायामोह' के वर्णन में मिलता है[3]। देवी भागवत मे दानवो को श्रुतिमार्ग से भ्रष्ट करने वाले यतिवेषधारी बृहस्पति का वर्णन है। यह योगी जिन-धर्म के प्रचार द्वारा दानवो में अश्रद्धा उत्पन्न करता है[4]। इन तीनो पुराणो मे जिनधर्म के प्रचार के साथ इस धर्म के प्रचारक व्यक्ति का

१. हरि० १. २८. ३०–३३, ३०–३१–

तेषा च बुद्धिसम्मोहमकरोद्द्विजसत्तमः।
नास्ति वादार्थशास्त्रं हि धर्मविद्वेषणं परम्॥
परमं तर्कशास्त्राणामसता तन्मनोऽनुगम्।
न हि धर्मप्रधानाना रोचते तत्कथान्तरे॥

२. विष्णु० ४. ८. ३, २१; ३. १७–१८. ३. पद्म० सृष्टि० १३

४. देवी भाग० ४. १३. ५४–५५–छद्मरूपधरं सौम्यं बोधयन्तं छलेन तान्।
जैनकृतस्वेन यज्ञनिन्दापरं तथा॥
भो देवरिपवः सत्यं ब्रवीमि भवतां हितम्।
अहिंसा परमो धर्मोऽहंतव्याह्याततायिनः॥

चित्रण भी बौद्ध अथवा जैन मतावलम्बी व्यक्ति का परिचय देता है। इन तीनो पुराणो में जिनधर्म तथा इस धर्म के प्रचारक का स्वरूप समकालीन होने के कारण सम्भवतः परस्पर आदान-प्रदान पर आधारित है।

मत्स्य के रजि के वृत्तान्त में जैन अथवा बौद्ध भिक्षु का चित्रण नही है। किन्तु बृहस्पति के द्वारा प्रणीत इस शास्त्र को 'जिनधर्म' कहा गया है। यह जिनधर्म हेतुवाद पर आश्रित माना गया है[1]।

पौराणिक रजि के वृत्तान्त में जैनधर्म से परिचय स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। हरिवंश इन सब पुराणो से भिन्न रूप में, जैनधर्म से अनभिज्ञता सूचित करता है। ज्ञात होता है, जैनधर्म का उल्लेख करनेवाले सभी पुराण जैनधर्म से परिचय की साधारण पौराणिक प्रवृत्ति से प्रभावित हैं। हरिवंश मे जिनधर्म के उल्लेख का अभाव इन पुराणो की प्रवृत्ति से पूर्वकालीन अवस्था की ओर सकेत करता है। सभवतः हरिवंश के काल तक पुराणो में जैनधर्म के उल्लेख की प्रवृत्ति न थी।

पुराणो में बौद्ध तथा जैनधर्म के प्रसगो की उपस्थिति इन दोनो धर्मो की लगभग समकालीनता की परिचायक है। पुराणो के अन्तर्गत उपेक्षा के भाव इन दोनो धर्मो के प्रति मिलते है। पुराण अवतारो के अन्तर्गत बुद्ध का समावेश करते हैं। किन्तु बुद्ध का अवतार विष्णु के अन्य अवतारो की भाँति अलौकिक नही है। बृहद्धर्म० में बुद्धावतार को दानवो के सम्मोह के लिए निर्मित माना गया है[2]। हरिवंश, विष्णु० भागवत, अग्नि० और कूर्म० बुद्धावतार के प्रति यही दृष्टिकोण रखते हैं। बौद्ध धर्म के प्रति सद्भावना न रखने पर भी हरिवंश तथा अन्य पुराण बौद्ध धर्म से परिचय की सूचना देते हैं।

हरिवंश में जिनधर्म के अभाव के आधार पर काल के निश्चित ज्ञान के लिए तृतीय शताब्दी के अन्य ग्रन्थो का अनुशीलन अपेक्षित है। इन ग्रन्थो में जैनधर्म से परिचय अथवा अपरिचय के द्वारा हरिवंश के काल का कुछ ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से द्वितीय तथा तृतीय शताब्दी के ग्रन्थो में नाटको का स्थान बहुत कुछ महत्व

१. मत्स्य० २४. ४७—गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः।
जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित्॥
० ००० ०
वेदबाह्यान् परिज्ञाय हेतुवादसमन्वितान्॥

२. बृहद्धर्म० मध्यम० ४१. ७२.

रखता है। शूद्रकरचित 'मृच्छकटिक' बौद्ध धर्म से परिचित है[1]। किन्तु जैनधर्म से परिचय इस नाटक के किसी भी स्थल में नहीं दिखलाई देता। 'मृच्छकटिक' का काल विद्वानों ने छठी अथवा सातवी शताब्दी ई० से तृतीय शताब्दी तक निश्चित किया है[2]। अत 'मृच्छकटिक' में जैनधर्म से अपरिचय छठी अथवा सातवी शताब्दी ई० से तृतीय शताब्दी तक ग्रन्थो में जैनधर्म की ओर सकेत न करने की प्रवृत्ति को बतलाता है।

पुराण साधारणत जैनधर्म से परिचित है। ज्ञात होता है, जैनधर्म के ख्याति काल में यह पुराण जैनमत के प्रभाव से वचित न रह सके। इसी कारण विष्णु, पद्म, देवी भागवत और मत्स्य समान रूप से जैनधर्म के प्रति परिचय प्रकट करते हैं।

लगभग सभी पुराण विदेशी जातियो का उल्लेख करते हैं। यह विदेशी जातियाँ यवन, पह्लव, शक, हूण, किरात, दरद तथा तुषार आदि हैं[3]। यह जातियाँ गान्धार से भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में फैलती गयी। ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणो में वर्णित इन जातियों का महत्त्व बहुत अधिक है। पुराणों में वर्णित भारत के पश्चिमोत्तर में फैली हुई यह जातियाँ ही फारस, अफगानिस्तान तथा सुदूर पश्चिम की विदेशी जातियाँ हैं।

हरिवश में विदेशी जातियों का वर्णन पुराणो की परम्परा के अनुसार मिलता है। हरिवश की विदेशी जातियो में यवन, पह्लव, दरद तथा तुषारो का उल्लेख है[4]। विदेशी जातियो में तुषार जाति महत्त्वपूर्ण है। तुषार सम्भवत ऐतिहासिक तोखारी हैं। यह जाति अफगानिस्तान से पश्चिमोत्तरी भारत में प्रवेश कर चुकी थी[5]। तुषारो का उल्लेख महाभारत में भी है[6]। रामायण में तुषारो की अनु-

१. मृच्छकटिक ८—'भिक्षु :—अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम्।'
'भिक्षु :—नमो बुद्धाय।'

२. S Konow . Das Indische Drama p 57.

३ मत्स्य० ५०. ७२—७६; भाग० २. ४. १८, २. ७. ४६; ब्रह्म० ८. ४४–५०.

४. हरि० १. १३. ३०, ३४; १. १४. ३–४, १२, १६–१८.

५. मत्स्य (१२१. ४५) तथा वायु (४७. ५४) में वक्षु (चक्षु Oxus) नदी को तुषार देश से बहकर समुद्र में गिरते हुए कहा गया है। रामायण में भी सुचक्षु (वक्षु) नदी को पश्चिमी समुद्र में गिरनेवाली अन्य नदियो के साथ समुद्र में गिरते हुए चित्रित किया गया है (रामा० बाल० ४३. १४)—Satya shrava Śakas in India p 6—से उद्धृत।

६. महा० ६. ७५ २१; महा० ८. ९४. १६; महा० ५ १५८. ५०

परिस्थिति के कारण श्री सत्यश्रवा ने उन्हें उत्तरकालीन जाति माना है[1]। श्री सत्यश्रवा का मत प्रामाणिक न होने के कारण अधिक मान्य नहीं है। अन्य पुराणों में वर्णित विदेशी जातियों से भिन्न जाति--तुपारों को दिखाकर हरिवंश ने पुराणों में मिलने वाली विदेशी राजाओं की सूची में कुछ परिवर्तन कर दिया है।

पुराणों में वर्णित विदेशी जातियों में हूण हरिवंश में अनुपस्थित हैं। हरिवंश में इनके अभाव का कारण स्पष्ट है। भारत में हूणों का आक्रमणकाल शक, पह्लव तथा तुषारों के बहुत बाद में माना जाता है। हूणों का भारत में प्रथम आक्रमण छठी शताब्दी में हुआ था[2]। लगभग छठी शताब्दी तक किसी न किसी रूप में हूणों ने अपना आधिपत्य भारत में बनाये रखा। छठी शताब्दी में यशोधर्मन के द्वारा हूण जाति देश से बाहर कर दी गयी[3]। हूणों के विषय में इन ऐतिहासिक आधारों के द्वारा भारत में हूणों के आक्रमणकाल की अर्वाचीनता का ज्ञान होता है। हूणों के अर्वाचीन होने के कारण हरिवंश में इनसे अपरिचय स्वाभाविक है। हरिवंश का काल हूणों से पूर्ववर्ती होने के कारण पाँचवीं शताब्दी से पूर्व माना जा सकता है।

पुराण किसी कालविशेष में निर्मित ग्रन्थ नहीं हैं। इनका सकलन समय-समय पर होता रहा है। इस कारण इनके प्रत्येक भाग में कालविशेष का प्रभाव दिखलाई देता है। श्री विण्टरनित्स ने पुराण, महाभारत अथवा रामायण के काल-

1. Satya Shrava : 'Sakas in India p 12—Tuṣāras of the later Kuśāṇas are not *mentioned in the Rāmāyana* and they may, therefore, probably be of a later origin
वायु० (४५. ११८) में तुपार नामक चौदह राजाओं को ५०० वर्षों तक राज्य करते हुए कहा गया है। ब्रह्माण्ड० (२. १६. ४७) में तुपारों का राज्य उत्तर में बतलाया गया है। मत्स्य० (१२१. ४५; १४४. ५७) में चौदह तुपार राजाओं को १०५ वर्ष तक राज्य करते हुए कहा गया है।
2. Majumdar . Adv. His Ind p. 153.
3. K. P. Jayaswal : Imp. His. Ind. p. 56 Hazra : Pur. Rec. p. 218—After the defeat of Mihirkula by Yaśodharman about 528 A.D. India enjoyed 'almost complete' immunity from foreign attack for nearly five centuries.'

की भाँति महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। अणिमाण्डव्य का वृत्तान्त जातकों के महासार जातक से समानता रखता है[1]। सौभाग्यवश शूल से मुक्त हो जाने के कारण अतीत की इस घटना से सदैव के लिए सम्बन्ध स्थापित करने के निमित्त इस ब्राह्मण का नाम अणिमाण्डव्य रखा गया है।

हरिवंश के हरिवंशपर्व में वर्णित राजवंश अपनी मौलिकता तथा प्राचीनता के लिए अन्य सभी पुराणों में प्रमुख स्थान रखते हैं। श्री किरफेल ने हरिवंश को वंशावलियों के मौलिकतम रूप को प्रस्तुत करने वाला प्राचीन पुराण माना है[2]। वंशावलियों की मौलिकता के अतिरिक्त हरिवंशपर्व में मिलने वाले अन्य वृत्तान्त भी अत्यन्त प्राचीन हैं। अणिमाण्डव्य, पूजनीया, ययाति, सगर और दक्ष के वृत्तान्त प्राचीन हैं। पूजनीया पक्षी का वृत्तान्त हरिवंश के अतिरिक्त अन्य पुराणों में नहीं मिलता। अणिमाण्डव्य ययाति, सगर तथा दक्ष के वृत्तान्त अन्य पुराणों में विस्तृत रूप में मिलते हैं। इसके द्वारा अन्य पुराणों के अन्तर्गत अर्वाचीन विषयों के जुड़ जाने का ज्ञान होता है। ययाति का आख्यान हरिवंश में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में मिलता है। मत्स्य० में यही आख्यान अनेक अध्यायों में वर्णित है। महाभारत में यह अत्यन्त विस्तृत हो गया है।

हरिवंश विष्णुपर्व में कृष्ण का चरित्र कालनिर्णय के लिए महत्त्वपूर्ण है। विविध पुराणों से कृष्ण के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन किया जा चुका है[3]। इस अध्ययन के द्वारा हरिवंश में कृष्णचरित्र के महत्त्व के दर्शन होते हैं। कृष्णचरित्र के अन्तर्गत कुछ अर्वाचीन स्थल दिखलाई देते हैं। किन्तु यह स्थल हरिवंश के मौलिक भाग नहीं हैं। अधिकांश स्थल प्रक्षिप्त हैं। इनमें से कुछ भाग उत्तरकालीन साम्प्रदायिक भक्ति से प्रभावित हुए हैं। कृष्ण के चरित्र के अन्तर्गत कहीं-कहीं पर वैष्णव, शैव और

1. Cowell : The Jātaka Vol. 1. p. 222-227.
2. W. Kirfel: JVOL. Vol. 8 No. 1 p. 29—Of the first named two compositions—that of the Brahma and Harivanśa, is doubtless the oldest—*thus* not that of the Brahmānda-Vāyu, as Pargiter supposes.
३. 'हरिवंश में कृष्णचरित्र' पृ० ८-१६।

शाक्त परम्पराएँ इसी प्रकार की अर्वाचीन साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों का परिचय देती हैं[1]। विष्णुपर्व में कृष्णचरित्र की रूपरेखा अन्य समस्त पुराणों तथा कुछ स्थलों में महाभारत से भी मौलिक रूप प्रस्तुत करने के कारण प्राचीनतम है।

हरिवंश की वैष्णव परम्परा गीता के योग और सांख्य के मिश्रित रूप से बहुत कुछ प्रेरणा लेती है। अनेक विद्वानों के द्वारा तृतीय शताब्दी ई० पूर्व गीता का सकलन-काल मान लिये जाने पर हरिवंश को गीता का ऋणी स्वीकार करना पडता है। श्री हाजरा और फरकुहर हरिवंश के सग्रहकाल को चतुर्थ शताब्दी निर्धारित करते हैं[2]। हरिवंश में अनेक स्थल इस पुराण के काल को अधिक पीछे सिद्ध करते है। किन्तु वैष्णवभक्ति को प्रस्तुत करने वाले हरिवंश के स्थलों को अन्य प्रारम्भिक स्थलों की अपेक्षा कुछ अर्वाचीन मानना पडेगा। इसका कारण यह है कि विष्णु के स्वरूप में ब्रह्म और पुरुष के आरोप के कारण यहां वैष्णव धर्म पर्याप्त विकसित अवस्था में दिखलाई देता है।

गीता के कुछ श्लोक हरिवंश के भविष्यपर्व में अक्षरश उसी रूप में मिलते हैं[3]। हरिवंश का भविष्यपर्व हरिवंशपर्व तथा विष्णुपर्व की अपेक्षा अर्वाचीन है। इस पर्व

१. हरि० २. २. ४०–५५; २. ३; २. ७२, ७४; २. १०७. ६–१३; २. १२०. ६–३४, ४३–४७; २. ८२; ३. ८०. ३८–५४, ५९–८१; ३. ८०, ८८, ८९, ९०; ३. ११४. ११८.

2. R. C. Hazra: Pur. Rec. p. 23—"If lower limit of the date Harivansa which is named and quoted by Gaudapāda in his uttarādhyayanasūtra and cannot therefore be later than the 6th cen. A. D. be placed about 400. A. D, then the Visnu must be dated not later than the middle of the 4th cen. A.D."

Farquhar : Outlines p.143

३. गीता० ११. १२—दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥

हरि० ३. ७०. ३४—दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासा तस्य महात्मनः॥

परिचित है। किन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त विष्णु०, भागवत तथा पद्म० के अक्रूर के वृत्तान्त में चतुर्व्यूह के उल्लेख के द्वारा ज्ञात होता है कि इन सभी पुराणो में अक्रूर का प्रसग सभवत एक ही काल का है। यह काल पुराणो में पाचरात्र के प्रभाव का काल है। इसी कारण गीता की प्रवृत्ति अन्य वैष्णव पुराणो की प्रवृत्ति से पूर्णत भिन्न ज्ञात होती है।

अवतारो का विवेचन पुराणो में अन्य विषयो से कम महत्त्वपूर्ण नही है। पुराणो में अवतारो की सख्या में अन्तर मिलता है। इस भिन्नता के साथ पुराणो के कुछ अवतार सामाजिक अवस्था के ज्ञान के लिए परम सहायक है। पद्म० से पर्याप्त रूप में समानता रखने वाला पुष्कर प्रादुर्भाव का प्रसग हरिवश की सामाजिक स्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश डालता है। लगभग एक ही प्रकार का विषय प्रस्तुत करने के कारण हरिवश और पद्म० में से एक अवश्य इस प्रसग के लिए दूसरे का ऋणी ज्ञात होता है। सम्भवत पद्म० में विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल और उसमें स्थित ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि-निर्माण-विषयक आधार पर ही पुराण का नाम रखा गया है[1]। हरिवश में भी विष्णु के नाभिकमल और एकार्णवक्षेत्र को विशिष्ट स्थान मिला है।

पाचरात्र में विष्णु का पुष्कर-प्रादुर्भाव महत्त्वपूर्ण है। जयाख्यसहिता के प्रारम्भ में विष्णु के इसी प्रादुर्भाव के वर्णन में मधु और कैटभ का वृत्तान्त वर्णित है[2]। इस प्रसग में नारायण-विष्णु के साख्य-योग तथा ब्रह्ममय-रूप का विवेचन हरिवश के पुष्करप्रादुर्भाव के विवेचन से लगभग समानता रखता है। ब्रह्म के विवेचन में जयाख्यसहिता का एक श्लोक हरिवश के श्लोक से अक्षरश समानता रखता है[3]। विष्णु की व्यापकता का प्रतिपादक यह श्लोक इसी रूप में गीता में मिलता है[4]।

जयाख्य० में विष्णु की व्यापकता की ओर सकेत करनेवाला यह श्लोक हरिवश का ऋणी ज्ञात होता है। इसका कारण यह है कि इस श्लोक की व्याख्या जयाख्य०

१. पद्म० सृष्टि० १. ६१ २. जयाख्य० २. ३४–७५.

३. जयाख्य० ५. ६३–६४–सर्वत करपादं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत श्रुतिमद्विद्धि सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

हरि० ३. १६. ६—सर्वतः पाणिपादं त सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

४. गीता० १३. १३—सर्वतः पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत. श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

में विस्तृत रूप में की गयी है[1]। ज्ञात होता है, हरिवंश के श्लोक में पाया जानेवाला प्रारम्भिक सिद्धान्त जयाख्य० में विकसित होकर अधिक विस्तृत हो गया है। जयाख्य० का कालनिर्णय इस विषय में सन्देह उत्पन्न करता है। श्री भट्टाचार्य ने जयाख्य० का काल तृतीय शताब्दी माना है[2]। श्री फरकुहार और हाज़रा के द्वारा मान्य[3] हरिवंश के संग्रहकाल से यह काल एक शताब्दी पूर्व है। किन्तु जयाख्य० में हरिवंश के सर्वव्यापी ब्रह्म का क्रमिक विकास हरिवंश के इस स्थल को जयाख्य० का पूर्ववर्ती सिद्ध करता है।

हरिवंश का भविष्यपर्व विषय-सामग्री की दृष्टि से प्रथम दो पर्वों से भिन्न प्रवृत्ति का परिचायक है। इस पर्व में क्षेपक अधिक मात्रा में दिखलाई देते हैं। भविष्यपर्व के अन्तिम भाग में कृष्ण का बदरिकाश्रमगमन[4], हंस तथा डिम्भक से कृष्ण का युद्ध, जनार्दन की कृष्ण-भक्ति[5] तथा अन्त में हरिवंश-श्रवणफल बाद में जोड़े गये प्रसंग ज्ञात होते हैं। कृष्ण के बदरिकाश्रमगमन, पौण्ड्रकयुद्ध तथा भक्त जनार्दन के वृत्तान्त में वैष्णवभक्ति के माहात्म्य-प्रदर्शन का उपक्रम दिखलाई देता है। हंस तथा डिम्भक की पराजय और जनार्दन का सुखपूर्वक हरिभक्तपदलाभ शैवभक्ति पर वैष्णवभक्ति की विजय का प्रतीक है। भविष्यपर्व में प्रदर्शित इन प्रसंगों में उत्तरकालीन शैव तथा वैष्णव परम्पराएँ महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती दिखलाई देती हैं। किन्तु भविष्यपर्व के अन्य वृत्तान्त इतने अर्वाचीन नहीं हैं।

हरिवंश के अन्त साक्ष्य प्रमाणों के आधार पर निश्चित की गयी काल की अवधि हरिवंश के कालनिर्णय में नवीन प्रकाश डालती है। अन्त साक्ष्य प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया गया हरिवंश का काल विद्वानों के द्वारा निश्चित हरिवंश के काल–चतुर्थ शताब्दी से लगभग एक शताब्दी पूर्व निर्धारित होता है। अनेक विद्वानों के द्वारा हरिवंश के कालनिर्णय सम्बन्धी मतों की अपेक्षा हरिवंश के अन्त साक्ष्य प्रमाण अधिक विश्वसनीय हैं। आन्तरिक प्रमाण हरिवंश का काल तृतीय शताब्दी के लगभग निश्चित करते हैं।

१. जयाख्य० ४. ०२ ८३.
२. जयाख्य० Foreword p 28.
३. Farquhar : Outlines p 143.
R. C Hazra : Pur. Rec p 23.
४. हरि० ३. ०३. ९०. ५. हरि० ३. ११०—१२९.

बाहरी प्रमाण

हरिवंश के बहिर्गत–प्रमाण अन्त साक्ष्य प्रमाणो से कम महत्त्वपूर्ण नही है। हरिवंश के काल का ज्ञान पुराणो, विविध शिलालेखो और प्राचीन ग्रन्थो से होता है। पुराणो के काल-ज्ञान के लिए उत्तरकालीन सग्रहग्रन्थ परम सहायक सिद्ध हुए है। सग्रह-ग्रन्थो में अनेक ग्रन्थ हरिवंश से परिचित हैं। यह सग्रहग्रन्थ हरिवंश के व्यापक प्रचार-काल के बहुत काल उपरान्त के हैं। इन ग्रन्थो में हरिवंश के अन्तर्गत उत्तर-कालीन व्रतो के सम्बद्ध सामग्री मिलती है।

गदाधर ने 'गदाधरपद्धति' नामक ग्रन्थ में हरिवंश का उल्लेख किया है। 'गदाधरपद्धति' के कालसार भाग में द्वादशीव्रत के बाद पारणविधि के लिए हरिवंश के दो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं[१]। गदाधर यहाँ पर हरिवंश के यत्किंचित स्मृतिभाग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। हरिवंश का यह स्मृतिभाग इसी पुराण के अन्य मौलिक भागो से अर्वाचीन है।

कमलाकर भट्ट ने 'निर्णयसिन्धु' में एकादशी तिथि के निरूपण के अवसर पर हरिवंश से उदाहरण लिये हैं[२]। हरिवंश का दूसरा उदाहरण व्रताधिकारी के वर्णन के प्रसग में हैं[३]। हरिवंश का तीसरा उदाहरण दत्तकविधि के प्रसग में दिया गया है[४]। यहाँ पर कमलाकर गदाधर की भाँति हरिवंश के अर्वाचीनतम स्थल से उदाहरण ग्रहण करते हैं।

१. गदाधर राजगुरु—गदाधरपद्धति कालसार पृ० १५०–१५१–तथा चाष्टदिव-साध्यो नक्षत्रपक्ष.। तथा च हरिवंशे–

सप्तरात्रे व्यतीते नु भरण्या विगतोत्सवे।
जगाम सवृतो भेदैर्वृत्रहा स्वर्गमुत्तमम्॥

नक्षत्रपक्षोऽय नाद्रियते। तिथिकल्प पंचदिनात्मकः सर्वविदितः। हरिवंशे शक्रकेशवसवादे–नरास्त्वा चैव मा चैव ध्वजाकारासु यष्टिसु।...इत्यादि।

२. कमलाकर भट्ट—निर्णयसिन्धु जिल्द १. पृ० १३९.

३. निर्णयसिन्धु–१, पृ० ११८.

४. निर्णयसिन्धु पृ० ८९८–कृत्रिमा च हरिवंशे–पृथां दुहितरं चक्रे कुन्तिस्तां पाण्डुरावहत्। इति।

वैद्यनाथ 'स्मृतिमुक्ताफल' में हरिवश से परिचय की सूचना देते हैं। हरिवंश का उल्लेख इस ग्रन्थ में जन्माष्टमी और जयन्ती में भेद दिखाने के लिए हुआ है। जन्माष्टमी के लिए अष्टमी तिथि को महत्त्व दिया जाता है, किन्तु जयन्ती में अष्टमी तिथि के अतिरिक्त रोहिणी नक्षत्र को प्रधानता दी गयी है।[1] वैद्यनाथ जन्माष्टमी के विषय में सन्देह मिटाने के लिए हरिवंश को सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ मानते ज्ञात होते हैं।

गोविन्दानन्द 'दानक्रियाकौमुदी' में हरिवंश से दो बार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम उदाहरण पुस्तकदान के प्रसग में हरिवंशदान के पुण्य का वर्णन करता है। हरिवंशदान के माहात्म्य का वर्णन हरिवंश से सगृहीत एक श्लोक से हुआ है।[2] हरिवंश से दूसरा उदाहरण अधिवास के प्रसग में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर हरिवंश के शब्दो का उल्लेख नही है। केवल हरिवंश के प्रमाण का कथनमात्र हुआ है।[3] गोविन्दानन्द ने 'शुद्धिकौमुदी' नामक अपने अन्य ग्रन्थ में हरिवंश के उदाहरणो का उल्लेख नही किया है। 'दानक्रियाकौमुदी' नामक ग्रन्थ में हरिवंश से उदाहरण प्रस्तुत करने पर 'शुद्धिकौमुदी' में हरिवंश से उदाहरण न प्रस्तुत करने का कोई कारण नही दिखलाई देता। अत गोविन्दानन्द ने 'शुद्धिकौमुदी' में हरिवंश के उदाहरणो का अपनी इच्छानुसार प्रयोग नही किया है।

अमृतनाथ झा ने 'कृत्यसारसमुच्चय' में हरिवंश से उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'कृत्यसार०' के परिशिष्टप्रकरण में नौ दिनो के अन्दर हरिवंश के पारायण की विधि का वर्णन है।[4] इस सग्रहग्रन्थ में हरिवंश की पारायणविधि के वर्णन के कारण

१. स्मृति मुक्ता० कालकाण्ड पृ० ८३२–जयन्तीव्रते तु रोहिणीयोग —।
अभिजिन्नाम नक्षत्र जयन्ती नाम शर्वरी ।
मुहूर्तो विजयो नाम यत्र जातो जनार्दन ॥

२. दानक्रिया० पृ० १६९–अथ श्री हरिवंशे सत्पुस्तकदाने—
शताश्वमेधस्य यदत्र पुण्य........इति

३. दानक्रिया० पृ० १३९–'अथाधिवास.'–इति श्रीहरिवंशवचनाच्च प्रधानाभिला-
पवदुपरजकागानामपि पृथगभिलापस्य कर्तव्यत्वमायातम्।

४. कृत्यसार० परिशिष्टप्रकरण पृ० ५०–५१–
महाभारतान्तर्गताखिलहरिवंशपुराणस्य "आद्य पुरुषमीशानमित्यादि....
मित्यन्तस्य" नवाह पारायण (वा नवाहपारायणश्रवणं) सपत्नीकोऽह करिष्ये।

अन्य सग्रहग्रन्थो की अपेक्षा 'कृत्यसारसमुच्चय' की अर्वाचीनता का ज्ञान होता है। हरिवश की पारायणविधि से परिचय इस सग्रहग्रन्थ की अर्वाचीनता का द्योतक है। अत यह सग्रहग्रन्थ अन्य सभी सग्रहग्रन्थो से बहुत उत्तरकाल का प्रतीत होता है।

गौडपाद 'उत्तरगीताभाष्य' में हरिवश से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'उत्तरगीताभाष्य' सग्रहग्रन्थो से भिन्न ग्रन्थ है। गीता के अनुकरणस्वरूप इस ग्रन्थ में गीता की भाँति सामग्री मिलती है। हरिवश का उदाहरण इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय मे मिलता है।[1] श्री शर्मा ने गौडपाद को सातवी शताब्दी का निर्धारित किया है।[2] किन्तु बार्नेट (JRAS 1910, p. 1361) तथा जेकोबी (JAOS 1913 p 51) गौडपाद को पाँचवी शताब्दी से उत्तरकालीन नही मानते।[3] गौडपाद के काल के विषय में निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। गौडपाद की जीवनतिथि को सातवी तथा पाँचवी शताब्दी के बीच किसी समय मान लेने पर यह स्वीकार करना पडता है कि इस काल के बहुत पूर्व हरिवश एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया होगा। उत्तरगीताभाष्य का यह आन्तरिक प्रमाण हरिवश के किसी निश्चित काल की सूचना नही देता।

अनेक सग्रहग्रन्थ अर्वाचीन होने पर भी हरिवश के उदाहरण प्रस्तुत नही करते। इन सग्रहग्रन्थो की अर्वाचीनता का ज्ञान इनके अन्तर्गत अन्य अर्वाचीन सग्रहग्रन्थो और पुराणों में नामोल्लेख से होता है। रत्नकार दीक्षित ने 'जयसिंहकल्पद्रुम' में अष्टमीव्रतनिर्णय के प्रसग पर जन्माष्टमी और जयन्ती का भेद स्पष्ट किया है। इन दो व्रतों के भेद को प्रमाणित करने के लिए वैद्यनाथ की 'स्मृतिमुक्ताफल' का आधार नही लिया गया है। जन्माष्टमी तथा जयन्ती के भेद को बताने के लिए अन्य ग्रन्थो और पुराणो से उदाहरण प्रस्तुत किये गये है।[4] रत्नाकर हरिवश से अथवा

१. उत्तरगीता० पृ० ६८—उक्त च हरिवंशे—असत्कोर्तनकान्तार—परिवर्तनपांसुभि। वाचं हरिकयालापगंगयेव पुनीमहे॥ इति॥ तत्र दृष्टान्तमाह—हंसो यथा अम्बुमिश्रत्वेऽपि अम्ब्वशं विहाय क्षीरमेवोपादत्ते। तद्वदितिभाय।

2. B N. K Sharma: ABORI Vol XIV p. 216. Gaudapāda having flourished in the 7th cen. A D., it follows that the Bhāgavata was much earlier than this date.

3. R. C. Hazara: Pur. Rec. p. 56

४. जयसिंह पृ० २९४—विष्णुरहस्य, स्मृतिकौस्तुभ, कालतत्त्वविवेक, कालनिर्णय,

हरिवंश के इस स्थलविशेष से अपरिचित थे, यह नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि 'जयसिंहकल्पद्रुम' में अनेक उत्तरकालीन संग्रहग्रन्थों का नामोल्लेख हुआ है[1]। अतः यह कहा जा सकता है कि संग्रहकार ने हरिवंश से पूर्णतः परिचित होने पर भी इस पुराण के अन्तर्गत स्मृतिसम्बन्धी सामग्री के लगभग नगण्य स्थान के कारण हरिवंश से उदाहरण ग्रहण नहीं किये।

'जयसिंहकल्पद्रुम' की भाँति कुछ अन्य उत्तरकालीन संग्रहग्रन्थ हरिवंश से उदाहरण नहीं प्रस्तुत करते। अनिरुद्ध भट्ट ने 'हारलता' में हरिवंश से उदाहरण नहीं दिये हैं। बल्लालसेन ने 'दानसागर' में अनिरुद्ध का नाम आदर के साथ लिया है। बल्लालसेन का जीवनकाल ग्यारहवीं शताब्दी है। अनिरुद्ध बल्लालसेन के समकालीन ज्ञात होते हैं।[2] बल्लालसेन ने 'दानसागर' में हरिवंश का स्पष्ट उल्लेख किया है।[3] इससे ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक हरिवंश एक प्रसिद्ध पुराण के रूप में सर्वमान्य हो गया था। कदाचित् बल्लालसेन के समकालीन अनिरुद्ध भट्ट को हरिवंश से उदाहरण ग्रहण करने की आवश्यकता ही न पड़ी थी, अन्यथा वे हरिवंश से उदाहरण अवश्य प्रस्तुत करते।

मदनपाल ने 'मदनपारिजात' में उत्तरकालीन पुराणों तथा स्मृतिग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत करने पर भी हरिवंश से उदाहरण नहीं प्रस्तुत किये हैं। 'आचारसार', 'स्मृतिमहार्णव', 'स्मृतिसंग्रह', 'स्मृत्यर्थसार' तथा 'कल्पतरु' से लिये गये उदाहरण इस स्मृतिग्रन्थ की अर्वाचीनता का परिचय देते हैं। अतः हरिवंश से उदाहरण

हरिभक्तिविलास, स्मृतिकौस्तुभ, स्कन्द०, भविष्य०, विष्णुधर्मोत्तर, भागवत, अग्नि०, ब्रह्माण्ड, पद्म०।

१ विष्णुरहस्य, स्मृतिकौस्तुभ, कालतत्त्व, कालनिर्णय, हरिभक्तिविलास, स्मृतिकौस्तुभ।

२. अनिरुद्ध हारलता Preface p 2—according to "Ain Akbari" by *Abul Fazal*, *Ballala Sena* lived in the 11th cen, and our author being contemporaneous with him must have flourished in that century

3 R C Hazra JORM Vol 12 p 135—
हरिवंशमत्स्यपुराणपद्मपुराणेषु हिरण्यकशिपुवधनिमित्त सोमस्य।

नही ग्रहण करने के लिए इस ग्रन्थ में कोई कारणविशेष नही दिखलाई देता। यहाँ पर हरिवश से उदाहरण ग्रहण करने की आवश्यकता ही नही समझी गयी है।

मदनसिंहदेव 'मदनरत्नप्रदीप' नामक ग्रन्थ में हरिवश से उदाहरण नही प्रस्तुत करते। विश्वेश्वर भट्ट 'मदनमहार्णव' में हरिवश के विषय में मौन हैं। चण्डेश्वर ठक्कुर भी 'कृत्यरत्नाकर' के अन्तर्गत हरिवश के विषय में कुछ नही कहते। चण्डेश्वर ठक्कुर ने 'कृत्यरत्नाकर' में हरिवश के विषय में निरपेक्षा प्रदर्शित की है। इनमें से पूर्वोक्त दो ग्रन्थ चौदहवी शताब्दी के हैं। 'मदनरत्नप्रदीप' के व्यवहारोद्योत' में लेखको की सूची चौदहवी शताब्दी के लेखको को प्रस्तुत करती है। इस आधार पर 'मदनरत्नप्रदीप' की भूमिका में इस ग्रन्थ का रचना-काल १३०५ के बाद निश्चित किया गया है।[1] 'मदनमहार्णव' की भूमिका में इस ग्रन्थ का रचनाकाल चौदहवी शताब्दी माना गया है।[2] 'कृत्यरत्नाकर' की भूमिका में इस ग्रन्थ के रचयिता चण्डेश्वर ठक्कुर का काल सोलहवी शताब्दी से कुछ पहले बतलाया गया है।[3] हरिवश से उदाहरण न प्रस्तुत करने वाले यह तीनो सग्रहग्रन्थ उदाहरण न ग्रहण करने की समान प्रवृत्ति को सूचित करते हैं।

१. मदनरत्नप्रदीप Intro. p 11—From this (the list of the books) it follows that the Madanratna could not have been composed earlier than about 1375 A D

२. मदनमहार्णव Intro p 12-13 —Madanpāla of the Tanka dynasty flourished during the latter half of the 14th cen A D.
p 13—Qnder the patronage of Madanpāla, Viśveśvara Bhatt wrote Madan-Pārijata, Madan Mahārnava, Smrti Kaumudi and Tithi Niranaya sāra

३. कृत्यरत्नाकर Preface p 6—Chandeśvara Thakkura flourished before Raghunandana Bhattāchārya, the great Bengali scholar who flourished in the latter half of the 16th century

हाजरा के कालनिर्णय तथा इन संग्रहग्रन्थों की सामान्य प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञात होता है कि यह सभी संग्रहग्रन्थ दसवीं शताब्दी से उत्तरकालीन हैं। कृत्यसारसमुच्चय एक अर्वाचीन संग्रहग्रन्थ ज्ञात होता है। इस ग्रंथ में हरिवंश से कोई भी उदाहरण नहीं लिया गया है। किन्तु हरिवंश के पारायण की विधियों का प्रदर्शन इस ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में किया गया है। हरिवंश के पठन की विधियों का वर्णन करने वाले यह संग्रहग्रन्थ अवश्य अर्वाचीन हैं।

अश्वघोषकृत 'वज्रसूची' में हरिवंश से अक्षरक्ष समानता रखनेवाले कुछ श्लोक हरिवंश के कालनिर्णय के लिए नवीन विचार प्रस्तुत करते हैं। 'वज्रसूची' में मिलनेवाले यह कतिपय श्लोक अवश्य हरिवंश के ऋणी हैं, इस विषय में विद्वान् सहमत हैं। श्री वेबर ने अपनी ग्रन्थावली में इस बात का समर्थन किया है। श्री रे चौधरी ने वेबर के मत का समर्थन करते हुए हरिवंश को अश्वघोष के अन्य ग्रन्थ 'बुद्धचरित' से पूर्ववर्ती निश्चित किया है।[1]

विद्वान् लोग अश्वघोष को संस्कृत साहित्य के प्रारम्भिक कवियों में स्वीकार करते हैं। अश्वघोष की रचनाओं में सर्वप्रथम संस्कृत साहित्य की विशेषताएँ दिखलाई देती हैं। अश्वघोष के काव्यों की मौलिकता तथा शैली की प्रारम्भिकता के आधार पर विद्वानों ने इनका काल द्वितीय शताब्दी निर्धारित किया है।[2] अश्वघोष के इस काल के अनुसार हरिवंश के अन्तर्गत हरिवंशपर्व का काल द्वितीय शताब्दी ई० के लगभग स्वीकार करना पड़ता है। अन्य पर्वों की अपेक्षा हरिवंशपर्व की मौलिक प्रवृत्ति हरिवंशपर्व के इस काल निर्णय को प्रमाणित करती है।

यदि साक्ष्य प्रमाणों में शिलालेखों का स्वतन्त्र स्थान है। किन्तु इस प्रकार के शिलालेखों की संख्या बहुत कम है। ४६२ ईसवी का एक शिलालेख महाभारत को 'शतसाहस्री संहिता' के रूप में स्वीकार करता है।[3] महाभारत के शतसहस्र श्लोकों के अन्तर्गत अट्ठारह पर्वों के अतिरिक्त हरिवंश का भी समावेश हो जाता है। इस

1 Ray Ch Studies in Ind Ant Pt. IV p 174
2 S Konow Indische Drama p 50
3 JRAS 1908 p 529—The Hariv was certainly written before the middle of the 5th cen , for an inscription of A D 462 speaks of the Mbh, as consisting of 100 000 ślokas, a total which it does not reach even approximately unless the Hariv. be included.

शिलालेख का काल पाँचवी शताब्दी स्वीकार कर लेने पर कम से कम तृतीय शताब्दी तक महाभारत के साथ हरिवंश के भी वर्तमान रूप के आविर्भाव का परिचय मिलता है।

हरिवंश के बहि साक्ष्य प्रमाणों की दृष्टि से स्मृतियों और सूत्रों का स्थान बहुत ऊँचा है। यह स्मृतियाँ दीनार' शब्द के उल्लेख से हरिवंश में प्रयुक्त दीनार के विषय में नवीन सामग्री प्रस्तुत करती है। भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र में लक्ष्मी के दीनारग्रथित हार का वर्णन है।[1] ज्ञात होता है इस कल्पसूत्र के काल में दीनारों का प्रयोग आभूषणों के लिए भी होता था।

'दीनार' शब्द का उल्लेख और उसका स्पष्टीकरण नारदीय स्मृति में हुआ है। इस स्मृति के अन्तर्गत दीनार के मूल्य तथा उसके भारतीय नाम 'सौवर्ण' का उल्लेख है।[2] नारद धर्मशास्त्र की भूमिका में दीनारों का भारत में प्रचारकाल तृतीय शताब्दी माना गया है।[3] नारदीय स्मृति की भूमिका में इस ग्रन्थ का काल पाँचवी शताब्दी माना गया है।[4] नारदीय स्मृति को पाँचवी शताब्दी का ग्रन्थ मान लेने पर ग्रन्थ में दीनारको का उल्लेख कोई विशेषता नही रखता।

1 Jacobi　SBE Vol 22 p 233—She were strings of pearls a necklace of jewels with a string of Dināras and a trembling rain of earrings

2 Jacobi　SBE Vol 33 p 18—The second passage (appendix V 60 p 232) specially valuable, because it contains an exact statement of the value of a Dinara which it says is called Sauvarana also

3 Jacobi　SBE Vol 33 p 18—The gold Dinaras most numerously found in India belong to 3rd cen A D (Buhler SBE Vol XXV CVIII West and Buhler p 48, Maxmuller His of ancient San Lit p 245 Jolly Tagore Law Lectures p 36 Horule Proceedings of the 7th Oriental Conf p 134)

4 Jacobi　SBE Vol 33 p 17—If the Nāradiya Dharmaśastra and the Mrichchhakatika are contemporaneous productions, we have a further reason for assign-

भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र नारदीय स्मृति के काल का ज्ञात होता है। किन्तु इन ग्रन्थों को सूत्रग्रन्थों में उत्तरकालीन मानना पड़ेगा। भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र को जेकोबी ने अर्वाचीन स्वीकार किया है।[1] अतः दीनारों का उल्लेख यहाँ पर भी कोई विशेषता नहीं रखता।

शुंग राजा पुष्यमित्र की कूट राजनीति के वर्णन में एक श्रमण-सिर के लिए सौ दीनारों के दान का उल्लेख है।[2] अतः द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व में भी भारत में दीनारों के प्रचार का ज्ञान होता है।

नारदीय स्मृति में विवाह से सम्बद्ध नियम हरिवंश के काल पर कुछ प्रकाश डालते हैं। नारद इस स्मृति में विवाह की स्वयंवर प्रथा को अन्य वैवाहिक नियमों से निम्न स्थान देते हैं।[3] स्वयंवर के विषय में यही विचार हरिवंश के विष्णुपर्व में रुक्मिणी के स्वयंवर के अन्तर्गत मिलते हैं। यहाँ पर कृष्ण स्मृतिकार की भाँति रुक्मिणी के स्वयंवर को निन्दायोग्य समझते हैं। स्वयंवर की विरोधी विचारधारा के लिए कृष्ण प्राचीन धर्म का आधार ग्रहण करते हैं।[4] नारदीय स्मृति और हरिवंश के रुक्मिणी-स्वयंवर में स्वयंवर विषयक समान विचारों के द्वारा इन दोनों ग्रन्थों में एक दूसरे के ऋण को स्वीकार करना पड़ता है। नारदीयस्मृति का काल पाँचवीं शताब्दी मान लेने पर हरिवंश को इस स्मृति का ऋणी नहीं माना जा सकता। किन्तु हरिवंश में 'इतिधर्मो व्यवस्थितः' के कथन से किसी प्राचीन धर्मशास्त्र

ing the composition of the former work to the 5th cen. A D.

1. Jacobi : SBE Vol. 22p. 233—This word (Dinara) ...... proves the late composition of this part of the Kalpasutra.
2. Camb. His Ind. Vol. 1 p 518— यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।
3. Jacobi SBE Vol 33 p 169—This is the custom of Svayambara, so well known from the Indian epics. It appears from the paragraph that Narada does not allow this custom to be practised except with certain restrictions.
4. हरि० २.५१.१५, ३२–३३

से परिचय की सूचना मिलती है। इस समस्त प्रसंग में मनु का नामोल्लेख एक से अधिक बार हुआ है।[1] अतः स्वयंवर के प्रति अवहेलना का यह भाव निश्चय ही मनुस्मृति से संगृहीत है, नारदीय स्मृति से नहीं।

मनुस्मृति में स्वयंवर के प्रति उपेक्षाभाव नारदीय स्मृति की भाँति प्रत्यक्ष रूप में नहीं मिलता। यहाँ पर संक्षिप्त रूप से स्वयंवर विधि को निम्न कोटि का विवाह बतलाया गया है। अन्य प्रकार के विवाहों के सम्भव न होने पर अन्तिम वैवाहिक-विधि स्वयंवर मानी गयी है।[2] स्वयंवर को विवाहों में अन्तिम स्थान देने के कारण उत्तरकाल में स्वयंवर की मिटती हुई परम्परा का ज्ञान होता है।

हरिवंश में मनुस्मृति तथा नारदीय स्मृति में प्रदर्शित स्वयंवर की अवहेलना वैवाहिक नियमों के क्रमशः परिवर्तनशील स्वरूप का परिचय देती है। सम्भवतः स्वयंवर के विषय में मनु के निषेधात्मक सिद्धान्त ने हरिवंश को भी प्रभावित किया है। स्वयंवर से सम्बद्ध यही विचारधारा पर्याप्त समय के बाद नारदीय स्मृति में मिलती है। अतः मनु के काल से प्रचलित विचारधारा में हरिवंश का स्थान द्वितीय है। नारदीय स्मृति अवश्य मनु तथा हरिवंश से उत्तरकालीन है।

हरिवंश के विषय में पुराणों के बहिर्गत प्रमाण स्वतन्त्र विशेषता रखते हैं। पुराणों के विशाल साहित्य में केवल अग्नि० में हरिवंश का स्पष्ट उल्लेख आता है। हरिवंश की गणना यहाँ पर प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थों की सूची में की गयी है। गीता, रामायण, महाभारत तथा आगमग्रन्थों के साथ हरिवंश को भी प्रसिद्ध ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] अग्नि० के अन्तर्गत एक पूरे अध्याय में हरिवंश का सार रूप से वर्णन हुआ है। अग्नि का यह अध्याय प्रत्येक दृष्टि से वर्तमान हरिवंश से समानता रखता है। कृष्णचरित्र की जो विशेषताएँ हरिवंश में मिलती हैं, अग्नि० में उनका अनुकरण किया गया है।[4] ज्ञात होता है अग्नि० पूर्वकाल में हरिवंश के वर्तमान रूप से परिचित हो चुका था। अन्यथा हरिवंश के विषय में इतनी सामग्री अग्नि० में सम्भव न थी।

१. हरि० २ ५१. १५, ३२–३३.   २ मनु० ९ ९०–९१.

३. अग्नि० ३८३ ५२–५३—आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वविद्या प्रदर्शिता।
सर्वे मत्स्यावताराद्या गीता रामायणं त्विह॥
हरिवंशो भारतं च नवसर्गाः प्रदर्शिताः।
आगमो वैष्णवो गीतः पूजा दीक्षा प्रतिष्ठया॥

४. अग्नि० १२ हरिवंशवर्णन।

अग्नि० की विषयसामग्री प्राचीन पुराणों से भिन्न है। पुराण पचलक्षण इस पुराण में केवल अस्तव्यस्त रूप में मिलते हैं। प्राचीन पुराणों के पचलक्षण के स्थान पर अग्नि० में तत्कालीन विविध विद्या, कला, विज्ञान तथा व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी शिक्षाएँ मिलती है। इस कारण अग्नि० प्राचीन पुराणों की परम्परा से हटकर विविध विद्याओं तथा कलाओं के कोष का स्वरूप धारण करता दिखलाई देता है। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने अग्नि० से मिलती-जुलती विषयसामग्री के कारण नारद और गरुड पुराणों को भी अग्नि० की ही श्रेणी में रखा है।[1] विषय-सामग्री तथा शैली की दृष्टि से नारद० और गरुड० अग्नि० की श्रेणी में रखे जा सकते है। सम्भवत इन तीनों पुराणो में अर्वाचीन सामग्री के जुडने का समय लगभग समान था। पुराणों में उत्तरकाल में जोडी जानेवाली सामग्री का काल श्री ज्ञानी ने प्रथम शताब्दी से सातवी शताब्दी तक निश्चित किया है।[2] पुराणों में साम्प्रदायिक विषयों का काल यदि इससे भी बाद तक माना जाय, तो अत्युक्ति न होगी। कारण यह है कि पुराणों में मिलने वाली शैव, वैष्णव और शाक्त परम्पराएँ पर्याप्त अर्वाचीन है। वैष्णव भक्ति की विभिन्न शाखाएँ दसवी शताब्दी के बाद भी अनेक नवीन रूपों के साथ प्रादुर्भूत होती रही हैं। भागवत, पाँचरात्र, श्रीवैष्णव परम्पराएँ सूक्ष्म भेदों के आधार पर अलग विकसित वैष्णव परम्पराओं के रूप मे दिखलाई देती हैं। भागवत में विष्णु भक्ति की भागवत परम्परा, विष्णु० में पाचरात्र और पद्म० में श्रीवैष्णव परम्पराएँ मिलती है।[3] इनमें से भागवत तथा पाचरात्र प्राचीन हैं। श्रीवैष्णव-शाखा इन दो

1 H P Shastri JBORS Vol. 14 1928 p. 330. The first group of the 3 Purānas (Garuda. Agni & Nārada) is most remarkable as containing the Sāra of all the great works in science & art in Sanskrit literature.

2. S. D. Gyani . NIA Vol 5. 1942-43 p. 135—"IV Sectarian or Encylopaedia Stage—(from A D. 100-700)—*This is represented in the Purānas* by Chaps on devotion to Śiva Viṣnu & the Māhāmāyā of Tirthas.

3. Farquhar : Rel Lit of Ind p. 230—The whole theory & practice of Bhakti in this Purāna

प्राचीन शाखाओं से उत्तरकालीन ज्ञात होती है। श्रीवैष्णव परम्परा में कृष्णभक्ति के अतिरिक्त राधा का सर्वोच्च स्थान तथा कृष्ण की चित् शक्ति के रूप में उनका परिचय इस सम्प्रदाय की उत्तरकालीनता का एक कारण है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत तथा महाभारत शब्द का उल्लेख हरिवंश के विषय में भी सामग्री प्रस्तुत करता है। इस गृह्यसूत्र में भारत तथा महाभारत शब्द के उल्लेख के विषय में विद्वानों में मतभेद है। वेबर, मेक्समूलर, होल्टजमान तथा हापकिन्स आश्वलायन० में 'भारत' और 'महाभारत' शब्दों की सार्थकता पर सन्देह प्रकट करते हैं।[1] श्री उतगीकर इन पाश्चात्य लेखकों का विरोध करते हैं। उतगीकर के अनुसार आश्वलायन शौनक के शिष्य थे तथा शौनक का वर्णन महाभारत में हुआ है। इस कारण आश्वलायन के द्वारा 'भारत' और 'महाभारत' शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक है।[2]

(Bhāgvata) is very different from the Bhakti of the Bhagvadgītā & of Rāmānuja.......

Farquhar : Rel . Lit. of Ind. p. 182—Their (Pāncarātra Samhitā) striking similarity to the "Saiva Āgamas & the early Tāntrik lit—both Hindu & Buddhist, suggests that the earliest of them arose about the same time, as these 3 lit. (The Pāncarātra Samhitā of Kashmir, Tamil land & South Kanara) i.e. probably between A.D. 600-800.

Farquhar : Rel. Lit. Ind. p. 320—The bulk of the Uttarkhand of the Padm. will probably be found to be a Srivaisnava document belonging to to the beginning of this period (1552-1624).

1. Proceedings & the Trans. of the Orient. Conf. Poona, N. B. Utgikar p. 48.
2. N. B. Utgikar: Proceedings of the Orient. Conf. p. 55—There are sufficient indications preserved for

आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' शब्द महाभारत का वाचक है। महाभारत के कथन के द्वारा शतसहस्र श्लोको का ज्ञान होता है। महाभारत के शतसहस्र श्लोकों के अन्तर्गत हरिवंश की उपस्थिति स्वाभाविक है। अतः आश्वलायन गृह्यसूत्र के काल में महाभारत के खिल के रूप में हरिवंश भी पर्याप्त प्रख्यात हो गया था।

शाखायन तथा साम्भव्य गृह्यसूत्रों में 'भारत' तथा 'महाभारत' का उल्लेख नही है। इस आधार पर श्री हापकिन्स ने आश्वलायन गृह्यसूत्र को अन्य गृह्यसूत्रों से अर्वाचीनतम निश्चित किया है।[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र को अन्य गृह्यसूत्रों से उत्तरकालीन मान लेने पर शतसहस्री संहिता के रूप में महाभारत का उल्लेख कोई महत्त्व नही रखता।

बहिर्गत प्रमाणो में दीनार शब्द के आधार पर हरिवंश के काल को पीछे नही हटाया जा सकता। कारण यह है कि 'दीनार' का उल्लेख करने वाले यह ग्रन्थ प्राचीन नही है। दीनार शब्द से परिचय सूचित करने वाली नारदीय स्मृति इन ग्रन्थो में प्राचीनतम है। किन्तु नारदीय स्मृति का काल पाँचवी शताब्दी है। पाँचवी शताब्दी से सातवी शताब्दी के दशकुमारचरित में तक 'दीनार' का उल्लेख है।[2] इस काल के बीच के विविध ग्रन्थों में दीनार' का उल्लेख केवल दीनार शब्द के भारत में व्यापक प्रचार का ही परिचय देता है। नारदीय स्मृति से पूर्ववर्ती होने के कारण हरिवंश के उत्तरकालीन इन ग्रन्थो म दीनार का उल्लेख कोई नवीन प्रकाश नही डालता।

वज्रसूची और अग्नि० के प्रमाण हरिवंश के बहिर्गत-प्रमाणो में महत्त्वपूर्ण हैं। वज्रसूची और अग्नि०के आधार पर हरिवंश पर्व का काल द्वितीय शताब्दी में निश्चित हो जाता है। हरिवंश का हरिवंशपर्व इस पुराण के अन्य पर्वों से बहुत पूर्ववर्ती है।

us in the literary tradition of India which enable us to understand why the Bhārata & the Mahābhārata might have come to be noticed & recorded by Āsvalāyana . The latter is a direct pupil of Saunaka & Saunaka's name is closely associated with the fine redaction of Mbh itself.

1. Hopkins : GEI p. 389-390.

२. दशकुमार० उत्तर० ३. मया जितश्चासौ षोडशसहस्राणि दीनाराणाम् ।

हरिवशपर्व की वशावली की वायु० तथा ब्रह्म०से समानता तथा स्मृति-सम्बन्धी सामग्री का अभाव इस पर्व की प्राचीनता को पुष्ट करते है। वज्रसूची तथा अग्नि० के द्वारा द्वितीय शताब्दी में हरिवश का कालनिर्णय केवल हरिवशपर्व के लिए समीचीन होता है, इस पुराण के अन्य भागो के लिए नही। अत वहिर्गत प्रमाणो के आधार पर हरिवशपर्व का काल द्वितीय शताब्दी के लगभग निश्चित होता है।

हरिवश के अन्य वहिर्गत प्रमाण आन्तरिक प्रमाणो के आधार पर निश्चित किये गये काल से सामञ्जस्य रखते हैं। मनुस्मृति तथा नारदीय स्मृति में स्वयवर के प्रति उपेक्षाभाव के आधार पर हरिवश मनुस्मृति से उत्तरकालीन और नारदीय स्मृति से पूर्वकालीन पुराण ज्ञात होता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'महाभारत' का उल्लेख भी लगभग इसी काल की ओर सकेत करता है।

विद्वानो के विचार

पुराणो के कालनिर्णय में विद्वानो ने विविध विचार प्रस्तुत किये है। विद्वानो के यह विचार किसी पुराण के काल की सीमा निर्धारित कर देते हैं। अधिकाश पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् हरिवश का काल चतुर्थ शताब्दी निश्चित करते है।[1] हरिवश को चतुर्थ शताब्दी का सिद्ध करने के लिए इन विद्वानो के द्वारा दिये गये तर्क निराधार नही है। किन्तु वे तर्क कुछ स्थलो पर अविश्वसनीय अवश्य है।

श्री हाजरा ने हरिवश को महाभारत का खिल मानकर उसका काल चतुर्थ शताब्दी निश्चित किया है। यहाँ पर हाजरा हरिवश के कृष्णचरित्र में कृष्ण तथा गोपिकाओ की विलासक्रीडा की प्रवृत्ति के आधार पर हरिवश को विष्णु० का उत्तरकालीन पुराण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार हरिवश में कृष्ण तथा गोपिकाओ की क्रीडाएँ अधिक अश्लील होने के कारण विष्णु० से अर्वाचीन है।[2] केवल इसी एक सिद्धान्त के आधार पर समस्त पुराण की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता का निश्चय नहीं किया जा सकता। विष्णु० तथा हरिवश की अन्य पौराणिक प्रवृत्तियो की तुलना से विष्णु० की उत्तरकालीनता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। विष्णु० के रास में राधा

1. Hazra : Pur. Rec. p 23.
   Farquhar : Rel. Lit of Ind p. 143.
   Hopkins : GEI p. 387.
2. Hazra : Pur. Rec. p. 23; ABORI. Vol. 17 p. 18.

की सूक्ष्म कल्पना अपने प्रारम्भिक रूप में मिलती है। हरिवंश में इस प्रकार की किसी भी गोपिका का रूप निश्चित नही हुआ है। कृष्ण के विरह में मुक्ति पाने वाली गोपिका का उल्लेख विष्णु० में है किन्तु हरिवंश में उसका कोई भी संकेत नही है। विष्णु० के कृष्ण-चरित्र में पाचरात्र वैष्णव परम्परा का प्रभाव दिखलाई देता है, किन्तु हरिवंश का कृष्ण चरित्र किसी विशेष वैष्णवपरम्परा का प्रभाव नहीं सूचित करता। अतः किसी एक अंश को लेकर निश्चित किया गया काल अधिक प्रामाणिक नही माना जा सकता।

श्री हॉपकिन्स ने भी हरिवंश का काल चतुर्थ शताब्दी निश्चित किया है। उन्होंने कुछ तर्कों के आधार पर हरिवंश को महाभारत से उत्तरकालीन माना है। उनके अनुसार हरिवंश में नाटक का विकसित रूप दिखलाई देता है, किन्तु महाभारत में नाटक के सम्पूर्ण विकसित रूप का अभाव है।[1] हरिवंश की उत्तरकालीनता के लिए दूसरा तर्क एकानंशा (योगमाया) की महाभारत में अनुपस्थिति तथा हरिवंश में स्पष्ट उल्लेख माना गया है।[2] तीसरे तर्क के अनुसार हरिवंश में पुरुषो के साथ यादवस्त्रियों के आसवपान में महाभारतकालीन परिष्कृत सभ्यता का बिगड़ा हुआ रूप मिलता है।[3] हॉपकिन्स और फरकुहार के द्वारा प्रस्तुत यह तर्क अवश्य प्रामाणिक है। इन तर्कों के आधार पर यह स्वीकार करना पडता है कि हरिवंश के पूर्वोक्त स्थल महाभारत से उत्तरकालीन हैं। किन्तु किसी स्थल में केवल एक प्रमाण के आधार पर समस्त हरिवंश को महाभारत से उत्तरकालीन नही माना जा सकता।

पाश्चात्य विद्वानो में श्री किरफेल ने हरिवंश की प्राचीनता सप्रमाण सिद्ध की है। उन्होंने हरिवंश के वंशवर्णन के आधार पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार हरिवंशपर्व का वंशवर्णन अन्य सभी पुराणो में मौलिकतम होने के कारण महत्वपूर्ण है।[4] वंशावलियों के दृष्टिकोण से हरिवंश को प्रारम्भिकतम पुराण मानने पर इस पुराण की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। किरफेल द्वारा प्रस्तुत हरिवंश की वंशावली के मौलिकताविषयक कथनो के आधार पर हरिवंशपर्व का काल द्वितीय शताब्दी के लगभग निश्चित होता है। श्री हॉपकिन्स ने महाभारत के मौलिक

1. Hopkins : GEI p. 55.
2. Farquhar : Rel. Lit. Ind. p. 151.
3. Hopkins : GEI p. 376-377.
4. Kirfel : JVOI-Vol. 8. No. 1. p. 29.

वृत्तान्तों के काल को चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व से द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व निश्चित किया है।[1] वंशावली से सम्बद्ध इन वृत्तान्तों के हरिवंश में मौलिकतम होने के कारण हरिवंशपर्व का निश्चय द्वितीय शताब्दी का माना जा सकता है।

श्री फरकुहार ने अपने ग्रन्थ में हरिवंश की प्राचीनता को स्वीकार किया है। अट्ठारह महापुराणों में हरिवंश की अनुपस्थिति उनके अनुसार समीचीन नहीं है। पंचलक्षणों तथा पुराणगत अर्वाचीन विषयों के आधार पर हरिवंश को एक सम्पूर्ण पुराण बताकर इसको बीसवां महापुराण माना है।[2] वे हरिवंश को भागवत सम्प्रदाय का प्रवर्तक पुराण मानते हैं। विष्णुपुराण उनके अनुसार पाचरात्र का प्रवर्तक वैष्णव पुराण है। श्री फरकुहार विष्णु को हरिवंश का समकालीन मानते हैं। हरिवंश और विष्णु की समकालीनता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कृष्णचरित्र के अन्तर्गत हल्लीस नामक नृत्य को आधार बनाया है। उनके अनुसार हल्लीस नृत्य का उल्लेख भासरचित 'बालचरित' नामक नाटक में है, जो तृतीय शताब्दी का माना जाता है। हरिवंश में वर्णित हल्लीस नृत्य में गोपिकाओं के साथ कृष्ण की क्रीडाओं और 'बालचरित' में इनके अभाव के कारण फरकुहार हरिवंश को चतुर्थ शताब्दी का मानते हैं।[3]

1. Hopkins : GEI p. 398—A Mbh. tale with Pāndu heroes. lays & legends combined by the Purānic diaskensts, Krṣna as a demigod (no evidence of didactic form or of Krṣna's divine supremacy),—400-200 B.C.
2. Farquhar : Outlines Rel. Lit. Ind. p. 139—But the actual number of existing works recognised as Purānas is twenty; for the Hariv., *which forms the conclusion of the Mbh.* is one of the earliest and greatest of the Purānas.
3. Farquhar : Outlines p. 143-144—"The Hariv. may be a Bhāgavata document, while the Visnu Purāna sprang from the Vaiśnava sect known

श्री फरकुहार के अनुसार विष्णु के कृष्णचरित्र के अन्तर्गत जो बाललीलाएँ सक्षिप्त रूप में मिलती है, वे हरिवंश में अत्यन्त विस्तृत हो गयी है ।[1] किन्तु कृष्णकथा के सूक्ष्म निरीक्षण के बाद ज्ञात होता है कि विष्णु० के अन्तर्गत कृष्णचरित्र के अनेक वृत्तान्त हरिवंश में नही मिलते ।[2] विष्णु० में हरिवंश से मिलते-जुलते वृत्तान्त भागवत में कुछ अधिक विशद हो गये है। विष्णु० के कृष्णचरित्र में राधा के व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव इस प्रवृत्ति का एक उदाहरण है ।[3] राधा का स्वरूप हरिवंश में पूर्णतः अनुपस्थित है ।

दीनारो का उल्लेख कालज्ञान के लिए एक महत्त्वपूर्ण आधार माना जाता है। दीनारो का भारत में प्रचारकाल द्वितीय शताब्दी के लगभग निश्चित किया गया है ।[4] हापकिन्स ने भी भारत में इन सिक्को का प्रचारकाल द्वितीय शताब्दी स्वीकार

as Pāncarātras. The Hariv. cannot be dated later than A D. 400 and the Viśnu Purāṇa is so like it in most of its features that it is probable that it belongs to the same general date Both contain a good deal of comic matter, but it is on their treatment of the Krṣna legend that they are most significant The dramatist Bhāsa, who dates from the the 3rd cen A D has a play called Bālacarita, which tells the story of Krsna's youth. In it the Hallīsa sport is an innocent dance.

1. Farquhar Outlines p 144—"In the Visnu P there are various erotic touches which go a good deal further, while in the Hariv the whole story of his youth is told at much greater length and the Hallīsa is treated as involving sexual intercourse."

२. विष्णु० ५. ४–५, ८–९, १४, १८, ३६. ३. विष्णु० १३. ३३–४०.

4. Sewell : JRAS 1904. p. 591-617.

किया है।[1] इस क्षेत्र में श्री सेवेल ने अनेक तर्कों और ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर भारत में रोमन सिक्को का प्रचारकाल प्रथम शताब्दी निश्चित किया है। श्री सेवेल के अनुसार रोमन राजा आगस्टस काल से ६२ ईसवी में नीरो के काल तक रोम और भारत के बीच में व्यापार चलता रहा। इस आधार पर सेवेल ने भारत में दीनारो का प्रचारकाल प्रथम शताब्दी माना है।[2]

श्री सेवेल के आधुनिकतम तथा प्रामाणिक निष्कर्षों के अनुसार विद्वानो के द्वारा निर्धारित हरिवंश का काल पीछे हट जाता है। दीनारो का भारत में प्रचारकाल द्वितीय शताब्दी मानने पर दीनारो का उल्लेख करने वाले ग्रन्थो का काल तृतीय तथा चतुर्थ शताब्दी के बीच मानना पडता है। किन्तु दीनारो का भारत में प्रचारकाल प्रथम शताब्दी मानने पर दीनारो से परिचित ग्रन्थो को द्वितीय तथा तृतीय शताब्दी के बीच स्वीकार करना पडता है। श्री सेवेल की नवीन खोजो के आधार पर 'दीनार के उल्लेख के होने पर भी हरिवंश का काल तृतीय शताब्दी से उत्तरकालीन नही हो सकता।

हरिवंश तथा अन्य पुराण

विविध पुराणो के साथ हरिवंश का तुलनात्मक संक्षिप्त अध्ययन कालनिर्णय के लिए अत्यन्त सहायक है। कालज्ञान के लिए प्रत्येक पुराण की मुख्य-मुख्य विशेषताओ

1. Hopkins : GEI. p. 387—Hence such parts of these books as recognise the Harivanśa must be later than the introduction of Roman coins into the country (100-200 A D)
2. R. Sewell : JRAS. 1904. p. 593—With Augustus began an intercourse which, enabling the Romans to obtain Oriental luxuries, during the early days of the empire, culminated about the time of Nero, who died A D. 58.

. R. Sewell : JRAS. 1904 p. 616—Introduced into India as early as the first cen. A D., it remained as a word in common use for several years.

पर दृष्टिपात करना पड़ता है। पुराणों में मिलने वाली सामान्य प्रवृत्ति पुराणों के काल के विषय में पर्याप्त प्रकाश डालती है। साधारण प्रवृत्ति के अतिरिक्त पुराणों में अन्य विषयसामग्री मिलती है। रजि का वृत्तान्त, कृष्णचरित्र तथा पुराणों की कालविषयक अन्य विशेषताओं के द्वारा पुराणों के काल को निश्चित किया जाता है।

हरिवंश का कृष्णचरित्र भागवत के कृष्णचरित्र से अधिक मौलिक रूप में मिलता है। भागवत के अन्तर्गत कृष्ण के रास को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। भागवत में वेणुगीत तथा महारास के अन्तर्गत रास का सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन है। हरिवंश में वेणुगीत तथा महारास के अभाव तथा कृष्णगोपिकाओं की क्रीडा के सरल रूप से भागवत की पूर्वकालीन अवस्था का ज्ञान होता है। हरिवंश तथा भागवत के काल की तुलना में सर्वप्रथम भागवत के कालज्ञान की आवश्यकता होती है। श्री शर्मा ने भागवत का काल पाँचवीं शताब्दी माना है।[1] हाजरा ने भागवत का काल पूर्वकथित काल से भी अर्वाचीन माना है।[2]

श्री शर्मा के द्वारा निर्धारित भागवत का यह नवीन काल प्रमाणरहित नहीं है। इस सिद्धान्त के द्वारा भागवत को अर्वाचीन वैष्णवपुराण माननेवाली प्राचीन विचारधारा का खण्डन होता है। किन्तु कुछ कारणों के आधार पर मत्स्य० भागवत का पूर्ववर्ती पुराण ज्ञात होता है। भागवत में वैष्णवभक्ति के भागवत धर्म का पूर्ण विकसित रूप[3] प्राचीन नहीं माना जा सकता। इस पुराण के कृष्णचरित्र के अन्तर्गत विविध प्रक्षिप्त वृत्तान्त उत्तरकालीनता की सूचना देते हैं।[4] अन्त में भागवत की स्मृतिसम्बन्धी सामग्री स्मृतिसम्बन्धी विषयों को प्रस्तुत करने वाली अर्वाचीन पौराणिक परम्परा

1. B N K Sharma ABORI Vol XIV p 218—The evidences show that the Bhāgvata was well-known in the 10th cen. A D, was extant in the 7th cen, was not unknown in the 6th cen : & might have been compiled about the 8th cen A D
2. Hazra Pur Rec. p 53-55
३. भाग० १. २ ११–३४, ३–४; ११. २–५, ११, १४–१६; १२. ...
४. भाग० १०. ६–८, १२–१४, २२–२३, ६४, ७२, ७४–७५

को प्रस्तुत करती है।[1] भागवत मत्स्य० से उत्तरकालीन पुराण होने के कारण हरिवंश से बहुत अधिक उत्तरकालीन पुराण माना जा सकता है। श्री हाज़रा ने भागवत की हरिवंश से उत्तरकालीनता स्वीकार की है।[2]

श्री दीक्षितर तथा हाज़रा भागवत के काल के विषय में विरोधी मत प्रस्तुत करते हैं। इन दो मतों के भेद का परिहार अपेक्षित है। भागवत से मत्स्य० का परिचय मत्स्य० के उस स्थलविशेष के प्रक्षिप्त होने का सूचक है। मत्स्य० के एक भाग पर *भागवत के नामोल्लेख के आधार पर मत्स्य० को भागवत से उत्तरकालीन नहीं माना* जा सकता। अतः भागवत की पूर्वनिश्चित तिथि में कोई बाधा नहीं पड़ती। भागवत हरिवंश के उत्तरकालीन होने के कारण पाँचवीं शताब्दी अथवा इसके बाद का माना जा सकता है।

विष्णु० का काल श्री हाज़रा ने पाँचवीं शताब्दी निश्चित किया है।[3] विष्णु० का यह काल समीचीन प्रतीत होता है। कृष्णचरित्र की दृष्टि से विष्णु० हरिवंश से उत्तरकालीन है। विष्णु० के रास में राधा का अज्ञात व्यक्तित्व बीज रूप में दिखलाई देता है। वंशवर्णन में मौलिकता के दृष्टिकोण से भी विष्णु० का स्थान हरिवंश के बाद है। अतः पाँचवीं शताब्दी में विष्णु० का कालनिर्धारण समीचीन है।

विद्वानों के द्वारा वायु० की प्राचीनता की सर्वस्वीकृति के विषय में पहले कहा जा चुका है। श्री हाज़रा ने हरिवंश में वायु० के उल्लेख की ओर संकेत किया है।[4]

१. भा० ३. ३०–३१; ४. १९; ७. ११–१५; ११. १७–१८, २७.

2 Hazra : Pur. Rec p. 55—The latter (i.e. the Bhāgavata) contains the biography of Krsna. which is here given in much greater detail than in the Visnu P. & in the Hariv. *Hence it seems to be later* than the Harivansa also The latter being dated about 400 A.D., the Bhāgavat cannot possibly be earlier than *about 500 A.D*

3. Hazra · Pur. Rec. p. 23.

4 Hazra : Pur. Ecc. p. 13—The Vāyu is *perhaps the oldest* of the extant Purānas ... The Harivansa (1, 7, 13 & 25) refers to Vāyu as an authority.

हरिवंश में वायु० का उल्लेख वायु० की प्राचीनता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। वायु० का यह प्राचीन रूप वायु० के वर्तमान पाठ से भिन्न है। वर्तमान वायु० में प्राचीन पाठ बिखरे रूप में मिलते हैं। वायु० शैव-मत से प्रभावित है। अतः शैव-धर्म के समृद्धि-काल में वायु० के सकलन का ज्ञान होता है।[1]

श्री हाजरा ब्रह्माण्ड० को वायु० के बाद दूसरा मौलिक पुराण मानते हैं। ब्रह्माण्ड० को वायु० के प्राचीन रूप का एक भाग मानने पर वायु० की भाँति ब्रह्माण्ड० को भी हरिवंश का पूर्ववर्ती स्वीकार करना पड़ता है। हरिवंश का हरिवंशपर्व ब्रह्माण्ड० और वायु० से पूर्ववर्ती है। हरिवंश की प्राचीन वंशावली इसका प्रमाण है।[2] किन्तु हरिवंश के शेष दो पर्व वायु० और ब्रह्माण्ड० से अर्वाचीन ज्ञात होते हैं।

मत्स्य० का कालनिर्णय हरिवंश के कालनिर्णय में अत्यन्त सहायक है। मत्स्य० का काल श्री दीक्षितार ने तृतीय शताब्दी माना है।[3] किन्तु पौराणिक विषयों के तुलनात्मक अनुशीलन के आधार पर मत्स्य० हरिवंश से उत्तरकालीन ज्ञात होता है। हरिवंश में रजि के वृत्तान्त के अन्तर्गत बृहस्पति के द्वारा निर्मित शास्त्र में जैनधर्म के प्रवर्तक जिन का उल्लेख नहीं हुआ है। मत्स्य० में उसी वृत्तान्त के अन्तर्गत जिनधर्म का स्पष्ट उल्लेख है।[4] राजवंश की शुद्धता की दृष्टि से मत्स्य० का हरिवंश से निम्न स्थान हरिवंश से इस पुराण की वंशावलियों की उत्तरकालीनता का सूचक है।[5] मत्स्य० में राजनीति तथा वास्तुशास्त्र का विशद और प्रामाणिक विवेचन उस काल की सूचना देता है, जब राजनीति तथा वास्तुकला उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच चुकी थी।[6] किन्तु हरिवंश में राजनीति तथा वास्तुकला की इतनी विकसित अवस्था

१ वायु० ११-१५, २३-२४, २७
2 Kirfel JYOI Vol 8 No 1 p 24-29
3 Dixitar Matsya—A study p 35—The latest date for the Purāna must be found somewhere towards the close of the 3rd century as the Guptas commenced their rule from about 320 A D
४. मत्स्य० २४. ३५-४२.
5 Kirfel JVOI Vol 8 No 1 p 26-29, Pargiter JRAS p 229
६. मत्स्य० २१५-२२०;-२५२-२६९ (वास्तुशास्त्र)

नही मिलती, अत. हरिवश निश्चय ही मत्स्य० से पूर्वकालीन सामाजिक दशा का परिचायक है। मत्स्य० को तृतीय शताब्दी का पुराण स्वीकार कर लेने पर प्रक्षिप्त स्थलों से रहित हरिवंश के मौलिक भाग को द्वितीय शताब्दी का मानना चाहिए।

ब्रह्म० विषय-सामग्री तथा पौराणिक प्रवृत्ति के दृष्टिकोण से हरिवंश से बहुत समानता रखता है। ब्रह्म० के कृष्णचरित्र के अन्तर्गत कृष्ण के मथुरा-गमन के अवसर पर गोपिकाओ के करुण रुदन का वर्णन है।[1] गोपिकाओं का यह रुदन कृष्णकथा के अर्वाचीन रूप का परिचायक है। कृष्णचरित्र की अर्वाचीनता के अतिरिक्त ब्रह्म० में स्मृतिसम्बन्धी सामग्री का विशिष्ट स्थान इस पुराण को हरिवश से अर्वाचीन सूचित करता है।[2] किन्तु ब्रह्म० के विषय में श्री किरफ़ेल का मत इस निष्कर्ष का विरोध करता है। किरफ़ेल ने ब्रह्म० को हरिवंश का मूल स्रोत माना है। ब्रह्म० के अन्तर्गत राजवशो की मौलिकता के आधार पर उन्होंने इस पुराण को मौलिक स्थान दिया है। ब्रह्म० को मौलिक पुराण मानने पर इस पुराण की स्मृतिसामग्री तथा कृष्ण के मथुरा-गमन के अवसर पर गोपिकाओं के वियोग का प्रसंग प्रक्षिप्त विषय स्वीकार करना पडता है। ब्रह्म० को मौलिक पुराण मानने पर भी हरिवंश के कालनिर्णय में कोई व्यवधान नही पडता।

श्री दीक्षितर ने मत्स्य० में कुछ उपपुराणो के उल्लेख की ओर सकेत किया है। यह उप-पुराण, नान्दी, साम्ब तथा नारसिंह है। किन्तु इन उपपुराणो का विषय अत्यन्त अर्वाचीन है। ये तीनों वैष्णव पुराण हैं। विष्णु और कृष्ण के आंशिक रूप नृसिंह और साम्ब को इन पुराणो में प्रमुख माना गया है। साम्ब जाम्बवती नामक कृष्ण की पत्नी से उत्पन्न पुत्र है।[3] नृसिंह विष्णु० के प्रसिद्ध अवतार हैं।

१. ब्रह्म० १९२. १३–३२.
२. ब्रह्म० २५, ४१–७०, २१६–२१७, २२०, २२३–२३१.
३. हरि० २. १०३. ९—जाम्बवत्याः सुतो जज्ञे साम्बः समितिशोभनः ।
V. R. B. Dikshitar: Matsya P.—A study p. 61—
The Nārasimha Purāṇa is claimed to be the section on Nārasimha's greatness in the major Padma Purāṇa. Thus the Upa-Purāṇas grew out of & sometimes with the major Purāṇas.

पुराणो में नृसिह का प्रसग हिरण्यकशिपु के वृत्तान्त में आता है। साम्ब का प्रसग लगभग इन सभी पुराणों में सीमित स्थान रखता है। प्रारम्भिक पुराणों में नृसिह और साम्ब का यह सक्षिप्त प्रसग साम्ब० और नारसिंह पुराणो में व्यापक रूप ग्रहण कर चुका है। नृसिह और साम्ब के अवतारों को पूर्ण पुराण के रूप में विकसित होने में अवश्य पर्याप्त समय लगा होगा। नृसिह-तापनी-उपनिषद् में नृसिहावतार का दार्शनिक विवेचन है। नारसिह० को नृसिह-तापनी उपनिषद् से पूर्ववर्ती स्वीकार करना चाहिए। नारसिंह० में नृसिह से सम्बद्ध दार्शनिक सिद्धान्त विकसित अवस्था में नही दिखलाई देते। सम्भवत नारसिंह० के काल तक नृसिह के व्यक्तित्व से सम्बद्ध दार्शनिक विचार पूर्ण रूप से विकसित न हो पाये थे। नारसिंह० की भाँति साम्ब० भी उत्तरकालीन पौराणिक परम्परा का परिचायक है।

श्री दीक्षितर के द्वारा नारसिंह०, नान्दी० और साम्ब० की मत्स्य० से पूर्वस्थिति का इतनी सरलता से निराकरण नही किया जा सकता, किन्तु उनके इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए मत्स्य० और इन तीनों उपपुराणों के पाठ पर ध्यान देना आवश्यक है। मत्स्य० के पाठ पर सन्देह कम किया जा सकता है। किन्तु साम्ब० नान्दी० और नारसिंह के पाठो में पौराणिक विषयो के आदान-प्रदान का बोध होता है। ज्ञात होता है, साम्ब० नारसिंह ० और नान्दी० का मौलिक पाठ मत्स्य० का पूर्ववर्ती था। किन्तु उत्तरकाल में मौलिक पाठ के साथ नानाविध अर्वाचीन विषयों के जुड जाने के कारण यह उपपुराण अर्वाचीन काल में सकलित हुए ज्ञात होते हैं।

हरिवश के अन्तर्गत अन्य पुराणो की भाँति अर्वाचीन सामग्री भी मिलती है। दीनार का उल्लेख हरिवश म मिलने वाली अर्वाचीन सामग्री के रूप में है। हरिवश के अन्तर्गत कृष्ण के व्यक्ति का पूर्णतम विकास उनके प्रति देवाधिदेव सम्बोधन से स्पष्ट है।[1] हरिवश का विष्णुपर्व निश्चय ही उस काल का है, जब कृष्ण का स्वरूप पूर्ण विकसित हो गया था। हरिवश के विष्णुपर्व तथा भविष्यपर्व में देवी की स्तुति, शिव तथा कृष्ण की स्तुतियों में शाक्त, शैव तथा वैष्णव धर्म प्रवर्तक भागों के अन्तर्गत साम्प्रदायिकता दिखलाई देती है।

हरिवश के अन्तर्गत शक्ति, शैव तथा विष्णुभक्ति की यह परम्पराएँ बहुत अर्वाचीन नहीं मानी जा सकती। हरिवश में मिलने वाली शाक्त परम्परा में देवी के शिवपत्नीत्व तथा कृष्णभगिनीत्व के मिश्रण का प्रथम प्रयास दिखलाई देता है।[2] विष्णुपर्व के

१. हरि० २.५५.६०–६३

२. हरि० २.१००.६–१२; २.१२०,६,४३–४७

प्रारम्भ में आर्यास्तव के अन्तर्गत देवी के केवल कृष्णभगिनीरूप का परिचय मिलता है। हरिवंश के अन्तर्गत अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न के द्वारा देवी के स्तव में उनके कृष्णभगिनीरुप के साथ शिवपत्नीरूप का समन्वय हुआ है।[1] शक्ति के इस स्वरूप में देवी भागवत तथा कालिका० में मिलने वाले महादेवी के गुणो का पूर्ण अभाव है।[2] हरिवंश के भविष्यपर्व में कलिवर्णन के अन्तर्गत बौद्धो के प्रति प्रदर्शित अवहेलना के भाव में बौद्ध धर्म के ह्रास की अवस्था दिखलाई देती है।[3] कलिवर्णन के अन्तर्गत बौद्ध-समाज का यह चित्रण लगभग सभी पुराणो में इसी रूप में मिलता है। ज्ञात होता है, हरिवंश भी इस प्रवृत्ति से वंचित नही रहा है।

हरिवंश में मिलने वाली कुछ अर्वाचीन सामग्री बाद में जोडी गयी है। दीनार शब्द के प्रसग को हरिवंश का प्रक्षिप्त भाग नही माना जा सकता। विष्णुपर्व के अन्तर्गत कृष्ण से सम्बद्ध प्रसग में स्वाभाविक रूप से दीनारो का भी उल्लेख हुआ है। शाक्त, तथा वैष्णव परम्पराओ की उपस्थिति अर्वाचीन साम्प्रदायिक प्रभाव का सूचक है। इन धार्मिक परम्पराओ का काल छठी शताब्दी के लगभग प्रतीत होता है। भागवत में भी शैव, वैष्णव तथा शाक्त परम्पराएँ मिलती है। भागवत को छठी शताब्दी का पुराण मान लेने पर हरिवंश में मिलने वाली इस साम्प्रदायिक सामग्री को छठी शताब्दी के लगभग माना जा सकता है।

आन्तरिक और बहिर्गत प्रमाण, लेखको के मत तथा पुराणो के तुलनात्मक अध्ययन से हरिवंश के काल की निश्चित रूपरेखा बन जाती है। हरिवंश के विष्णुपर्व तथा भविष्यपर्व का काल तृतीय शताब्दी के लगभग है। हरिवंश के हरिवंशपर्व का काल विष्णुपर्व तथा भविष्यपर्व से पूर्वकालीन है। अश्वघोषकृत 'वज्रसूची' और इस पर्व के राजवंशो की प्रामाणिकता के आधार पर हरिवंशपर्व का काल द्वितीय शताब्दी के लगभग निश्चित होता है।

हरिवंश के हरिवंशपर्व की वायु० और ब्रह्माण्ड० से अधिक प्रामाणिकता सिद्ध की जा चुकी है। पौराणिक विषय-सामग्री के आधार पर हरिवंश की प्रारम्भिकता को स्वीकार कर लेने पर, एक प्राचीन पुराण के रूप में हरिवंश मान्य है।

१. हरि० २. १०७. ६–१२; २. १२० ६, ४३–४७
२. देवी भाग० ४. १९. ३१–३२; १. १. १४; कालिका० ५५–६१, ६३–७२
३. हरि० ३. ३. १५–शुक्लदन्तांजिताक्षाश्च मुंडा. काषायवाससः।
शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति शाक्यबुद्धोपजीविनः ॥

पाँचवाँ अध्याय

धार्मिक तथा सामाजिक रूपरेखा

पुराण प्राचीन भारत के सामाजिक अध्ययन के लिए प्रामाणिक स्रोत हैं। इनकी इस विशेषता का परिचय पुराणलक्षण से मिल जाता है।[1] पुराणों के पंचलक्षणसर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित सामाजिक जीवन से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हैं। पंचलक्षणों के अन्तर्गत विविध वृत्तान्त आख्यान, उपाख्यान और गाथाओं में समाज की विभिन्न अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। इसी कारण किसी पुराण के सांस्कृतिक अध्ययन के अन्तर्गत उसका धार्मिक और सामाजिक अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

भारतीय धर्म के संग्रहग्रन्थ होने के कारण पुराण भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। पुराणों में शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन तथा बौद्ध आदि अनेकों धार्मिक विचार मिलते हैं। पुराणों के अन्तर्गत धार्मिक प्रवृत्तियों का अध्ययन भारतीय धर्म और उस धर्म से समाज के सम्बन्ध को दिखाने में सहायक होता है। हरिवंश के सामाजिक अध्ययन के लिए सर्वप्रथम विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं का निरीक्षण अपेक्षित है।

हरिवंश वैष्णव पुराण है। विद्वानों ने हरिवंश को वैष्णव धर्म के प्रमुख पुराणों में एक माना है।[2] हरिवंश के विष्णुपर्व में कृष्ण के चरित्र का विशद वर्णन है। हरिवंश के अन्य पर्वों की तुलना में यह पर्व सबसे बड़ा है। विष्णु० में पंचम अंश अत्यन्त विस्तृत रूप से कृष्णचरित्र का वर्णन है। भागवत का दशम स्कन्ध कृष्णचरित्र का विशाल और भावपूर्ण चित्रण करता है। विष्णु० तथा भागवत की भाँति हरिवंश में कृष्ण का विशद चरित्र तथा हरिवंशपर्व और भविष्यपर्व में विष्णु की महिमा का प्राधान्य हरिवंश को वैष्णव पुराण सिद्ध करते हैं।

१ मत्स्य० ५३ ६४—सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चेति पुराणं पंचलक्षणम्॥
वाराह० २ ४, विष्णुधर्मोत्तर० ३ १७ ४, बृहद्धर्म० पू० १ १२, १९

2 Winternitz His Ind Lit Vol 1, p 460,
R. C Hazra Pur Rec 23, 64, H Ray Chaudhuri : His Vais Sect p 65

हरिवश, विष्णु० और भागवत के अन्तर्गत वैष्णव धर्म का प्राधान्य होते हुए भी वैष्णव भक्ति की अलग-अलग प्रवृत्तियाँ दिखलाई देती है। हरिवश में वैष्णव धर्म अपने प्रारम्भिक रूप में है। विष्णु० और भागवत में यही धर्म अधिक विकसित हो गया है। अत. विष्णु० और भागवत वैष्णव धर्म की पूर्व विकसित और हरिवश की तुलना में उत्तरकालीन धार्मिक विचारधारा का परिचय देते हैं।

हरिवश मे शैव, वैष्णव तथा शाक्त सम्प्रदाय

हरिवश के अन्तर्गत शैव और वैष्णव मतो को समान घोपित करने वाले अनेक स्थल धार्मिक समन्वय के प्रयास की सूचना देते हैं। भविष्यपर्व के अन्तर्गत कृष्ण की कैलास-यात्रा के प्रसग में कृष्ण के द्वारा शिव की स्तुति का वर्णन है।[1] इस स्तुति में कृष्ण शिव से अपने अपराधो को क्षमा करने की प्रार्थना करते हैं।[2] इसके बाद शिव कृष्ण की स्तुति करते है।[3] इस स्तुति में शिव विष्णु को साख्य, योग और ब्रह्ममय वताने के साथ ही उनकी विविध सज्ञाओ की व्युत्पत्ति करते है।[3] स्तुति के अन्त में शिव के द्वारा विष्णु और शिव में अभेद की स्थापना हुई है।[4]

विष्णु और शिव में अभेद की स्थापना हरिवश के अन्य भाग में भी दिखलाई देती है। बाणासुर की सहायता करने वाले रुद्र में तथा अनिरुद्ध की ओर से लडने वाले कृष्ण में भयकर युद्ध को देखकर ब्रह्मा मध्यस्थ का काम करते हैं। ब्रह्मा दोनों देवताओ का वैमनस्य देखकर शिव तथा विष्णु में एकता स्थापित करने वाले किसी वृत्तान्त का वर्णन करते है। यह वृत्तान्त अत्यन्त अर्वाचीन शैव और वैष्णवो की धार्मिक असहिष्णुता का परिचय देता है।[5] नीलकण्ठ की टीका के अनुसार इस प्रसग में यह कथा पापण्डियों को निरुत्तर करने के लिए गढी गयी है।[6] शैव और वैष्णव सिद्धान्तो में एकता का सम्पादन करने वाले हरिवश के स्थल साम्प्रदायिक असहिष्णुता को दूर

१. हरि० ३. ८७. १३–३८
२. हरि० ३. ८७. ३७– क्षमस्व भगवन्देव भक्तोऽहं त्राहि मां हर।
सर्वात्मन् सर्वभूतेश त्राहि मां सततं हर॥
३. हरि० ३. ८८. १८–५९
४. हरि० ३. ८८. ६०–
आवयोरन्तरं नास्ति शब्दैरर्थैर्जगत्पते॥
५. हरि० २. १२५. १६–५८
६. हरि० २. १२५. २५–टीका–एतेषां पापण्डापसदानां मुखभङ्गायेयं कथा प्रवृत्ता।

भागवत में योगमाया को 'नारायणी शक्ति' माना गया है तथा इस शक्ति के 'दुर्गा' 'चण्डिका' आदि विशेषण दिये गये हैं। किन्तु भागवत में योगमाया के साथ शिव की सहचरी के स्वरूप का समन्वय नहीं हुआ है।[1] हरिवंश में एकानंशा तथा पार्वती के व्यक्तित्व के समन्वय का आदिरूप देखा जा सकता है। आर्या एकानंशा तथा पार्वती के समन्वित रूप के दर्शन इस प्रसंग के दो प्रकार के विशेषणों में होते हैं। महाभारत के बाद सर्वप्रथम दुर्गा का व्यापक व्यक्तित्व प्रस्तुत करने के कारण शक्ति-पूजा के विकास के दृष्टिकोण से हरिवंश का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

फरकुहार ने महाभारत में एकानंशा अथवा योगमाया की अनुपस्थिति की ओर संकेत किया है। अतः फरकुहार के अनुसार एकानंशा (योगमाया) का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम हरिवंश तथा विष्णु० में हुआ है। इस आधार पर उन्होंने हरिवंश की शक्तिविषयक सामग्री को महाभारत से उत्तरकालीन माना है।[2] महाभारत और हरिवंश के शाक्त विषयों का अध्ययन करने पर फरकुहार के कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। हरिवंश-काल में शक्ति का स्वरूप लगभग निश्चित हो गया है।

brates Durga as the slayer of Mārisa and as a virgin goodess, who dwells in the Vindhya mountains, but is also the sister of Krsna Here a virgin goddess worshipped by the wild tribes of the Vindhyas has become connected with the Krsna myth No connection with Siva is suggested

१. भा० १. २५; २. ६. १५; ३. ४५–५३, ४. १–१३, २९
भा० २. ११–१२ दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च ।
माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ॥

2 Farquhar Outlines p 151—As the story of Yoganidrā is not told in the Mbh, but first appears in the Hariv and the Visnu P, the hymns in the epic are probably later than the main sections of the didactic Epic, while the hymn in the Hariv and the Devi Māhātmya are still later.

हरिवंश में कृष्णजन्म के प्रसंग में शक्ति का प्रारम्भिक रूप दिखलाई देता है। यहाँ देवी के व्यक्तित्व में एकानंशा (योगमाया), दुर्गा तथा अन्य देवियों के अतिरिक्त 'शिवपत्नी' के स्वरूप का समन्वय नहीं हुआ है। शिव की सहचरी, नवमातृ तथा अन्य देवियों के समन्वय के कारण विष्णु के व्यक्तित्व की भाँति शक्ति का स्वरूप व्यापक बन गया है। शक्ति के इस व्यापक रूप की प्रसिद्धि के कारण कदाचित् उससे सम्बद्ध स्वतन्त्र सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ है।[1] देवी भागवत, कालिका० तथा मार्कण्डेय० के अन्तर्गत देवी-माहात्म्य में शक्ति के व्यापक तथा सर्वमान्य व्यक्तित्व का विकास हुआ है।

हरिवंश के आर्यास्तव में शक्ति का सम्बन्ध शिव से स्थापित नहीं हुआ है। देवी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व कृष्ण तथा महेन्द्रभगिनी, नारायणी तथा कौमारी के रूप में प्रचलित दिखलाई देता है।[2] शबर, बर्बर, और पुलिन्दों से पूजित तथा कुक्कुट, बकरी, भेड़, सिंह और व्याघ्र से आवृत देवी का स्वरूप यहाँ पर निश्चित हो चुका है।[3] एक स्थल में देवी को सिद्धसेन की माता कहा गया है।[4] देवी के इस मातृरूप से उनके शिवपत्नीत्व का भ्रम होता है। किन्तु शिवपत्नी के रूप में उनका अनुल्लेख देवी के मातृरूप की प्राचीनता का परिचय देता है। इस प्रसंग में देवी को 'नारियों में प्राचीन तथा पार्वती' के विशेषणों से सम्बोधित किया गया है।[5] देवी के प्रति यह सम्बोधन उनके शिव-साहचर्य का पोषक नहीं है। देवी का पार्वती नाम सम्भवत

1. M Williams Hinduism p 123—Just as the male god 'Siva gathered under his own personality the attributes and functions of all the principal gods and became the great god (Mahādeva) so his female counterpart became 'one great goddess' (Devi Mahādevi) who required more propitiation than any other goddess, and to a certain extent represent all other female manifestations of the Trimurti and absorbed all their functions
2. हरि० २. २. ४६–४८; २. ३. १ 3. हरि० २. ३. ७–८
4. हरि० २. ३. ३– जननी सिद्धसेनस्य।
5. हरि० २. ३. २३–नारीणां पार्वतीं च त्वां पौराणीमृषयो विदुः।

उनके-पर्वत निवास की सूचना देता है तथा 'पौराणी' विशेषण देवी के इस स्वरूप की प्राचीनता की सूचना देता है।

आर्या के प्रसग में शक्ति का स्वरूप हरिवश के अन्तर्गत शक्ति के अन्य प्रसगो से प्राचीन है। सम्भवत: आर्या के प्रसग में देवी का व्यक्तित्व महाभारत की कौमारी देवी का निकटवर्त्ती है। महाभारत के अन्तर्गत देवी का कृष्ण से भगिनीत्व स्थापित नही हुआ है। हरिवश में कृष्ण तथा इन्द्र के भगिनीत्व के द्वारा कृष्णचरित्र के साथ देवी का *निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया है।* महाभारत के *अन्तर्गत मारिप नामक* दैत्य का विनाश करनेवाली देवी हरिवश में शुम्भनिशुम्भ दैत्यो की वधकर्त्री के रूप में प्रसिद्ध हो गयी है।[1] महाभारत में विन्ध्यवासिनी 'कौमारी देवी' तथा हरिवश में आर्यास्तव की आर्या के तुलनात्मक अनुशीलन के द्वारा हरिवश में देवी के स्वरूप का यह स्वरूप-विकास देखा जा सकता है।

हरिवश में प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के द्वारा किये गये देवी के स्तवन में शक्ति का रूप 'आर्यास्तव' की आर्या से भिन्न तथा विकसित दिखलाई देता है। देवी का सम्बन्ध यहाँ पर शिव की पत्नी के रूप में स्थापित हो चुका है।[2] देवी की स्तुतियो में प्रयुक्त अन्य विशेषण आर्यास्तव में विशेषणो से समानता रखते है।[3] प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के द्वारा देवी के स्तव के प्रसग में उनका स्वरूप आर्यस्तव के अन्तर्गत देवी के रूप से पर्याप्त उत्तरकालीन है।

अन्य धार्मिक विचारधाराएँ

उत्तरकाल में स्वतन्त्र सम्प्रदायो के रूप में प्रसिद्ध होने वाले इन प्रधान वैष्णव, शैव तथा शाक्त विचारो के अतिरिक्त अन्य परम्पराएँ हरिवश में अत्यन्त नगण्य स्थान रखती हैं, सूर्य, गणेश, गगा, तुलसी आदि की पूजा तथा माहात्म्य हरिवश में पूर्ण रूप से अनुपस्थित हैं। इन उत्तरकालीन देवी तथा देवताओ का प्रादुर्भाव अर्वाचीन

१. हरि० २.२.५१
२. हरि० २.१०७.६– नमः कात्यायन्यै गिरीशायै नमो नमः।
 हरि० २.१०७.७– नमः शत्रुविनाशिन्यै नमो गौर्यै शिवप्रिये।
 हरि० २.१२०.४४–ब्रह्माणीन्द्राणि रुद्राणि भूतभव्यभवे शिवे।
 हरि० २.१२०.४७–रुद्रप्रिये महाभागे।
३. हरि० २.१०७.६–१२; २.१२०.६.४३–४७

पुराणों में हुआ है।[1] इन पुराणों में विविध देवताओं का प्राधान्य उत्तर-कालीन विचारधाराओं का परिचय देता है।

ब्यूलर ने मानवगृह्यसूत्र में गणेश के प्रारम्भिक रूप को विनायक माना है। विनायक के इसी रूप का सकेत उन्होने महाभारत तथा हरिवश में किया है। महाभारत तथा हरिवश में विनायक गण, राक्षस, पिशाच तथा भूतो के दल के साथ चित्रित किये गये हैं। ब्यूलर ने याज्ञवल्क्य स्मृति के विनायक के साथ गणेश का तादात्म्य स्थापित किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के बाद गणश का सर्व स्वरूप गणेश उपपुराण और स्कन्द० तथा ब्रह्मवैवर्त्त० के गणेश ब्रह्म माहात्म्य में गौरवयुक्त स्थान ग्रहण करता है।[2] मानवगृह्यसूत्र महाभारत, हरिवश तथा याज्ञवल्क्य स्मृति

१ ब्रह्मवैवर्त्त० प्रकृति ४. –६, ८, १०–२३, ३९–४९, ५५–५७; गरुड० पूर्व २४, ३८, ३९–४०; स्कन्द० वैष्णव० कार्त्तिकमास माहात्म्य ३२; स्कन्द० काशी० पूवार्ध २०–२९; स्कन्द० काशी पूवार्ध ४७–५०; बृहद् धर्म० पूर्व ५. २०–९५, ८ १–५४, बृहद्धर्म० मध्य० ४२–४४, ४८–५२, ५४–५८

2 Buhler · JRAS 1898 p 382-383—In the Mānava Gṛhya indeed we meet with the worship or rather propitiation of the Vināyakas, a class of male-volant spirits, who are also mentioned in the Mbh (XII 284 131, Hariv 184 (10 697) by the side of Rākaças, Pisāças and Bhūtas In Yajnavalkya Smrti (1 171-294) these Vināyakas have become one Vināyaka, who is identified with Ganeśa, and who is said to have been appointed as ruler over the Ganas and remover of obstacles by Rudra and Brahman But I have not been able to find the legend of Ganesa acting as a scribe for Vyāsa either in the Ganeśa UpP or the Ganesa Khanda of the Brahmavaivarta

के आधार पर ब्यूलर का अध्ययन गणेश के व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

ब्यूलर ने हरिवंश के अन्तर्गत दानवो के दल में विनायक को प्रस्तुत करने वाले जिस अध्याय का उल्लेख किया है, वह हरिवंश के मौलिक स्थलो में नही माना जा सकता। हरिवंश का यह अध्याय उत्तरकालीन ज्ञात होता है। अत विनायक का स्वरूप हरिवंश कालीन सभ्यता का अग नही माना जा सकता। विनायक को प्रस्तुत करनेवाली हरिवंश की यह संस्कृति शान्तिपर्व तथा मानवगृह्यसूत्र की समकालीन है।

हरिवंश के कृष्णचरित्र का सामाजिक अध्ययन

हरिवंश में कृष्णचरित्र इस काल की अनेक विशेषताओ की ओर संकेत करता है। वैष्णव पुराणो में कृष्णचरित्र का जो विकास हुआ है, हरिवंश उसका मूल स्रोत ज्ञात होता है। कृष्ण का वृत्तान्त हरिवंश में जिन प्रवृत्तियो को प्रस्तुत करता है वे विष्णु० तथा भागवत में अदृश्य हो गयी हैं। तथा उनके स्थान पर नवीन प्रवृत्तियाँ दिखलाई देती हैं। वेणुगीत, राधा तथा रास की कल्पना विष्णु० में प्रारम्भिक रूप में मिलती है।[1] भागवत में यही कल्पना पर्याप्त रूप में विकसित हो गयी है।[2] हरिवंश में वेणुगीत तथा राधा के लिए कोई स्थान नही है। रास इस पुराण में मण्डलीनृत्य के रूप में मिलता है, जिसमें गोपकन्याएँ दो-दो का समूह बनाकर कृष्ण के चरित्र के गीत गाती हैं।[3] रास का यह रूप हरिवंश में अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है।

कृष्णचरित्र के अन्तर्गत हल्लीसक्रीडा का प्रसग हरिवंश-काल में कृष्णकथा के मूल रूप का परिचय देता है। रासक्रीडा का विषय उत्तरकालीन काल में क्रमश विस्तृत होता दिखलाई देता है। विष्णु० तथा भागवत की रासक्रीडा में केवल कृष्ण तथा

१. विष्णु० ५. १३. १६–४०, १७–रम्यं गीतध्वनिं श्रुत्वा संत्यज्यावसथांस्तया।
आजग्मुस्त्वरिता गोप्यो यत्रास्ते मधुसूदन॥
विष्णु० ५. १३. ३३– कापि तेन समायाता कृतपुण्या मदालसा।
पदानि तस्याश्चैतानि घनान्यल्पतनूनि च॥

२. भाग० १०. २९–३३

३. हरि० २. २०. २५– तास्तु पंक्तीकृताः सर्वा रमयन्ति मनोरमम्।
गायन्त्यः कृष्णचरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः॥

गोपिकाओं की क्रीडा का वर्णन है। रास सम्बन्धी आध्यात्मिकता के लिए इन पुराणों में सीमित स्थान है। पद्म० में रासक्रीडा व्यापक रूप धारण करती है तथा अध्यात्मवाद यहाँ प्रमुख हो गया है। गोपियों में कृष्णस्वरूप -विष्णु की शक्तियों का तथा राधा में उनकी चित् शक्ति का आरोप किया गया है। कृष्ण यहाँ पर योगेश्वर, परब्रह्म और परम पुरुष के रूप में वर्णित किये गये हैं। वैकुण्ठ और गोलोक के ऊपर स्थित वृन्दावन उनका निवासस्थल है। यहाँ पर वे अनन्तकाल तक अपनी सहचरियों के साथ रासलीला करते हैं।[1] रास का सरल तथा नृत्यप्रधान रूप हरिवंश से चलकर उत्तरकाल में अध्यात्ममय होता हुआ अन्त में परम रहस्यमय हो गया है।

कृष्णचरित्र में राधा का व्यक्तित्व भी विभिन्न कालों में कृष्ण सम्बन्धी विचार धारा का परिचय देता है। हरिवंश में राधा का अज्ञात व्यक्तित्व विष्णु तथा भागवत के बाद पद्म० में अत्यन्त व्यापक हो गया है। यहाँ पर राधा कृष्ण की सहचरी ही नहीं है। वे नारायण रूप कृष्ण के लिए लक्ष्मी तथा चित् शक्ति हैं। उनको कृष्णमयी तथा परादेवता कहा गया है।[2] हरिवंश में राधा के स्वरूप का पूर्णत अभाव हरिवंशकाल में कृष्णकथा के अन्तर्गत राधा के व्यक्तित्व के विषय में अनभिज्ञता प्रकट करता है।

हरिवंश के कृष्णचरित्र में गोपियाँ विष्णु० और भागवत से भिन्न रूप में प्रदर्शित की गयी हैं। यहाँ गोपियों का उल्लेख सामूहिक रूप में हुआ है। व्यक्तिगत रूप में नहीं। विष्णु ० और भागवत में कृष्ण के सहवास का सौभाग्य प्राप्त करने वाली गोपी (जिसमें राधा की कल्पना की जाती है) के अतिरिक्त अन्य गोपी का भी उल्लेख हुआ है। कृष्ण के वियोग-जन्य दुःख से समस्त पाप और उनके स्मरण-जन्य सुख से समस्त पुण्यों का फल तत्काल प्राप्त करके मुक्त होने वाली गोपी का उल्लेख विष्णु और भागवत की भगवद्भक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।[3] कृष्ण के चिन्तन मात्र से प्राप्त मुक्ति कर्मयोगी ऋषियों के कठोर तप और ज्ञानियों के ज्ञानवाद को चुनौती देती हुई प्रतीत होती है। इस दृष्टान्त के द्वारा कर्म और ज्ञानकाण्ड पर उपासना के

१. पद्म० पाताल० ८३ २. पद्म० पाताल ३९; ८१.५२–५५

३. विष्णु १३.२१–२२–तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥

भागवत २९.९–११

महत्त्व का प्रवर्तन हुआ है। विष्णु की उपासना को सर्वजन-सुलभ और सरल बताकर वैष्णवों ने विष्णु के नामस्मरण की महिमा गायी है। भगवद्भक्ति का यह प्रभावशाली भाग हरिवंश में अनुपस्थित है। ज्ञात होता है, भगवद्भक्ति का व्यापक रूप हरिवंश के बहुत बाद की वस्तु है। इसी कारण हरिवंश में भगवद्भक्ति की पारिभाषिक शब्दावली का पूर्ण अभाव है।

पुराणों की धार्मिक प्रवृत्तियाँ तत्कालीन लोकरुचि का यथार्थ परिचय देती है। धर्म और नीति का समाज पर नियन्त्रण पुराणों के अन्तर्गत धर्मशास्त्र और स्मृतिशास्त्र की सामग्री से ज्ञात होता है। पुराणों की स्मृति-सामग्री के अन्तर्गत लोक-जीवन से सम्बद्ध व्रत, माहात्म्य, विविध धर्म तथा उनके अभाव में प्रायश्चित्तों के विधान दिखलाई देते हैं। हरिवंश में इस स्मृति-सामग्री का अध्ययन अपेक्षित है।

हरिवंश की स्मृतिसामग्री

हरिवंश के अन्तर्गत पुण्यकव्रत[1], बलदेव-माहात्म्य[2], वासुदेव-माहात्म्य[3] तथा हरिवंश-श्रवण-फल[4] के अतिरिक्त अन्य कोई भी स्थल स्मृति-सामग्री को प्रस्तुत नहीं करता। बलदेव तथा वासुदेव-माहात्म्य वाले प्रसंग केवल वैष्णव भक्ति के पोषक हैं। अतः कृष्ण और बलदेव के माहात्म्य हरिवंश की केवल विचारधारा के अनुरूप हैं। हरिवंश-श्रवणफल भी कोई विशेषता नहीं रखता। प्रत्येक पुराण के आरम्भ अथवा अन्त में उनके श्रवणफल की महिमा लगभग इसी रूप में मिलती है। अतः हरिवंश-श्रवण फल के प्रसंग को भी स्मृति-सामग्री के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

पुण्यकव्रत

हरिवंश में पुण्यकव्रत के वर्णन की शैली अर्वाचीन ज्ञात होती है। पार्वती यहाँ पर वक्त्री है तथा नारद श्रोता। पुण्यकव्रत के वर्णन में ब्राह्मणों का महत्त्व, उनको बहुमूल्य दान देने का विधान तथा दान में धातुनिर्मित कृत्रिम वस्तुओं का उल्लेख इस स्थल की अर्वाचीनता का अन्य प्रमाण है।

हरिवंश में पुण्यकव्रत अर्वाचीन होने के साथ ही एक अन्य समस्या उपस्थित करता है। सम्भवतः पुण्यकव्रत बहुत प्रचलित व्रत न होने के कारण अन्य पुराणों में

१. हरि० २. ७७. ८१ २. हरि० २. १०९. ६२
३. हरि० २. १११
४. हरि० १. १, ३–७; ३. ७; १३२, १३४–१३५

स्थान न पा सका। पुराणो में पुण्यकव्रत के विषय में कोई सामग्री न होने के कारण इस व्रत के स्वरूप का व्यापक अध्ययन नही किया जा सकता।

पुण्यकव्रत तत्कालीन भारतीय स्त्रीजीवन पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। इस व्रत की समाप्ति पर ग्यारह साध्वी स्त्रियो का आमन्त्रण तथा निष्क्रय के साथ उनको भोजन दान विहित है[1]। ये साध्वी स्त्रियाँ अपनी इच्छानुसार अवसर पर शची और अरुन्धती की भाँति व्रत का ग्रहण कर सकती है[2]। सम्भवतः व्रत की समाप्ति पर ग्यारह साध्वी स्त्रियो को आमन्त्रित करने का उद्देश्य इस व्रत का प्रचार था।

हरिवंश में रुक्मिणी के विवाह के प्रसग के अन्तर्गत मनु तथा उनके नियमो का उल्लेख हुआ है। यहाँ पर कृष्ण रुक्मिणी के स्वयवर का विरोध करते है। स्वयवर का निषेध करने के लिए इस प्रकार के विवाह को दोषपूर्ण सिद्ध करते है। इस कथन की पुष्टि के लिए कृष्ण के द्वारा मनु को प्रमाण रूप में उपस्थित किया गया है। साथ ही मन्वादि स्मृतिकारो के द्वारा निर्मित इन सिद्धान्तो को आदर योग्य बतलाया गया है[3]। हरिवश के इस स्थल में मनु तथा उनके नियमो से परिचय हरिवंश के इस स्थल को मनुस्मृति से उत्तरकालीन सिद्ध करता है। मनु तथा उनके नियमो से प्रभावित होने पर भी हरिवश में स्मृतियो के स्वतन्त्र विवेचन का अभाव आश्चर्यजनक है। सम्भवतः हरिवश कालीन पुराण प्राचीन स्मृतियो से परिचित होने पर भी स्मृतिसामग्री को प्रस्तुत करने की परम्परा से पूर्ववर्ती थे।

राजनीति के बारह अंग

हरिवश के अन्तर्गत द्वारवती नगरी की स्थापना के प्रसग में कृष्ण के द्वारा राजनीति के विविध अगो के प्रयोग का उल्लेख है। इन अगो की सख्या बारह है। यह क्रमश: इस प्रकार है—मर्यादा, श्रेणी, प्रकृति, बलाध्यक्ष, युक्त, प्रकृतीश, राजा, पुरोहित, सेनापति, मन्त्री, स्थविर तथा योधमुख्य[4]। राजनीति के ये बारह अग सप्ताग राजनीति से समानता रखते है। राजनीति के सात अग निम्नलिखित है—राजा,

१. हरि० २-७९. २-३ २. हरि० २. ७७. २२-२८
३. हरि० २. ५१. १५, ३२-३३
४. हरि० २. ५८. ७९-८२ मर्यादाश्चैव संचक्रे श्रेणीश्च प्रकृतीस्तथा।
बलाध्यक्षांश्च युक्तांश्च प्रकृतीशांस्तथैव च॥
उग्रसेनं नरपतिं काश्यं चापि पुरोहितम्।
सेनापतिमनाधृष्टिं विकद्रुं मन्त्रिपुंगवम्॥

मन्त्री, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड तथा मित्र[1]। इस पुराण के अन्तर्गत प्रारम्भिक तीन अग सप्ताग राजनीति के मित्र नामक वर्ग में आते हैं। हरिवश के बलाध्यक्ष, सेनापति तथा योधमुख्य सप्ताग राजनीति के 'सेना' के अन्तर्गत आ जाते हैं। राजा, पुरोहित तथा मन्त्री इसी रूप में सप्ताग राजनीति में भी स्वतत्र महत्त्व रखते हैं। युक्त, प्रकृतीश तथा स्थविर हरिवश की राजनीति के स्वतन्त्र राजनीतिक अग है। सप्ताग राजनीति में इन नियमो का अभाव है। युक्त, प्रकृतीश तथा स्थविर नगर के सरक्षक व्यक्ति ज्ञात होते हैं। 'युक्त' के रूप में नगर की सरक्षा के उत्तरदायी व्यक्तियो का उल्लेख अशोक की राजनीति में हुआ है[2]। 'प्रकृतीश' से अर्थ प्रजा के स्वामी से है, जो कि प्रजा के अधिकारियो का द्योतक नाम प्रतीत होता है। स्थविर नगर के समस्याजनक अवसरो पर अपनी बहुमूल्य सलाह देने वाले व्यक्ति ज्ञात होते हैं। इस स्थल में द्वारवती के सरक्षण के उत्तरदायी दस स्थविरो का उल्लेख हुआ है। नीलकण्ठ ने इन स्थविरो का नामोल्लेख भी किया है। द्वारवती के यह दस स्थविर निम्नलिखित है–उद्धव, वासुदेव, कक विपृथु, श्वफल्क, चित्रक, गद, सत्यक, बलभद्र और पृथु[3]। 'स्थविर' शब्द यहाँ पर साधारण नही वरन् साकेतिक है। 'स्थविर' के द्वारा राजनीतिज्ञ तथा व्यवहार-कुशल व्यक्तियो से प्रयोजन है।

यादवाना कुलकरान् स्थविरान् दश तत्र वै ।
मतिमान् स्थापयामास सर्वकार्येष्वनन्तरान् ॥
रथेष्वतिरथो यन्ता दारुकः केशवस्य वै ।
योधमुख्यश्च योधाना प्रवरः सात्यकिः कृतः ॥

1. N.C Bandyopādhyāya : Kautilya p 54-55—In his own way he (Kautilya) recognises only seven which are laid down in the first chapter of his sixth book known as Mandala Yonih e. g —

   स्वाम्यमात्य–जनपद–दुर्ग–कोश–दण्ड–मित्राणि प्रकृतयः ।

2. Age of Imperial Unity vol 2 p 80, R. C. Majumdar : An Advanced History of India p. 127.
3. हरि० २.५८.८१–टीका–उद्धवो वासुदेवश्च कको विपृथुरेव च ।
   श्वफल्कश्चित्रकश्चैव गदः सत्यक एव च ॥
   बलभद्रः पृथुश्चैव मन्त्रेष्वभ्यन्तरा दश ।

हरिवंश में राजनीति के बारह अंग पर्याप्त विकसित राजनीतिक अवस्था का परिचय देते हैं। हरिवंश के इस भाग की विकसित राजनीतिक अवस्था के आधार पर कोई विशेष निर्णय नहीं दिया जा सकता। अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में भी राजनीति की विकसित अवस्था दिखलाई देती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अशोककालीन राजनीति के विकसित राजनीतिक सिद्धान्त इस बात के प्रमाण हैं।

मत्स्य० में राजनीति-विषयक विवेचन अनेक अध्यायों में विस्तार के साथ हुआ है। इस पुराण की राजनीति में हरिवंश की राजनीति के सभी अंगों का समावेश हो जाता है। मत्स्य० में वर्णित राजनीति के नियम विशद रूप में मिलते हैं[1] किन्तु राजनीति का विकसित रूप प्रस्तुत करने के लिए मत्स्य० को अर्वाचीन पुराण नहीं कहा जा सकता। अग्नि० और मार्कण्डेय० में वर्णित राजनीति के प्रसंग को अर्वाचीन कहा जा सकता है[2]। इन पुराणों की राजनीति के विवेचन में कोई नवीनता नहीं मिलती, वरन् इस विषय को प्रस्तुत करने में पुराणों के परम्परागत विचारों की आवृत्ति दिखलाई देती है।

कलिधर्म वर्णन

हरिवंश के अन्तर्गत कलिधर्मनिरूपण सामाजिक स्थिति का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। अन्य पुराणों के कलिधर्म-वर्णन की भाँति यहाँ भी अतिशयोक्ति के लिए बहुत कुछ स्थान है। किन्तु अतिशयोक्ति के अतिरिक्त कलिवर्णन प्रत्येक पुराण के काल की कुछ विशेषताओं का परिचय देता है। कलिधर्म में हरिवंश के अन्तर्गत अवैदिक बौद्ध धर्म का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। इस अवैदिक धर्म के प्रति घृणा के भाव की अभिव्यक्ति हुई है। शुक्लदन्त, अजिताक्ष केशहीन सिर तथा काषायवस्त्र धारी शूद्रों को यहाँ बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक कहा गया है[3]। इसके आगे के स्थल में बौद्धों की भिक्षावृत्ति पर आक्षेप किया गया है। बौद्ध वर्णान्तर से भिक्षा ग्रहण कर लेते हैं[4]।

१. मत्स्य० २१९–२२८

२. अग्नि० २२३–२२७; मार्कण्डेय० २४.

३. हरि० ३. ३. १५–शुक्लदन्ताञ्जिताक्षाश्च मुण्डा काषायवाससः।
शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति शाक्यबुद्धोपजीवनः॥

४. हरि० ३. ३. २५–बहुयाचनको लोको न दास्यति परस्परम्।
अविचार्य ग्रहीष्यन्ति दानं वर्णान्तरात्तथा॥

कलिधर्म निरूपण में वेदो की बढती हुई उपेक्षा की सूचना मिलती है। इस काल में स्वय को पण्डित मानने वाले व्यक्ति वेदो को अप्रमाणित सिद्ध करेंगे[1]। वेद को अप्रामाणिक बताने वाले लोगो को "नास्तिक" कहा गया है[2]। यह 'शास्त्रज्ञान बहिष्कृत' तथा दाम्भिक है[3]। इस प्रकार के व्यक्तियो के राज्य में प्रजा को भीत होकर वनो में आश्रय लेना पडेगा[4]। इन राजाओ के दुराचार से पीडित जनता अग, वग, कलिग, काश्मीर, मेकल, हिमालय और लवणसागर के तट का आश्रय लेगी[5]। कलिधर्म का यह वर्णन हरिवशकालीन समाज में वैदिक धर्म के मिटते हुए रूप की ओर सकेत करता है। अवैदिक धर्मों के प्रति वैदिक समाज की अवहेलनासूचक सामान्य दृष्टि वेदमूलक और अवेदमूलक धर्मो के परस्पर वैमनस्य की ओर सकेत करती है।

कलिधर्म का प्रसग हरिवश के काल की वर्णाश्रम-व्यवस्था पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। वर्णों में अव्यवस्थितता इस काल की सबसे बडी कठिनाई ज्ञात होती है। इस काल के विप्रो को शूद्रोपजीवी कहा गया है तथा युगक्षय में शूद्रों को ब्राह्मणा के समान आचरण करते हुए कहा गया है[6]। चारो वर्णो में व्यतिक्रम का इस स्थल में अनेक बार उल्लेख हुआ है[7]। वर्ण-व्यवस्था में पवित्रता बनाये रखने के लिए पुराणो तथा स्मृतियो में स्वधर्मपालन को जो श्रेय दिया गया है, वह हरिवश-कालीन समाज में लुप्त होता दिखलाई देता है। इसी कारण समाज के ब्राह्मणवर्ग तथा व्यवस्थापक वर्ग के लिए जातियो के मिश्रण का यह दृश्य अवश्य दुखदायी रहा होगा।

१. हरि० ३.४.७–८–प्रमाणेकं करिष्यन्ति नेति पण्डितमानिनः ।
अप्रमाणं करिष्यन्ति वेदोक्तमपरे जनाः ॥
२. हरि० ३.४. ९ – नास्तिक्यपरमाश्चापि केचिद् धर्मविलोपकाः ।
३. हरि० ३.४.१० – तदात्वमात्रे श्रद्धेयाः शास्त्रज्ञानबहिष्कृताः ।
दाम्भिकास्ते भविष्यन्ति ।
४. हरि० ३.४.२४ – नराः श्रयिष्यन्ति वनं करभारप्रपीडिताः ।
५. हरि० ३.४.३१ – ३२.
६. हरि० ३.३. ६ – अक्षत्रियाश्च राजानो विप्राः शूद्रोपजीविनः ।
शूद्राश्च ब्राह्मणाचारा भविष्यन्ति युगक्षये ॥
७. हरि० ३.३.१४ – तपोयज्ञफलानां च विक्रेतारो द्विजातयः ।
ऋतवश्च भविष्यन्ति विपरीता युगक्षये ॥
हरि० ३.३.१३, २९; ३.४.१३

स्वधर्मपालन के लिए अप्रत्यक्ष रूप में सवेत कलियुगवर्णन के इस समस्त प्रसग में मिलता है।

स्मृतिशास्त्र के द्वारा वर्णाश्रम की अवस्था प्रस्तुत करने के लिए थोडी बहुत सामग्री प्रत्येक पुराण में मिलती है। हरिवश में स्मृति-साहित्य की नितान्त वमी के कारण वलिवणन को समाज की परिवर्त्तनशील अवस्था का एकमात्र प्रदर्शक कहा जा सकता है।

हरिवश मे वर्णाश्रम-धर्म का स्वरूप

किसी पुराण के सामाजिक अध्ययन के लिए केवल स्मृतिशास्त्र पर ही आश्रित नही रहा जा सकता। पुराण के पचलक्षण में भी सामाजिक अध्ययन के लिए प्रभूत सामग्री है। हरिवश में राजवशो के वर्णन के अन्तर्गत सामाजिक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। पुराणलक्षण के 'वश' के अन्तर्गत प्राय प्रत्येक पुराण के राजवशो में इस प्रकार की सामग्री मिलनी चाहिए। किन्तु उत्तरकालीन पुराणो में स्मृति साहित्य को प्राधान्य देकर पचलक्षणो की उपेक्षा की गयी है। इसलिए कुछ पुराणों में राजवश के वर्णन का प्रसग इतना सक्षिप्त है कि उसमें जातियो की अवस्था का कोई भी ज्ञान नही होता[1]। अत इस श्रेणी के पुराण सामाजिक ज्ञान के प्रदर्शन की इस विशेषता को खो देते है।

हरिवश में राजाओ की वशावली के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस काल में वर्णों की शुद्धि को बनाये रखने की प्रवृत्ति स्मृतियो के नियमो की भाँति कठोर नही हुई है। वह प्रगतिशील तथा परिवर्तन-शील है। अनेक स्थलो में कर्मों के अनुसार ब्राह्मणो को नीच जाति में जाते हुए कहा गया है। विश्वामित्र के सात पुत्रो ने भूख से पीडित होकर मुनि की गौ को खा लिया और गाय के अभाव में उसके व्याघ्र द्वारा खा लिये जाने की मिथ्या बात कही। इस दोहरे पापकृत्य के फलस्वरूप उन्हें नीच व्याधकुल में जन्म लेना पडा। किन्तु श्राद्ध कर के पितरो को चढाकर खाये जाने के कारण उनमें पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही[2]।

नीच वर्ण के व्यक्ति भी अपने पूर्वजन्मकृत पुण्यो के कारण धर्म के मार्ग में चलते हुए पुन अपना पद प्राप्त करते हुए चित्रित किये गये हैं। दुष्कृत्य के कारण शूद्रता

१ पद्म० सृष्टि ८, १२; अग्नि २७३-२७८; गरुड० पूर्व० ५४
२. हरि० १.१९.५-७

को प्राप्त विश्वामित्र के पुन धर्म का आचरण कर के अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त करेंगे, यह कहा गया है[1]।

वर्णान्तर में जन्म का मूल कारण कर्मविपाक ही नही है। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह वर्णों के मिश्रण के अन्य कारण हैं। इस प्रकार के वर्णांतर विवाह को हरिवंश में 'ऋष्यन्तर विवाह' कहा गया है। ये विवाह तिरस्कार्य नही ज्ञात होते। अनेक स्थलों में ऋष्यन्तर विवाहों का तथा उनकी सन्तति का गौरव के साथ वर्णन इस बात का प्रमाण है।

ऋष्यन्तर-विवाह में नीच वर्ण की कन्या से विवाह का प्रचलन पर्याप्त मात्रा में दिखलाई देता है। हरिवश में वर्णित ऋषियो की क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सन्तान अनुलोम विवाह से उत्पन्न का परिचय देती है। विश्वामित्र के वंश के विवरण में उनके वंशज ऋषियो को 'ऋष्यन्तरविवाह्य' कहा गया है[2]। इसी स्थल में कौशिक (विश्वामित्र) तथा पूरुवश के परस्पर सम्बन्ध का उल्लेख ब्रह्मक्षत्र सम्बन्ध के रूप में वर्णित है[3]। अन्य स्थल में शुनक नामक ऋषि के पुत्रो को शौनक कहा गया है। शौनको के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी आते हैं[4]। चारो वर्णो के रूप में शौनको का उल्लेख चार वर्ण की भिन्न भिन्न स्त्रियो से ब्राह्मण ऋषि के विवाह की सूचना देता है। भार्गव वश में अगिरस के पुत्रो को तीन जातियो में जन्म लेते हुए कहा गया है[5]। अन्य स्थल में भार्गव वशी अगिरस के पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय,

१. हरि० १.१९.७ —ते धर्मचारिणो नित्यं भविष्यन्ति समाहिताः।
ब्राह्मण्यं प्रतिलप्स्यन्ति ततो भूयः स्वकर्मणा॥

२. हरि० १.२७.५३

३. हरि० १.२७.५३— ऋष्यन्तरविवाह्याश्च कौशिका बहवः स्मृताः।
पौरवस्य महाराज ब्रह्मर्षेः कौशिकस्य च॥
सम्बन्धोऽप्यस्य वंशेऽस्मिन् ब्रह्मक्षत्रस्य विश्रुतः।

हरि० १.३२.५९, ६

४. हरि० १.२९.८ —पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥

५. हरि० १.२९.८३ एते त्वंगिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयोः पुत्राः सहस्रशः॥

वैश्य, तथा शूद्र बतलाये गये हैं[1]। गृत्समति के भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पुत्रो का उल्लेख है[2]। मुद्गल के पुत्र मौद्गल्यों को क्षात्र धर्म से युक्त ब्राह्मण कहा गया है[3]। दिवोदास नामक क्षत्रिय राजा के पुत्र को मित्रयु तथा मित्रयु की सन्तान को क्षत्रोपेत भृगुवंशी कहा गया है[4]। क्षत्रिय राजाओ में भी ऋषियों की भांति वर्णो के अतिक्रमण की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। नरिष्यत राजा के पुत्र शक बतलाये गये है[5]। 'शक' विशेषण के द्वारा यहाँ पर नरिष्यत के शकवंशी कन्या से विवाह का संकेत मिलता है।

क्षत्रिय राजाओं के प्रतिलोम विवाह का परिचय उनकी ब्राह्मण सन्तान से मिलता है। कण्व के पुत्र मेधातिथि की सन्तान को 'काण्वायन द्विज' कहा गया है[6]। इसी प्रकार बलि के पुत्रो के दो पक्ष मिलते हैं। पहला पक्ष क्षत्रियो का है। इन्हें 'बालेय क्षत्रिय' कहते है। दूसरा पक्ष ब्राह्मणपुत्रो का है। ये 'बालेय ब्राह्मण' कहे गये हैं[7]।

क्षत्रिय राजाओ के वंश-वर्णन में अनेक स्थल उनकी धर्मनिष्ठता और सत्यपरायणता का परिचय देते हैं। इन राजाओ की धर्मनिष्ठता तथा ऐहिक सुखो के प्रति विरक्ति के कारण इन्हें राजर्षि तथा कुछ स्थलो पर ब्रह्मर्षि कहा गया है[8]। नहुष के छ पुत्रो में सबसे बड़ा पुत्र यति मोक्ष में चित्तवृत्ति स्थिर करके ब्रह्ममय हो गया[9]। मतिनार नामक राजा के तीन पुत्र तंसु, प्रतिरथ और सुबाहु वेदविद और ब्रह्मण्य थे।[10]

१ हरि० १ ३२ ४०—एते त्वंगिरस पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे।
ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्च भरतर्षभ॥
२ हरि० १ ३२ २०—तथा गृत्समते पुत्रा ब्राह्मणा क्षत्रिया विश।
३ हरि० १ ३२ ६०–६८—मुद्गलस्य तु दायादो मौद्गल्य सुमहायशा।
सर्व एते महात्मान क्षत्रोपेता द्विजातय॥
४ हरि० १ ३२ ७५–७६
५ हरि० १ १० २८—नरिष्यत शका पुत्रा।
६ हरि० १ ३२ ५— पुत्र प्रतिरथस्यासीत् कण्व समभवन्नृप।
मेधातिथि सुतस्तस्य यस्मात् काण्वायना द्विजा॥
७ हरि० १ ३१ ३३–३५
८ हरि० १ २९ ७४, १ ३२ ३२, १ ३६ ७–८, १ ३७ १५
९ हरि० १ ३० ३— यतिस्तु मोक्षमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनि।
१० हरि० १ ३२ ३, ४— सर्वे वेदविदस्तत्र ब्रह्मण्या सत्यवादिन।
सर्वे कृतास्त्रा बलिन सर्वे युद्धविशारदा॥

हरिवंश की वंशावलियों में मिलने वाले वर्ण विषयक वृत्तान्तों से कलियुग वर्णन में वर्णाश्रम के व्यतिक्रम का तुलनात्मक अध्ययन इन दो विषयों के कालनिर्णय में सहायक होता है। वंशावलियों के वर्णन में वर्णसंकर वाली जो परम्पराएँ समाज में मान्य दिखलाई देती हैं, वही परम्पराएँ कलिवर्णन में अमान्य तथा घृणास्पद समझी गयी हैं। अतः उत्तरकालीन समाज में वर्णों के नियमों की कठोरता का ज्ञान होता है।

हरिवंश में वर्णविषयक सामग्री दो प्रकार के समाजों की प्रवृत्ति का परिचय देती है। राजवंशों में वर्णित अन्तर्जातीय सम्बन्धों के द्वारा तत्कालीन समाज में जातिगत उदारता के दर्शन होते हैं। जातिगत असंकीर्णता समाज की प्राचीन अवस्था की परिचायक है। कलिवर्णन में वर्णसंकर के प्रति घृणा जातिगत नियमों की कठोरता को सूचित करती है। भारत में आकर बस जाने वाली विदेशी जातियों तथा अन्य असभ्य जातियों के उच्च जातियों में मिल जाने की आशंका यहाँ सदैव बनी रहती है। विदेशी शासकों तथा वेद-विरुद्धमतावलम्बियों के जातिगत ऐक्य के सिद्धान्तों के प्रति पुराणों के कलिवर्णन में सभी जगह विरोध की भावना दिखलाई देती है। विदेशियों तथा वेद-विरुद्ध-मतावलम्बियों के द्वारा वर्णैक्य के प्रयास को निरुत्साहित करने के लिए ही कदाचित् इन्हें शूद्रों की कोटि में रखा गया है।[1]

हरिवंश के अन्तर्गत राजवंशों के वर्णन में जातिविषयक विचार स्मृति-साहित्य के विकास के बहुत पूर्ववर्त्ती हैं। श्री हाज़रा प्रारम्भिक स्मृति-साहित्य का आरम्भ द्वितीय शताब्दी से मानते हैं।[2] इसका कारण यह है कि स्मृति-साहित्य के किसी भी अंश का प्रभाव इन स्थलों में नहीं दिखलाई देता। पुराण-लक्षण स्वयं स्मृति-साहित्य के बहुत पूर्व के हैं। प्राचीन पुराणों में पंचलक्षण का पालन अधिक सतर्कता के साथ हुआ है। इसका कारण यह है कि पुराणों का मूल-रूप स्मृति सम्बन्धी विषयों से भिन्न रहा है।

हरिवंश में ब्राह्मण और क्षत्रियों का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने का समान अधिकार उपनिषदों में चित्रित ब्राह्मण और क्षत्रियों के इसी प्रकार के महत्त्व से सादृश्य

१. हरि० ३. ३. १३—शूद्रा भोवादिनश्चैव भविष्यन्ति युगक्षये ॥
   हरि० ३. ३. १४—शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति शाक्यबुद्धोपजीविनः ॥
2. R. C Hazra : Pur. Rec. P. 188— "The Purānas began to incorporate Smrti matter from about 200 A D."

रखता है। उपनिषदों में अनेक राजर्षियों को ब्रह्मज्ञान पर वादविवाद करते हुए दिखलाया गया है। जनक[1] तथा प्रवाहण जैवलि[2] नामक क्षत्रिय राजाओं का ऋषियों को धर्मोपदेश आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ब्राह्मणेतर जातियों के विचारस्वातन्त्र्य और कर्म-स्वातन्त्र्य का सूचक है। हरिवंश में भी कुछ राजर्षियों के लिए 'ब्रह्मण्य' शब्द उपनिषत्कालीन समाज की इसी प्रवृत्ति का परिचय देता है।

रजि का वृत्तान्त

हरिवंश में रजि के वृत्तान्त के अन्तर्गत जिन धर्म के ज्ञान का अभाव इस पुराण का उस सामाजिक स्थिति का परिचय देता है, जब 'जिन' को रजि के वृत्तान्त के अन्तर्गत रखने की परम्परा नहीं चली थी। हरिवंश को छोड़कर अन्य वैष्णव पुराणों के रजि के वृत्तान्त में 'जिन' अथवा वेदविरुद्ध बौद्ध धर्म के किसी प्रचारक अथवा सम्प्रदाय का स्पष्ट उल्लेख है।[3] यहाँ पर हरिवंश अन्य पुराणों की सामान्य परम्परा से भिन्न दिशा की ओर प्रवृत्त दिखलाई देता है।

हरिवंश के अन्तर्गत सामाजिक विशेषताएँ इनी गिनी हैं। इसका कारण यह है कि अन्य पुराणों की तुलना में हरिवंश का आकार पर्याप्त छोटा है। किन्तु महाभारत के खिल तथा बाद में स्वतन्त्र पुराण के रूप में विकसित होने के कारण हरिवंश का अपना विशेष महत्त्व है। इसी कारण हरिवंश की कतिपय सामाजिक विशेषताएँ भी प्राचीन भारत के सामाजिक अध्ययन के दृष्टिकोण से परम विश्वसनीय हैं।

अन्य पुराणों से तुलना

हरिवंश-काल की सामाजिक विशेषताओं का मूल्यांकन केवल इस पुराण में बिखरी सामग्री को प्रस्तुत करके नहीं हो जाता। इसके लिए अन्य पुराण तथा विभिन्न प्रमाणों के द्वारा वर्णित सामाजिक अवस्था का अध्ययन आवश्यक है। इस तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा हरिवंश की विशेषताएँ अधिक प्रकाश में आती हैं।

प्रत्येक पुराण अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के द्वारा भारतीय आध्यात्मिक और उससे सम्बद्ध लौकिक विचारधारा को स्पष्ट करता है। वैष्णव पुराणों में विष्णु भक्ति

१. बृहदारण्यक० ४. १-६; ६. २-४
२. छान्दोग्य० ५. ३
३. मत्स्य० २४-४७; देवी भाग० IV १२-१३; विष्णु० III १०-१८; पद्म० सृष्टि १३

के अतिरिक्त वैष्णव धर्म के पाचरात्र और भागवत सम्प्रदायो का क्रमिक विकास दिखलाई देता है। शैव पुराणो में शैव मत के साथ ही पाशुपत, कालामुख आदि उत्तरकालीन शैव सिद्धान्त मिलते है। ब्राह्म पुराणो में ब्रह्म की महिमा से लेकर ब्रह्माण्ड और समस्त सृष्टि की रचना के विषय में विवेचन है। पुराणो की यह विशेषताएँ अध्ययन के क्षेत्र में धर्म और अध्ययन के दृष्टिकोण से ही महत्त्वपूर्ण नही है। धार्मिक प्रवृत्ति के प्रदर्शन के द्वारा यह विशेषताएँ विभिन्न काल की लोकरुचि पर भी यथेष्ट प्रकाश डालती हैं। इसीलिए पुराणो के इन अध्यात्म-मिश्रित धार्मिक विचारो में सामाजिक अध्ययन की महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

पुराणो के अन्तर्गत तीर्थों और व्रतो का माहात्म्य एक अन्य व्यापक विषय है। प्रत्येक माहात्म्य की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए एक उपाख्यान अथवा वृत्तान्त जोडा गया है। कही कही यह वृत्तान्त एक के बाद एक आते जाते है, और मुख्य माहात्म्य का विषय स्मृति पथ से बहुत दूर हट जाता है। तीर्थ और व्रतो के यह माहात्म्य पुराण की अभीष्ट धार्मिक विचारधारा का ही पोषण करते हैं। शैव पुराण तीर्थ और व्रतो के माहात्म्य के विवेचन में केवल उन्ही वृत्तान्तो को प्रस्तुत करते है जो शिव से सम्बद्ध है।[1] इसी प्रकार वैष्णव पुराण विष्णु के महत्त्व के सूचक वृत्तान्तो का वर्णन करते हैं।[2]

पुराणो में त्रिमूर्ति की कल्पना पूर्णरूप से विकसित हो गयी है। उपपुराण ब्रह्मा, विष्णु और शिव की एकता को सिद्ध करते हुए उनका विशद वर्णन करते हैं।[3] इन पुराणो में एक स्थल पर वैष्णव धर्म के माहात्म्य का वर्णन है, तो उसके कुछ

१. लिंग० पूर्वार्ध १७–१९; ७५–८१; उत्तरार्ध १२–१९; स्कन्द० माहेश्वर० २–१२, २१, २९–३०, ३५–३६, ५०–५६, २०३–२१५; आवन्त्य खण्ड

२. हरि० २. १०२, १११–११५; विष्णु० १. १५, २, २२; ५. १; भागवत० ११. १४. २९; १२. १३; पद्म-सृष्टि. २५; पद्म० उत्तर. ६९–७४, १२६–१२८;
वामन० ३. ८९–९४.

३. वाराह ७०–७२; बृहद्धर्म मध्य ३२;
बृहन्नारदीय० ३. १–२७, २– आदिसर्गे महाविष्णुः स्वप्रकाशो जगन्मयः।
गुणभेदमधिष्ठाय मूर्तित्रयमवाप्तवान् ॥

आगे शिवभक्ति को सर्वोत्तम माना गया है। एक से अधिक सम्प्रदाय की समान रूप से प्रशंसा करने वाले स्थल परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं। कुछ पुराणों मे इस विरोध को दूर करने के लिए शिव और विष्णु में ऐक्य की स्थापना करने वाले स्थल मिलते है। यह स्थल विष्णु अथवा शिव की भक्ति को दिखाने वाले स्थलो से भी अर्वाचीन ज्ञात होते है। किसी एक सम्प्रदाय की महिमा को सिद्ध कर के परस्पर विवाद के भय से विष्णु और शिव के भक्तो में मेल करने के लिए ही इन स्थलो की सृष्टि की गयी ज्ञात होती है। अत. पुराणो के विभिन्न सम्प्रदाय और स्मृति सम्बन्धी नियम बिना किसी प्रयास के पुराणो के विस्तृत क्षेत्र में एकीभूत हो गये है। महाभारत के कुछ स्थलों में त्रिमूर्त्ति की कल्पना स्पष्ट है।[1] अन्य स्थलों पर केवल विष्णु का स्वरूप ही प्रमुख है।[2] गीता में त्रिमूर्त्ति की कल्पना का अभाव है। इसमें विष्णु की महिमा का ही वर्णन मिलता है।[3] अतः गीता के संग्रहकाल में विष्णु की भक्ति का ही प्राधान्य ज्ञात होता है।

पुराणों के शैव, वैष्णव तथा शाक्त सम्प्रदाय—हरिवंश की तुलना

पुराणो को साम्प्रदायिक मतो के प्रचार का साधन मानने पर उनकी सामाजिक उपादेयता कम हो जाती है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् पुराणो के विषय में यही विचार-धारा रखते है।[4] किन्तु साम्प्रदायिक मतो के प्रचार के उद्देश्य से ही पुराणो का संकलन नही हुआ। इनकी धार्मिक तथा साम्प्रदायिक विचारधाराएँ किसी काल में प्रचलित धर्म के प्रभाव की परिणाम हैं। इन धार्मिक तथा साम्प्रदायिक स्थलो में कुछ भाग अवश्य किसी उद्देश्य से जोडे गये ज्ञात होते हैं। शैव अथवा वैष्णव पुराणो में विविध उदाहरणो के द्वारा शिव अथवा विष्णु की महिमा का वर्णन इसी प्रकार की साम्प्रदायिक भावना का परिचय देता है। पुराणो का उद्देश्य सकीर्ण धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक परिधि से बहुत अधिक व्यापक है। अतः पुराणो को किसी मत के प्रचार का साधन नही माना जा सकता।

१. महा० १२ १९२ २. महा० १२ १९२–१९७

३. गीता० ७. १९– बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

4. Monier Williams : Hinduism P. 115— "The Purānas were then written for the express purpose, as we have seen, of exalting one deity or the other to the highest position."

पौराणिक पच-लक्षणो को महत्त्व देने वाले पुराणो में साम्प्रदायिक प्रभाव कम मात्रा में दिखलाई देता है। हरिवश, ब्रह्माण्ड; मत्स्य; वायु; तथा ब्रह्म पुराण उत्तर-कालीन साम्प्रदायिक प्रवृत्तियो से बहुत कम प्रभावित ज्ञात होते हैं। इन पुराणो में जो भी साम्प्रदायिक अश दिखलाई देते हैं, वे तुलनात्मक दृष्टि से प्रारम्भिक हैं।[1]

वैष्णव पुराणो में विष्णु का व्यक्तित्व साख्य योग, तथा वेदान्त की दार्शनिक विचारधाराओ के आवरण में व्यापक हो गया है। विष्णु में साख्य, योग और वेदान्त का समन्वय प्राचीन काल में ही हो गया था। गीता में कृष्ण का साख्य, योग और वेदान्तमय रूप गीता के सग्रहकाल तक वैष्णव धर्म के विकसित रूप को सूचित करता है। कृष्ण ज्ञान-योग के द्वारा साख्य की निष्ठा तथा कर्मयोग के द्वारा योग की निष्ठा का वर्णन करते हैं।[2] अन्य स्थल में ब्रह्माक्षर से उत्पन्न ब्रह्म को धर्म का उत्पत्ति स्थल कहा गया है। यह ब्रह्म भी यज्ञ में प्रतिष्ठित है।[3] प्रकृतिस्थ यह पुरुष ही गुण के सग के कारण सदसद्योनियो का कारण है। यही सर्वत्र देखने वाला अनुमन्ता, स्वामी, भोक्ता, महेश्वर और इस देह में परम पुरुष-रूप से स्थित है।[4]

गीता में वैष्णव भक्ति के व्यापक रूप के अध्ययन के लिए इसकी तिथि का प्रश्न सबसे पहले उपस्थित होता है। गीता महाभारत भीष्मपर्व का एक भाग है। इसके अन्तर्गत कृष्ण के दैवी रूप के कारण कुछ विद्वान् गीता को महाभारत के अर्वाचीन खण्डो में एक मानते हैं।[5] अन्य विद्वान् जिनमें डॉ० भण्डारकर प्रमुख हैं, गीता को

१. हरि० ३.७७-९०; विष्णु २.११; ६.८; ब्रह्माण्ड० अनुषग० २५-२०, उपोद्घात० ७२;
मत्स्य० १८०-१८१, २४४-२८८; वायु० १५, २०, २३-२५; ब्रह्म० ३४-३०, ५७-६९

२. गीता० ३.३—लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

३. गीता ३.१५—कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षर-समुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

४. गीता० १३, २१-२२

5. Utgikar : Ind. Ant. 1918 p 31—" Garbe seems to think that the Gita shows acquaintance with the Katha, 'Śvetāśvatara, and even the Nrsimha Tāpanīya Upanisads."

महाभारत का अत्यन्त प्राचीन भाग मानते हैं। विद्वान् गीता को तृतीय शताब्दी ई० पूर्व के लगभग निश्चित करते हैं।[1] गीता के आधार पर साख्य और योग से मिश्रित वर्णाश्रम की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

विष्णु० में साख्य, योग तथा वेदान्त के दार्शनिक विचारो से मिश्रित विष्णु का व्यक्तित्व हरिवंश के विष्णु से अधिक व्यापक हो गया है। हरिवंश[2] की भाँति यहाँ पर भी विष्णु को साख्य पुरुषरूप माना गया है और चौबीस तत्त्व उसी पुरुष से उद्भूत बतलाये गये हैं।[3] अन्य स्थल में विष्णु को ब्रह्ममय समस्त परा शक्तियो में प्रधान और क्षराक्षरमय कहा गया है।[4] कण्डुरचित ब्रह्मपार नामक स्तोत्र सुनने के लिए इच्छुक प्रचेताओ को सोम यह स्तुति सुनाते हैं। यह स्तोत्र विष्णु के परब्रह्म स्वरूप पर प्रकाश डालता है।[5] विष्णु० V.[1] में पृथ्वी और ब्रह्मा के द्वारा विष्णु की स्तुतियाँ उनके नारायण, शब्दब्रह्म, अविकारी सर्वव्याप्त, व्याताव्यात, और समष्टि तथा व्यष्टिरूप को प्रस्तुत करती हैं।[6] विष्णु० में यद्यपि पाचरात्र के चतुर्व्यूह का अभाव है, किन्तु भगवद्भक्ति विकास के पथ पर यह पुराण हरिवंश से बहुत आगे निकल गया है।

विष्णुभक्ति के साथ साख्य और योग के सिद्धान्तो का विकसित रूप भागवत में मिलता है। भागवत के अन्तिम दो स्कन्ध वैष्णव धर्म के अन्तर्गत योग और साख्य का विवेचन करते हैं। साख्य और योग सम्बन्धी विचार भागवत में कोई विशेषता नही रखते। इस पुराण में योग के तीन रूप प्रस्तुत किये गये हैं। ये तीन रूप हैं क्रियायोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के उनतीसवें अध्याय में भक्तियोग की महिमा का वर्णन है। इस योग को जनसाधारण के लिए सुलभ और

1. Telang : Introductory Essay to the Bhagvat-Gītā p. XCII; Macnicol : Indian Theism p. 75; H. Raych. His. of the Vaiṣnava Sect. p. 85, 87; R. G. Bhandārkar: Vaiṣn. Śaivism-Minor Religious Sys. p. 13.
२. हरि० २. १२७. ७२–८४; ३. १६, ७–२८, ८०, ८८, ९०
३. विष्णु० १. २. १४–७०
४. विष्णु० १. २२. ५५–६५
५. विष्णु० V. १. १५. ५५–५८, ५७–ब्रह्म प्रभुर्ब्रह्म स सर्वभूतो ब्रह्म प्रजानां पतिरच्युतोऽसौ। ब्रह्माव्ययं नित्यमजं स विष्णुरपक्षयाद्यैरखिलैरसंगि॥
६. विष्णु० . १. १४–५८

परम मंगलमय कहा गया है।[1] अन्य समस्त अध्याय में भी भक्तियोग का विशद विवेचन भागवत काल में भगवद्भक्ति की प्रमुखता की ओर संकेत करता है।

गीता में ज्ञानयोग और कर्मयोग नामक दो निष्ठाएँ बतलायी गयी हैं।[2] अन्य स्थल में ज्ञान-यज्ञ को द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है।[3] भक्तियोग का उल्लेख गीता में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग से भिन्न प्रसंग में मिलता है। यहाँ पर 'अव्यभिचार भक्तियोग' के द्वारा ईश्वर की सेवा करने वाले व्यक्ति को गुणातीत होकर ब्रह्म से एकाकार होने वाला बतलाया गया है।[4] ज्ञात होता है, विष्णुभक्ति के साथ योग तथा सांख्य का समन्वय गीता के काल में भी स्वीकृत हो चुका था।

वैष्णव पुराणों में पांचरात्र परम्परा धार्मिक विकास की रूप-रेखा प्रस्तुत करती है। शान्तिपर्व के नाराणीय-भाग में पांचरात्र के व्यापक सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं।[5] कूर्म पुराण में पांचरात्र पूर्णत. विकसित अवस्था में दिखलाई देता है।[6] यही पांचरात्र एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में आगमों का मुख्य विषय है।

पांचरात्र के सिद्धान्त अनेक पुराणों में मिलते हैं। ब्रह्म० से लेकर पद्म० में तक चतुर्व्यूह की परम्परा का पालन दृष्टिगोचर होता है। देवी भागवत, अग्नि० तथा ब्रह्मवैवर्त्त० को छोड़कर अन्य सभी वैष्णव पुराणों में अक्रूर के द्वारा स्तुति के प्रसंग में चतुर्व्यूह का उल्लेख है।[7] ब्रह्मवैवर्त्त० तथा देवी भागवत में चतुर्व्यूह के अनुल्लेख का

१. भागवत ११. २९ ८–९—हन्त ते कथयिष्यामि ममधर्मान् सुमंगलान् ।
याञ्छ्रद्धयाचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥
कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥

२. गीता० ३. ३

३. गीता० ४. ३३

४. गीता० १४. २६—मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

५. महा० १२. ३२१–३४०

६. कूर्म्म० ४१. ९५— प्रद्युम्नदेव अनिरुद्ध सहानिरुद्ध ।
संकर्षणाभयद शान्तिकर प्रसीद ॥

७. ब्रह्म० १९२; भागवत १०. ४०. २१; विष्णु ५. १८. ५८.
पद्म० उत्तर ० २७२. ३१३–३१४

कारण इन दोनों पुराणों में कृष्ण कथा की भिन्न परम्परा है। अग्नि० में चतुर्व्यूह का अभाव हरिवंश के कृष्णचरित्र के अनुकरण मात्र का परिचय देता है।

पद्म० के सृष्टिखण्ड में पौष्कर प्रादुर्भाव के महत्त्व की ओर संकेत है।[1] हरिवंश की भाँति यहाँ भी विष्णु की नाभि से कमल की उत्पत्ति, उसमें ब्रह्मा का तप, उनके द्वारा सृष्टिनिर्माण और मधुकैटभ के वृत्तान्त का वर्णन है। ब्रह्मा से अधिष्ठित विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल के प्रत्येक भाग की समता समस्त ब्रह्माण्ड से की गयी है। ब्रह्मा और कमल से युक्त विष्णु का अधिवास एकार्णव है। विष्णु समस्त सृष्टि को स्वयं में अन्तर्भूत करके बालरूप से एकार्णव में स्थित वृक्ष की एक शाखा में निवास करते हैं। इसी प्रसंग में मार्कण्डेय मुनि के द्वारा उनके उदर के अन्तर्गत समस्त लोकों में भ्रमण तथा उनकी महिमा के ज्ञान का वर्णन है।[2]

पुराणों में अवतार

पुराणों में बुद्धावतार के विभिन्न रूप दिखलाई देते हैं। प्राचीन कहे जाने वाले प्राय सभी पुराण बौद्ध धर्म को अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। महाभारत सभापर्व में विष्णु के आठ अवतारों के अन्तर्गत बुद्ध का नाम नहीं है।[3] विष्णु के अवतारों की सूची में भी बुद्ध के नाम का अभाव है।[4] देवी भागवत में विष्णु के सात अवतारों के अन्तर्गत बुद्ध का कोई उल्लेख नहीं है।[5] ब्रह्म० में विष्णु के नौ अवतार पौष्कर, वाराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय जामदग्न्य, राम दाशरथि, कृष्ण और कल्कि का वर्णन है।[6] किन्तु बुद्ध का नामोल्लेख नहीं है।

कुछ पुराणों तथा उपपुराणों में विष्णु के अवतारों के अन्तर्गत बुद्ध का उल्लेख मिलता है। भागवत के अन्तर्गत चौबीस अवतारों में बुद्ध का नामोल्लेख है।[7] वाराह० में दस अवतारों की सूची के अन्तर्गत बुद्ध का नाम नवाँ है।[8] बृहद्धर्म० में बुद्ध की

१. पद्म० सृष्टि १.६१ २. पद्म० सृष्टि ३९–४०
३. महा० २.३५.१–२१३ ४. Hazra. Pur. Rec. P. 41
५. देवी० ४.६ ६. ब्रह्म २१३ २९–१६६
७. भागवत २.१७
८. वाराह० ४.२–मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्कीति ते दश॥

गणना विष्णु के अवतारों के अन्तर्गत की गयी है, किन्तु उनके प्रति आदर का भाव नही है। बुद्ध को यहाँ पर लोकविमोहन के लिए उत्पन्न माना गया है।[1]

पुराणों में शाक्त विचारधारा

शक्ति का पूर्ण विकसित रूप शाक्त पुराणो में मिलता है। देवी भागवत और कालिका पुराण इनमें प्रमुख हैं। देवी भागवत के अन्तर्गत देवी का शिवसहचरी तथा नारायणी रूप पूर्ण समन्वित ही नही हो गया है, अपितु इस पुराण में देवी को सभी देवताओं में प्रधान माना गया है। इस कारण इस पुराण में कृष्ण का व्यक्तित्व देवी के विशाल व्यक्तित्व से पूर्णत आच्छादित हो गया है। पृथ्वी में कृष्ण का प्रादुर्भाव देवी की शक्ति के बल से माना गया है[2]। कालिका पुराण में देवी भागवत की भाँति देवी के महत्त्व को सभी देवताओं से बढ़कर चित्रित किया गया है[3]। मार्कण्डेय० के देवी माहात्म्य में भी देवी का स्वरूप पूर्ण विकसित अवस्था में मिलता है[4]। अन्य पुराणों में मिलने वाले शक्ति के उत्तरोत्तर रूप का चरम विकास देवी से सम्बद्ध इन पुराणो में मिलता है।

पुराणो में अन्य भक्ति-परम्पराएँ

उत्तरकालीन पुराणों में शाक्त विचारधारा के साथ गणेश, सूर्य, गगा आदि देवताओ का समन्वय हुआ है। सभी सम्प्रदायो का लोकप्रचलित रूप स्वीकार करने के कारण यह पुराण विविध परम्पराओ के बृहत्कोष के समान ज्ञात होते हैं। अग्नि०, गरुड० तथा मार्कंडेय पुराण इसी प्रकार के पुराण हैं[5]।

अर्वाचीन पुराणो में गगा का माहात्म्य विकसित अवस्था का परिचायक है। इन पुराणो में गगा को पतितपावनी नदी के अतिरिक्त परम वरदायिनी देवी के सम्पूर्ण

१. बृहद्धर्म० मध्य० ४१
२. देवी भाग० ४. १९ ३१–३२–भवद्भिरपि स्वैरंशैरवतीर्य धरातले।
मच्छक्तियुक्तैः कर्त्तव्यं भारावतरणं सुराः॥
देवी भाग० १. १ १४
३. कालिका० ६१–७१ ७६–८०
४. मार्कण्डेय० ७८–८९
५. अग्नि० १६, २१–२३, २५, ३८,
मार्कंडेय० ४२–६०, १६५, २२२, ५, २२, १५१–१५४, २२४

व्यक्तित्व के साथ प्रस्तुत किया गया है[1]। बृहद्धर्म० में गगा को ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से पूजित कह कर गगा के माहात्म्य को बढा दिया गया है। बृहद्धर्म० के अन्य स्थलो में गगा के माहात्म्य का विशद वर्णन हुआ है[2]। बृहन्नारदीय में गगा की भक्ति तथा माहात्म्य का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है[3]। प्रारम्भिक पुराणो में तीर्थ-माहात्म्य भारत के प्रमुख तीर्थों के वर्णन तक ही सीमित है। प्रभास, पिण्डारक, पुष्कर और नैमिष, पुराणो के तीर्थ-माहात्म्य के अन्तर्गत प्रारम्भिक तीर्थ ज्ञात होते हैं[4]। भारतीय समाज में गगा के व्यापक महत्त्व के कारण सम्भवत पुराणो में गगा माहात्म्य पर स्वतन्त्र अध्याय जोड दिये गये हैं। प्रारम्भिक ज्ञात होने वाले पुराणो में गगा के माहात्म्य का अभाव कदाचित् इन पुराणो के काल तक पवित्र नदी के रूप में गगा की अप्रसिद्धि है।

पुराणो में स्मृतिसामग्री

पुराणो के अन्तर्गत स्मृति साहित्य सामाजिक अध्ययन के लिए उपयोगी साधन है। स्मृति-साहित्य के अन्तर्गत तत्कालीन विविध सदाचारो और मानव जीवन के लिए उपयोगी नियमो का विशद विवरण मिलता है। स्मृति सम्बन्धी ये सिद्धान्त अपने काल की विशेषताओं की ओर सकेत करते हैं। पुराण और महाभारत वर्णाश्रम की जो व्यवस्था करते हैं, मनु की वर्णाश्रम व्यवस्था कुछ स्थलो में उनसे अधिक दृढ तथा कठोर दिखलाई देती है। इन पुराणो में स्त्री और शूद्र के प्रति उदार दृष्टिकोण दिखलाया गया है[5]। मनु स्त्री और शूद्र की शोभा को अधिक सकीर्ण बना देते हैं[6]। समाज के निम्न वर्गों के प्रति बढती हुई अवहेलना, काल की अर्वाचीनता की सूचना देती है। अत स्त्री

१. बृहद्धर्म० पूर्व ५. ६०—नमस्ते देवदेवेशि गगे त्रिपथगामिनि।
त्रिलोचने श्वेतरूपे ब्रह्मविष्णुशिवार्चिते॥

२. बृहद्धर्म पूर्व ५४–५६

३. बृहन्नारदीय ६. ५–७०; ९. १५२–१५५

४. हरि० २. ८८. ४–समुद्रयात्रा समाप्ता तीर्थे पिण्डारके नृप।
महा० १२. ३३१ प्रभास० ; विष्णु ५. ३७;
भाग० १. १. ४–नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषय शौनकादय ॥

५. विष्णु ३. ८. ३४–३५; ३. १२. ३०; ४. २; भागवत ७. ११. २४; ११. ५. ४; महा० १. १८९. ६१; २. १५. ५४–अनावृता पुरा नार्यो

६. मनु० १. ९१; ५. १६१–१६२; ९. ५७–६३

और शूद्रो के प्रति असकीर्ण दृष्टिकोण रखने वाले पुराणो के स्थल मनु के सकीर्ण विचारो से अप्रभावित तथा पूर्ववर्त्ती ज्ञात होते हैं।

प्रमाणो के अनुसार अर्वाचीन ज्ञात होने वाले पुराणो का स्मृति साहित्य उत्तर कालीन युग से प्रभावित ज्ञात होता है। पाचरात्र, भागवत, पाशुपत, शाक्त और तान्त्रिक परम्पराओ में उत्तरकालीन भारत की धार्मिक अवस्थाओ के अनुरूप परिवर्त्तन हुआ है। परम्पराविशेष से प्रभावित पुराणो का स्मृति साहित्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सम्प्रदाय अथवा धार्मिक विचारधारा के उत्कर्ष को दिखलाता है। इसी कारण स्मृतियो में जिन पापो को दूर करने के लिए प्रायश्चित्तो की लम्बी सूची दी गयी है, उत्तरकालीन वैष्णव पुराणो में केवल नामजप के द्वारा ही उस महापातक के कष्ट से मुक्त होने का उल्लेख है[1]। भागवत में भगवद्भक्ति की महिमा का वर्णन है। यहाँ पर विष्णु के प्रभावशाली नाम की प्रशसा की गयी है, जिसके कथन मात्र से म्लेच्छ जातियाँ भी पवित्र हो जाती हैं[2]। विष्णु० में व्यास के अनुसार अन्य युगो में ध्यान, यज्ञ और देवार्चन से मिलने वाला फल कलियुग में नामकीर्तन से मिल जाता है[3]।

पुराणो के इन स्मृतिसम्बन्धी सिद्धान्तो में राजनीति और अर्थशास्त्र का भी यथेष्ट विवेचन हुआ है। मत्स्य० में राजधर्म पर सुदीर्घ अध्याय पुराणो के बढते हुए स्मृति सम्बन्धी विषय के प्रमाण हैं[4]। पद्म० में विविध तीर्थ और व्रतो के माहात्म्य इस पुराण के आकार को बढा देते हैं[5]। विष्णु० और भागवत म स्मृति-सामग्री पद्म से कम मात्रा में मिलती है[6]। *वायु० और ब्रह्माण्ड० में स्मृति सवन्धी सामग्री विष्णु०* और भागवत से कम मात्रा में दिखलाई देती है[7]। हरिवश से बहुत कुछ समानता

१. स्कन्द०—ब्राह्म० धर्मारण्य माहात्म्य ४०; बृहन्नारदीय. ३८. १३०.

२. भागवत० २. ६७. ७४

३. विष्णु० ६. २. १७— *ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।*
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

४. मत्स्य० २२२—२२७

५. *पद्म० सृष्टि ११, १५—१६, १८—२१, ३४, ४८—५३, ५७—६३, ७६—८२*

६. विष्णु० १. ६, ३. ८—१६; भागवत ३. ३०—३१; ६. १९; ७. ११—१५; ११. १०—१८, २७

७. वायु० ८, १६—१९, ३२, ५८; ब्रह्माण्ड उपोद्घात० ११—२०; ब्रह्माण्ड० अनुषंग ० ७, २६, ३४—४०, ५७—६९

रखने वाला ब्रह्म०[1] भी स्मृति की सामग्री में हरिवंश से बढा हुआ है। इन सभी महा-पुराणों में हरिवंश के अन्तर्गत स्मृति सामग्री सबसे कम मात्रा में मिलती है।

हरिवंश में पुण्यकव्रत ही स्मृति-सामग्री का एकमात्र प्रतिनिधित्व करता है। इस व्रत की महिमा का प्रतिपादन पार्वती के मुख से हुआ है। पार्वती, शची और अरुन्धती के अनुकरण रूप में इस व्रत को मर्त्यलोक में करने वाली सर्वप्रथम स्त्री सत्य-भामा बतलायी गयी है। पारिजातहरण का लम्बा वृत्तान्त इस प्रसग के अन्तर्गत मिलता है[2]। पारिजातहरण कुछ परिवर्तित रूप में अनेक वैष्णव पुराणों में मिलता है[3]। पुण्यक व्रत अन्य पुराणो में नही मिलता। ब्रह्म० जो प्रायः अनेक स्थलों में हरिवश का अनुकरण करता है, पुण्यकव्रत के विषय में मौन है[4]। ब्रह्म० में पुण्यकव्रत के स्थान पर सोलह सहस्र कन्याओ के साथ कृष्ण के विवाह का वर्णन है। अत. पुण्यकव्रत का यहाँ पर चिह्न भी नही मिलता।

पुराण पुण्यकव्रत के किसी भी रूप को प्रस्तुत नहीं करते। विष्णु के अन्तर्गत पारिजात के प्रसंग की हरिवश से समानता होने पर भी पुण्यकव्रत का कोई उल्लेख नही है।[5] भागवत के अन्तर्गत भी इस प्रसग में पुण्यकव्रत का कोई चिह्न नही मिलता।[6] देवी भागवत के अन्तर्गत पारिजातहरण के प्रसंग में सत्यभामा द्वारा पारिजातवृक्ष से कृष्ण को बाँधने का उल्लेख है।[7] हरिवंश के पुण्यकव्रत में सत्यभामा द्वारा पारिजात वृक्ष में बाँधकर कृष्ण के नारद को दान दिये जाने का उल्लेख है।[8] पद्म० उत्तरखण्ड में पारिजातहरण के प्रसग के अन्तर्गत सत्यभामा द्वारा नारद को तुलापुरुषदान देने का वर्णन है। सत्यभामा यहाँ पर पारिजातवृक्ष सहित कृष्ण को तोलकर नारद को देती हुई चित्रित की गयी है।[9] पद्म० उत्तर० में पारिजातहरण के अन्तर्गत तुला-पुरुषदान हरिवश के पुण्यकव्रत से बहुत समानता रखता है। पुण्यकव्रत और तुला-पुरुषदान दोनो का उद्देश्य सौभाग्य-प्राप्ति है।[10] वृक्ष में कृष्ण को बाँधकर

१. ब्रह्म ७०–१७७. २. हरि० २. ७७–८१

३. विष्णु० ५. ३०–३१; पद्म० उत्तर ९०; भागवत १० ५९. ३८–४०; देवी भाग० ४. २५ २५–२७.

४. ब्रह्म० २०४ ५. विष्णु० ५. ३१.

६. भागवत १०. ५९. ३८–४०. ७. देवी० भा० ४. २४

८. हरि० २. ७६. ५–८ ९. पद्म० उत्तर ९०. ३८–३९

१०. हरि० २. ७८. १५–१७

पारिजात दक्षिणा सहित नारद को देने की हरिवंश की विधि से पद्म० के तुलापुरुप-दान में अर्वाचीनता दिखलाई देती है। तुलापुरुप का दान अर्वाचीन दानो में से एक है। हरिवंश में पद्म० की भाँति 'दानविधि' नही मिलती। हरिवंश के पुण्यकव्रत की विधि पद्म० में नही है। सम्भवत हरिवंश के पुण्यकव्रत का अत्यन्त अर्वाचीन रूप पद्म० के तुला-पुरुपदान में मिलता है।

मत्स्य० के अन्तर्गत सोलह महादानो के प्रसग में तुलापुरुपदान का उल्लेख है।[1] मत्स्य० का तुला-पुरुपदान पद्म० के तुला-पुरुपदान से समानता रखता है। इस दृष्टि से यह दान पद्म० उत्तर० की भाँति हरिवंश के पुण्यकव्रत का ऋणी है। मत्स्य० के अन्तर्गत कल्पपादप का उल्लेख भी हुआ है।[2] कल्पपादप दान कुछ अश में पुण्यकव्रत के पारिजात दान से समानता रखता है। किन्तु कल्पपादप-दान पति की कल्याण कामना से कोई सम्बन्ध न रखने के कारण पुण्यकव्रत के उद्देश्य से बहुत दूर हट गया है। यहाँ पर तुला पुरुपदान पद्म० उत्तर० के तुला-पुरुपदान से समानता रखने के कारण हरिवंश के पुण्यकव्रत से सम्बन्ध सूचित करता है।

मत्स्य० के अन्तर्गत तुला-पुरुपदान के प्रसग में श्री दीक्षितार का मत विशेपता रखता है। श्री दीक्षितार ने मत्स्य० में वर्णित सोलह महादानो का मूल तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रतिग्रहमन्त्र तथा तैत्तिरीय आरण्यक के सत्रह महादानो में दिखलाया है।[3] मत्स्य० का तुलापुरुप अवश्य तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रतिग्रहमन्त्र से प्रेरणा ग्रहण करता है। हरिवंश का पुण्यकव्रत मत्स्य० के तुलापुरुप से पूर्वकालीन होन के कारण तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रतिग्रहमन्त्रो से अधिक निकटवर्ती है। हरिवंश के पुण्यकव्रत के अन्तर्गत दान, ब्राह्मण भोजन तथा पूजा के अर्वाचीन अशो का मिश्रण होने पर भी पुण्यकव्रत के सम्पादन विधि की प्राचीनता इस व्रत को प्राचीन सिद्ध करती है।

१ मत्स्य० २७४ २. मत्स्य० २७७

3 V R R Dikshitar · Matsya P A Study p 95-96—There is the question of the 16 Mahādānas, which a monarch is asked to perform on particular occasions this institution can be traced back to the Pratigraha Mantra Section of the Taittiriya Brah II 3 4 and the Taittirīya Āran furnishes a list of 17 Dānas of which some of the gifts are referred to in the Purānas

मत्स्य० के महादानों में तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रतिग्रहमन्त्र और तैत्तिरीय आरण्यक के सत्रह महादानों से श्री दीक्षितार के द्वारा स्थापित किया गया सम्बन्ध हरिवंश के पुण्यकव्रत के सांस्कृतिक महत्त्व को अधिक स्पष्ट करता है। हरिवंश का पुण्यकव्रत विषय सामग्री की दृष्टि से तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक के दान-प्रसंग से कुछ समानता रखता है। सत्यभामा के द्वारा कृष्णसहित पारिजातदान सम्भवत इन सोलह महादानों से ही विकसित कोई दान है।

ब्रह्मवैवर्त्त में त्रैमासिकव्रत हरिवंश के पुण्यकव्रत से कुछ समानता रखता है। इस व्रत का विधान पुण्यक-व्रत की भाँति किसी ज्ञानी तथा धर्मनिष्ठ ब्राह्मण को पुरोहित बनाकर किया जाता है। इस व्रत का प्रयोग सर्वप्रथम मनु की स्त्री शतरूपा ने अगस्त्य को पुरोहित बनाकर किया था। इसके बाद शची ने बृहस्पति को पुरोहित बनाकर यह व्रत इन्द्र के लिए किया। पार्वती ने शिव की दीर्घायु के लिए सनत्कुमार को ऋषि बनाकर इस व्रत का आचरण किया।[1] इस व्रत का पालन करने वाली व्रतिनियों की संख्या यहीं पर समाप्त हो जाती है। अत पारिजातहरण के प्रसंग में इस व्रत को धारण करने वाली सत्यभामा का नाम नहीं आता।

ब्रह्मवैवर्त्त का त्रैमासिकव्रत कुछ अंश में पुण्यकव्रत से समानता रखने पर भी अनेक दृष्टियों से भिन्न है। इस व्रत के प्रसंग में पारिजात का उल्लेख नहीं है। यह व्रत त्रैमासिक शब्द के द्वारा तीन मास का व्रत ज्ञात होता है। हरिवंश के पुण्यकव्रत की अवधि एक मास से एक वर्ष तक की है।[2] ब्रह्मवैवर्त्त के त्रैमासिक व्रत की व्रतिनी के रूप में सत्यभामा का उल्लेख नहीं है। इन भेदों की उपस्थिति होने पर भी हरिवंश का त्रैमासिक पुण्यकव्रत मत्स्य० और पद्म० उत्तर० के तुलापुरुषदान का अर्वाचीन रूप प्रतीत होता है। उत्तरकालीन होने के कारण कदाचित् इस पुराण में पुण्यक व्रत का प्रधान साधन, पारिजात, धीरे धीरे अनुपस्थित हो गया है। ब्रह्मवैवर्त्त० का त्रैमासिक व्रत हरिवंश तथा उसके पूर्व तैत्तिरीय ब्राह्मण के मूल व्रत का शेष रूप ज्ञात होता है।

हरिवंश स्मृति-साहित्य से पूर्णत अपरिचित है, यह पहले ही कहा जा चुका है। हरिवंश को छोड़कर अन्य सभी पुराणों में चारों वर्णों के लिए विध्यात्मक तथा निषेधात्मक कार्यों का विवरण मिलता है। पुराणों में सभी वर्णों के लिए बनाये गये नियम

१. ब्रह्मवैवर्त्त कृष्णजन्म० १६.७७-८२, १३९

२. हरि० २.७९.१—विधिनैतेन कृत्स्नेन स्त्री सदा भर्तृदेवता ।
वर्षं संवत्सरं दान्ता षण्मासान्मासमेव च ॥

मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों से बहुत कुछ समानता रखते हैं। मनुस्मृति और पुराणों के स्मृतिसाहित्य में समानता पुराणों के स्मृतिसम्बन्धी महत्त्व को प्रस्तुत करती है।

मनुस्मृति के स्मृतिसिद्धान्त कुछ स्थलों में पुराणों की अपेक्षा अधिक कठोर हैं। मनु शूद्रों के प्रति केवल द्विजसेवा ही एकमात्र कर्तव्य बतलाते हैं।[1] इसी प्रकार स्त्रियों के वैवाहिक नियम मनुस्मृति में अधिक दृढ़ हो गये हैं। मनु के द्वारा व्यवस्थापित इन नियमों में स्त्री की परतन्त्रता का विधान सभी जगह दिखलाई देता है।[2]

पुराणों में शूद्रों तथा स्त्रियों के लिए बनाये गये विधान मनुस्मृति की अपेक्षा उदार हैं। भागवत शूद्रों के लिए द्विज-शुश्रूषा के अतिरिक्त अन्य कर्तव्यों का उल्लेख करता है। वह कर्तव्य छः प्रकार के हैं–शौच, सेवा, अमन्त्रयज्ञ, अस्तेय, सत्य और गो-ब्राह्मणों की रक्षा।[3] भागवत० की भाँति विष्णु० भी शूद्रों के प्रति उदार भाव रखता है। विष्णु० में शूद्र को दान, पाकयज्ञ, और पितृकार्य करने का अधिकार दिया गया है।[4] अग्नि० में त्याज्य पति को छोड़कर स्त्रियों को अन्य विवाह करने की अनुमति दी गयी है।[5]

पुराणों में स्त्रियों की निन्दा के साथ उनकी प्रशंसा से पूर्ण स्थल भी मिलते हैं। पुराणों में स्त्रियों को अविश्वसनीय बताने पर भी उन्हें ईर्ष्या का अपात्र कहा गया है।[6] अन्य स्थलों में पुराण स्त्रियों को आदर की पात्र कहते हैं। किन्तु केवल साध्वी स्त्रियाँ ही इस गौरव की अधिकारिणी मानी गयी हैं।[7] स्त्रियों को उच्च आदर देने पर भी पुराण उनको वेदमन्त्र का अनधिकारी बतलाते हैं। पुराणों को सुनने का अधिकार शूद्र की भाँति उनको भी नहीं है।[8] स्त्री और पुरुष में समानता का स्पष्ट

१. मनु० १. ९१–एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
२. मनु० ५. १६१–१६२, ९, ५८–५९, ९. २–अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
३. भागवत ७. ११. २४–शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया।
४. विष्णु० ३. ३२. ३४–दानं च दद्याच्छूद्रोऽपि पाकयज्ञैर्यजेत च।
पित्र्यादिकं च तत्सर्वं शूद्रः कुर्वीत तेन वै॥
५. अग्नि० १५४ ५–६
६. अग्नि० २२७. ४१–४६
७. वृहद्धर्म० उत्तर० २०. ४४–४८; ४१. २८, ३१, ३७
८. वृहद्धर्म० पूर्व ३०. १०–स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

उल्लेख बृहद्धर्म० में केवल एक स्थल पर मिलता है। यहाँ पर धर्मशास्त्रों के आधार पर कन्या को पुत्र की भाँति महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है।[1] पुराणों के अन्तर्गत स्त्री तथा शूद्रों के प्रति विविध विचारधाराएँ विभिन्न काल में इनके प्रति जनसाधारण के व्यवहार का परिचय देती हैं।

पुराणों के वंशवर्णन में वर्णाश्रमधर्म

पुराण-पंचलक्षण के अन्तर्गत राजवंशों के वर्णन सभी पुराणों में नहीं मिलते। यह प्रसंग विशद रूप में विष्णु०, हरिवंश तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में हैं। भागवत में भी राजवंशों के वर्णन के अन्तर्गत वर्णेतर-विवाह के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। पुराणों में अधिक अथवा न्यून मात्रा में मिलनेवाले वर्णमिश्रण के उदाहरण पौराणिक वंशवर्णन के अंग ज्ञात होते हैं।

पुराणों के वर्णमिश्रण में अनेक स्थलों में विचार-भेद दिखलाई देता है। हरिवंश में नरिष्यत् के पुत्रों को शक कहा गया है।[2] विष्णु० नरिष्यन् के पुत्र को दम कहता है।[3] हरिवंश से बहुत कुछ प्रेरणा लेने वाला ब्रह्म० राजवंशों के विषय को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करता है। वर्ण-संकर तथा अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का वर्णन हरिवंश से संगृहीत होने के कारण लगभग समानता रखता है।

हरिवंश तथा अन्य पुराणों के वंशवर्णन का प्रसंग वर्णाश्रम सम्बन्धी सामग्री के लिए महत्त्वपूर्ण है। पुराणों में वर्णचतुष्टय सम्बन्धी प्रसंग के संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन से ज्ञात होता है कि पौराणिक विषय-सामग्री में अवश्य इनका कोई अभिप्राय होगा। सभी पुराणों के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म की सामग्री के द्वारा ज्ञात होता है कि इन घटनाओं को प्रस्तुत करने का एक मात्र उद्देश्य धर्मतंत्र में सभी जातियों के समान अधिकार को सूचित करना था। उचित अथवा अनुचित धर्मों के अनुसार अच्छी अथवा बुरी जाति में जन्म लेने वाले ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के वृत्तान्त इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

१. बृहद्धर्म० उत्तर० ४२. १९—सा हि पुत्रसमा राजन् विहिता कुरुनन्दन ।
एवमेतत् समुद्दिष्टं धर्मेषु भरतर्षभ ॥
२. हरि० १. १०. २८
३. विष्णु० ४. १. ३४-३५—स भरतश्चक्रवर्ती नरिष्यन्तनामानं पुत्रमवाप । तस्माच्च दमः ॥

पौराणिक वशवर्णनो में वर्णाश्रम-सम्बन्धी तत्त्व की व्याख्या महाभारत में मिलती है। शान्तिपर्व में भीष्म युधिष्ठिर को ब्राह्मणों के त्याज्य धर्मों का उपदेश देते हैं। भीष्म के अनुसार दुश्चरित्र, धर्महीन, वृषलीपति, पिशुन, नर्तक, ग्रामप्रेष्य तथा विकर्मा व्यक्ति शूद्र कहे जा सकते हैं।[1] पूर्वोक्त प्रकार का व्यक्ति चाहे वेदपाठ करने वाला ब्राह्मण ही क्यो न हो, शूद्र की सज्ञा को प्राप्त होता है।[2] शान्तिपर्व में जाजलि तथा तुलाधार का प्रसग जातिगत उदारता का एक अन्य उदाहरण है। यहाँ पर ब्राह्मण जाजलि उच्चकोटि के आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए तुलाधार वणिक् के पास जाता है। तुलाधार के अनुसार आशीर्वाद तथा कर्म, चाटुकारिता तथा आत्मप्रशसा से रहित और समस्त कर्मों के फल को छोड देने वाला व्यक्ति ही ब्राह्मण है।[3]

शान्तिपर्व में जनक के पूछने पर कर्म और जाति में कौन श्रेष्ठ है, याज्ञवल्क्य कर्म को ही श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार नीचजाति में जन्म लेकर सत्कर्म करने वाला व्यक्ति ही पुरुष कहलाने योग्य है। अच्छी जाति में उत्पन्न होकर दुष्कर्म करने वाला व्यक्ति निन्दा का पात्र है। अत कर्म और जाति में कर्म ही श्रेयस्कर है।[4] याज्ञवल्क्य पुन सभी जातियो को ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण तथा समस्त विश्व को ब्रह्ममय बतलाते हैं।[5]

१. महा० १२.५७.४

२. महा० १२.५७.५— एवंविधो ब्राह्मणः कौरवेन्द्र ।
वृत्तापेतो यो भवेन्मन्दचेताः ।
जपन्वेदानजपश्चापि राजन् ।
समश्शूद्रैर्दासवच्चोपभोज्यः ॥

३. महा० १२.२४८.३४—निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीण क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

४. महा० १२.२८०.३३–३४—जात्या दुष्टश्च यः पापं न करोति स पूरुषः ॥
जात्या प्रधानं पुरुषं कुर्वाणं कर्म धिक्कृतम् ।
कर्म तद्दूषयत्येनं तस्मात् कर्मैव शोभनम् ॥

५. महा० १२.२००.९०—सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च,
सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म ।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि,
सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम् ॥

शान्तिपर्व के अन्तर्गत पचशिख–सयमन सवाद में पचशिख समस्त प्राणियो में 'सात्त्व' के दर्शन करने वाले समत्वबुद्धि-युक्त व्यक्ति को सुख का अधिकारी बतलाते हैं।[1] शान्तिपर्व के इन सभी प्रसगो में जातियो के भेद के पीछे प्राणियो की समानता का भाव दिखलाई देता है।

वर्णैक्य के सबसे अधिक उदाहरण बौद्ध जातको में मिलते हैं। जातको में वर्णों की एकता का कारण सम्भवत शाक्यवशी क्षत्रिय बुद्ध का धार्मिक प्रचार था। इन जातको में ब्राह्मणो के जातीय गौरव के लिए कोई सरक्षण नही दिखलाई देता। इसी कारण क्षत्रिय जाति इन जातको में ब्राह्मणो की भाँति महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती हुई चित्रित की गयी है।

जातको की भाँति उपनिषदोंमें क्षत्रिय जाति के उत्कर्षकालीन समाज का प्रदर्शन मिलता है। वैदेह जनक[2] तथा प्रवाहण जैवलि[3] आदि राजा ब्रह्मज्ञान में क्षत्रियो के पारदर्शी मस्तिष्क के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। उपनिषदो के इन स्थलो में ब्राह्मणजाति क्षत्रियो के द्वारा पूर्णत तिरस्कृत हो गयी है, यह नही कहा जा सकता। ब्रह्मज्ञानोपदेश के प्रसग में गौतम के द्वारा ब्रह्मविषयक ज्ञान के पूछे जाने पर प्रवाहण जैवलि कुछ सकोच प्रकट करते हुए दिखलाये गये हैं। वह गौतम को ज्ञान देने के लिए किसी अन्य ब्राह्मण से इस विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने तक प्रतीक्षा करने के लिए कहते हैं।[4] ज्ञात होता है, ब्रह्मज्ञान मे क्षत्रियो की श्रेष्ठता दिखाने पर भी ज्ञान के क्षेत्र में ब्राह्मणो के सहज अधिकार की उपेक्षा नही की गयी है। इसी कारण गौतम को विद्या देने के पूर्व जैवलि ब्रह्मज्ञान में गम्भीर मनन के लिए अवसर चाहते हैं। जैवलि के ब्रह्मज्ञानोपदेश के आधार पर उपनिषदो का कथन है कि ब्रह्म के ज्ञान में क्षत्रियो की उत्कृष्टता के कारण ब्राह्मण क्षत्रियो की सेवा नीचे बैठकर करता है।[5]

बृहदारण्यक उपनिषद् में चातुर्वर्ण्य सृष्टि नामक अध्याय के अन्तर्गत चारो वर्णों तथा उनके धर्म के विषय में विवेचन हुआ है। बृहदारण्यक० के अनुसार ईश्वर जब

१. महा० १२. ३०५. १७५ २. बृहदारण्यक० ६. २–४
३. छान्दोग्य० ५. ३; बृहदारण्यक० ४. १–६
४. छान्दोग्य० ५. ३. ६–७–त होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति ।
५. बृहदारण्यक १. ४. ११–तस्माद् ब्राह्मण क्षत्रियमधस्तादुपास्ते ।

एकाकी था, तब उसने सर्वश्रेष्ठ रूप धर्म की सृष्टि की।[१] बृहदारण्यक के शांकर-भाष्य के अनुसार ब्रह्मा ने वर्णों की सृष्टि कर्म के लिए की तथा यह कर्म ही धर्म है। यही धर्म पुरुषार्थ का साधन तथा जगत् का नियन्ता है। इसके व्यवहार से प्रत्येक व्यक्ति अपने अभीष्ट लोक को प्राप्त होता है।[२] यहाँ पर चारो वर्णो में कर्मरूप धर्म की प्रधानता व्यंजित होती है।

कर्मों के प्राधान्य तथा वर्णों की गौणता का उल्लेख गीता में भी है। कृष्ण के अनुसार चातुर्वर्ण्य की सृष्टि पूर्वजन्म के गुण तथा कर्मों के आधार पर हुई है।[३] गीता के अन्य स्थल में चारो वर्णों के कर्म पूर्वजन्म के संस्कारो के अनुसार विभाजित है।[४] गीता के योगविवेचन के प्रसग में सभी प्राणियो में आत्मा को तथा आत्मा में सभी प्राणियों को देखने वाला व्यक्ति ही योगी कहा गया है।[५] गीता में मिलने वाले वर्ण-विषयक ये विचार पुराणो तथा उपनिषदो के इसी प्रकार के विचारो के साथ पूर्ण सामजस्य रखते है।

हरिवश में राजवशवर्णन के अन्तर्गत विविध वर्णों के विषय में उत्तरकाल से अपेक्षाकृत उदार वर्णपरम्परा दिखलाई देती है। राजवशो में वर्णसंकर, अनुलोम और प्रतिलोम विवाह तथा अन्य सामाजिक कारणो से विविध नवीन वर्णों का जन्म दिखालाई देता है। उदाहरण के लिए नरिष्यत के पुत्रो को शक कहा गया है जैसा कि हम पहले कह चुके है।

हरिवश में राजवशो के वर्णन के अवसर पर जातिगत उदारता की भाँति प्राचीन

१. बृहदारण्यक १.४.१४—स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत् धर्मं तदेतत्।
२. बृहदारण्यक १.४.१४—भाष्य—ब्रह्मणा सृष्टा वर्णा. कर्मार्थम्। तच्च कर्म धर्माख्यं सर्वानेव कर्त्तव्यतया नियन्तु पुरुषार्थसाधन च। तत् तस्मात् तेनैव चेत्कर्मणा स्वो लोकः परमात्माख्योऽविदितोऽपि प्राप्यते।
३. गीता० ४.१३—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
४. गीता १८.४१—ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
५. गीता ६.२९—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः॥
गीता ६.३१—सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

वैदिक साहित्य में भी जातिविषयक बन्धनो की शिथिलता के दर्शन हैं। सत्यकाम ने जावाल के वश के विषय में ज्ञान न होने पर भी केवल उसकी सत्यनिष्ठता के आधार पर उसे कुलीन समझ लिया है।[1] शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ का समान अधिकार होने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को समान बतलाया गया है।[2]

पुराणो में कलि-धर्म निरूपण

हरिवश की भाँति अन्य पुराणो में भी कलियुगवर्णन अपनी विशेषता के साथ मिलता है। विष्णु में कलियुग का वर्णन लगभग उन्ही बातो को प्रस्तुत करता है, जो प्रत्येक पुराण के कलिधर्मनिरूपण में मिलती है। कलिधर्मनिरूपण के अतिरिक्त इस पुराण में व्यास के द्वारा स्त्री, शूद्र तथा कलियुग के महत्त्व का वर्णन विष्णुपुराण-कालीन समाज में इनकी विचित्र स्थिति की ओर सकेत करता है। कलियुग में स्त्री के लिए पतिसेवा और शूद्र के लिए द्विजातिसेवा को तपस्या का सरल मार्ग बताकर उन्हे एक ही श्रेणी में रखा गया है।[3] ज्ञात होता है कि विष्णुपुराण-कालीन समाज में स्त्री और शूद्र का स्थान समान रूप से नगण्य था।

महाभारत आरण्यपर्व में कलिधर्म का निरूपण कुछ भिन्न रूप में हुआ है। हरिवश की भाँति यहाँ भी बौद्ध धर्म से परिचय की सूचना मिलती है। आरण्यपर्व के अन्तर्गत कलिकाल में जनता को देवी देवताओ की पूजा न करके जालूको की पूजा करते हुए कहा गया है। ब्राह्मणो को प्राकृतप्रिय बतलाया गया है तथा समाज में पापण्डो के साम्राज्य की सूचना दी गयी है।[4] इसी समय सम्भल ग्राम में विष्णुयशा नामक ब्राह्मण के कल्कि अवतार का उल्लेख है। यह विष्णुयशा ही ब्राह्मणो से आवृत होकर म्लेच्छो को नष्ट करेगा, यह कहा गया है।[5]

महाभारत का यह प्रसग उस काल की सामाजिक स्थिति की ओर सकेत करता है, जिसमें हरिवश का सकलन हुआ था। वेदविरुद्ध राजाओ को महाभारत म्लेच्छ के रूप में चित्रित करता है। हरिवश में इन राजाओ को शूद्र कहा गया है। शूद्र और म्लेच्छ कहलाने वाले य राजा निस्सन्देह कुशनवशी राजा हैं। ब्राह्मणजाति

१. छान्दोग्य० ४.४—त होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति ।
सौम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति ॥

२. शतपथ ब्रा० ३. १. १. ८–१०

३. विष्णु० ४.२ ४. महा० ३. १६२ ५. महा० ३. १६२

तथा वैदिक धर्म के प्रति इनकी असहिष्णुता का प्रमाण अलबेरुनी के शब्दो में मिलता है। उसके के अनुसार शकोने आर्यावर्त्त कोअपना निवास-स्थान बनाया और हिन्दुओ के स्वतन्त्र अस्तित्व में बाधा पहुँचायी।[१]

महाभारत वनपर्व में म्लेच्छो के वेदविरुद्ध मत तथा ब्राह्मणद्वेप का वर्णन मिलता है। यहाँ पर म्लेच्छो से ब्राह्मण जाति के उद्धारक के रूप में कल्कि का नामोल्लेख नही है।[२]

बौद्ध धर्म की पतनोन्मुख अवस्था का वर्णन ब्रह्माण्ड० में महा० वनपर्व से लगभग समानता रखता है।[३] हरिवंश की भाँति वेदविरुद्ध विदेशी राजाओ को यहाँ शूद्र कहा गया है।[४]

पुराणों में रजि का वृत्तान्त

पुराणो की तुलना में हरिवंश की सामाजिक दशा के अध्ययन के लिए रजि और उसके सौ पुत्रो का वृत्तान्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य पुराणो से हरिवंश का रजि का वृत्तान्त सबसे अधिक प्राचीन ज्ञात होता है। रजि के पराक्रम से प्रसन्न इन्द्र ने उसे इन्द्रपद दिया। किन्तु रजि के पुत्रो के इन्द्रपद प्राप्त करने पर इन्द्र को राज्यच्युत होने का भय हुआ। इसलिए बृहस्पति ने रजि के पुत्रो को भ्रष्ट करने के लिए 'वादशास्त्र' की शिक्षा दी, जिससे वे धर्ममार्ग से च्युत होकर राज्य से हाथ धो बैठे।[५]

रजि का यही वृत्तान्त मत्स्य० में भिन्न रूप में मिलता है। यहाँ पर 'वाद शास्त्र' के स्थान पर 'जिनशास्त्र' का उल्लेख है।[६] जिनशास्त्र के द्वारा मत्स्य० के सकलन

१. K.P.J." : His Ind p.46—Alberuni—"The here-mentioned 'Saka tyrannised over the country between the river Sindhu—the Ocean, after he had made Aryāvarta in the midst of his realm his dwelling place. He interdicted the Hindus from considering and representing themselves as anything but "Sakas".

२. महा० ३. १८८, १९०

३. ब्रह्माण्ड अनु० ३१. ६५—कापायिणोऽय निर्ग्रन्था तथा कापालिकाश्च ह।
वेदविक्रयिणश्चान्ये तीर्थं विक्रयिणोऽपरे॥

४. ब्रह्माण्ड अनु० ३१. ६५. ६६   ५. हरि० १. २८. ३०–३१

६. मत्स्य० २४–४७

काल में जैनधर्म के प्रचार की प्रवृत्ति मिलती है। भ्रष्ट करने वाले शास्त्र के रूप में जैन धर्म का उल्लेख इस धर्म की ह्रासोन्मुख अवस्था का प्रतीक है।

विष्णु० में रजि के वृत्तान्त के अन्तर्गत वादशास्त्र अथवा जिनशास्त्र का उल्लेख न होकर 'मायामोह' की कल्पना हुई है। विष्णु के द्वारा निर्मित मायामोह रजि के पुत्रो को भ्रम में डालकर उनके पतन का कारण होता है।[1] विष्णु० का मायामोह मत्स्य० के जिनधर्म से प्राचीन है। ज्ञात होता है, विष्णु० के संकलन काल तक रजि के पुत्रो के वृत्तान्त में जिनधर्म के उल्लेख की परम्परा न चली होगी।'

देवी भागवत में रजि का वृत्तान्त असुर और देवताओ के वैमनस्य की नवीन घटना में परिवर्तित हो गया है। देवता और असुरो के युद्ध में असुरो को हारता देख कर शुक्र तप के लिये गये। इसी समय अवसर पाकर शुक्र वेषधारी बृहस्पति ने जिन-धर्म सिखाकर दैत्यों को धर्ममार्ग से च्युत कर दिया।[2] देवी भागवत के इस प्रसग में जिनधर्म का ही स्पष्ट उल्लेख नही है, वरन् जैनधर्म के अनुयायियो की वेशभूषा और स्वभाव पर व्यग्यात्मक प्रकाश डाला गया है। देवी भागवत का यह प्रसंग पर्याप्त रूप से अर्वाचीन ज्ञात होता है।

पद्म० सृष्टि में 'महामोह' का वृत्तान्त देवी भागवत के जिन धर्म वाले वृत्तान्त से बहुत कुछ समानता रखता है। देवी भागवत की भाँति पद्म० में भी बृहस्पति शुक्राचार्य के वेष में दैत्यो को जिनधर्म सिखाकर धर्म के मार्ग से विचलित कर देते है। विष्णु के द्वारा निर्मित महामोह और जैनी साधु के रूप में उसके वर्णन का इस पुराण में नवीन समावेश हुआ है। जैनरूपधारी यह महामोह दैत्यो को जैनधर्म के सिद्धान्त सिखाता है और अर्हत् को मुक्ति का मार्ग बतलाता है।[3] महामोह का यह वृत्तान्त पद्म० में अन्य पुराणो के अन्तर्गत इसी वृत्तान्त के सबसे अधिक विकसित और परिवर्धित रूप को प्रस्तुत करता है। अत पद्म० का यह प्रसंग अन्य सब पुराणो के इसी वृत्तान्त से अर्वाचीन है।

हरिवश के रजि के वृत्तान्त में 'जिनधर्म' अथवा 'मायामोह' की सज्ञा का अभाव हरिवश को इन अनेक पुराणो की परम्परा से भिन्न कर देता है। हरिवश के रजि के वृत्तान्त में जैन अथवा बौद्ध मतो का प्रभाव नही दिखलाई देता।

१. विष्णु० ३. १७–१८
२. देवी भा० ४. १३. ५४–५५
३. पद्म० सृष्टि० १३

विद्वान् लोग सामाजिक दृष्टिकोण से पुराणो की उपादेयता को मानने में एकमत हैं। श्री बी० के० सरकार समाज से पुराणो के सम्बन्ध को सूचित करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पुराण विषय सामग्री में लगभग समान प्रतीत होने पर भी अपने काल की विभिन्न सामाजिक परम्पराओ से प्रभावित ज्ञात होता है। किसी विशिष्ट देवता के माहात्म्य का कथन इनका लक्ष्य ज्ञात होता है।[1]

विद्वानो के मत

पुराणो के सामाजिक ज्ञान के लिए लगभग इसी काल के अन्य प्रामाणिक ग्रन्थो का अध्ययन अपेक्षित है। बौद्ध साहित्य तत्कालीन सामाजिक स्थिति का बहुत कुछ यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। पुराणो में अनेक स्थलो पर वेदमूलक ब्राह्मण धर्म शिथिल हो गया है। जातको में वेदमूलक ब्राह्मणधर्म के प्रति विद्रोह की भावना दिखलाई देती है। चारो वर्णो में समानता का सन्देश देने वाले जातक वर्णाश्रम के कठोर नियमो की अवहेलना करते हुए दिखलाई देते हैं।[2]

फिक (Fick) ने बौद्धजातको के आधार पर निर्धारित किया है कि जातककाल में क्षत्रिय पुराणकालीन ब्राह्मणो का स्थान ग्रहण करते थे तथा ज्ञान के क्षेत्र में उनका एक-मात्र अधिकार था।[3] जातको में ब्राह्मण प्राय पुरोहित के रूप में दिखलाई देते हैं। किन्तु पुरोहित ब्राह्मण ही हो, यह आवश्यक नही है।

विविध प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध है कि हरिवंशकालीन समाज अन्य पुराणो के समाज से भिन्न प्रारम्भिक प्रवृत्ति का परिचय देता है। अन्य पुराणो में महत्त्व रखने

1 B K Sarkar · SBH Vol XXXII—The Positive Back ground of Hindu Sociology p 67—" There are various Purānas and though in main, they do not vary in the accounts of the past, they are characteristically different from one another. Each Purāna has its own herd and its own god to be worshipped by the masses and its main mode of religious practice to propagate

२ मधुरा सुत्त न० ८४; वासेत्थ सुत्त न० ३६ (सुत्त निपात) और न० ९८ (मज्झिम निकाय)

3 Fick : Social Organisation P. 82-96

वाला स्मृतिशास्त्र हरिवंश में नगण्य स्थान रखता है।[1] इससे हरिवंश के स्मृतिशास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था की पुष्टि होती है। हरिवंश में दशावतार के अन्तर्गत बुद्ध का नामोल्लेख नहीं है।[2] अतः यह पुराण बुद्ध को अवतार मानने वाली उत्तरकालीन पौराणिक परम्परा से अप्रभावित ज्ञात होता है। रजि का वृत्तान्त हरिवंश में जिन-धर्म[3] अथवा महामोह[4] का उल्लेख नहीं करता। यहाँ पर रजि के पुत्रों को पथभ्रष्ट करने के लिए वादशास्त्र का उल्लेख हुआ है।[5] अत. हरिवंश रजि के वृत्तान्त के अन्तर्गत जिनधर्म और महामोह के उल्लेख से पूर्ववर्ती पुराण ज्ञात होता है। हरिवंश में पुराणों के पंचलक्षणों का पालन इस पुराण के काल की प्रारम्भिकता का परिचय देता है।

हरिवंश प्रारम्भिक वैष्णव पुराण है। इस कारण जिन वैष्णव विचारधाराओं के दर्शन इस पुराण में होते हैं, वे धार्मिक विकास के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं। प्रारम्भिक वैष्णव पुराण होते हुए भी हरिवंश में उत्तरकालीन विष्णुभक्ति के बीज देखे जा सकते हैं। यहाँ पर विष्णु-कृष्ण को सांख्य पुरुष तथा वेदान्त के ब्रह्म से एकीभूत किया गया है।[6] इसके साथ ही कृष्ण को योगीश्वर कहा गया है। यहाँ पर हरिवंश, गीता, भागवत विष्णु, की धार्मिक विचारधाराओं से समानता रखता है। किन्तु गीता और भागवत में भक्ति को जो प्रश्रय मिला है, वह हरिवंश में अपने मूलरूप में है। भविष्यपर्व में घण्टाकर्ण का वृत्तान्त तथा शिव और कृष्ण का कैलास पर्वत पर परस्पर स्तवन क्रमशः शैव और वैष्णव मतों का परिचायक है।[7] भक्ति का यह प्रसंग भी उत्तरकालीन शैव और वैष्णव मतों से प्रभावित ज्ञात नहीं होता। अन्य पुराणों में प्रमुख स्थान ग्रहण करने वाले पांचरात्र का एक स्थल को छोड़कर[8] (जो बाद में जोड़ा गया ज्ञात होता है) हरिवंश में पूर्ण अभाव है।

हरिवंश के अन्तर्गत कुछ प्रमाण इस पुराण को सामाजिक प्रवृत्तियों से प्रभावित सूचित करते हैं। दीनारों का उल्लेख[9] इस पुराण को विदेशी दीनारों के पर्याप्त

१. हरि० २.७७–८१ २. हरि० १.४१
३. देवी० भा० ४.१२–१३–; मत्स्य० २४–४७
४. विष्णु ३.१७–१८; पद्म० सृष्टि० १३ ५. हरि० १.२८ ३०–३१
६. हरि० ३.६.–७२ ७. हरि० ३,८६–९०
८ हरि० २.१२१.१६ ९. हरि० २.५५.५०

प्रचलन-काल का निश्चित करता है। महाभारत के बारहवें और तेरहवें पर्वों में भी दीनारों का उल्लेख है।[1] द्वितीय शताब्दी से दसवी शताब्दी तक के भारतीय साहित्य मे दीनार शब्द बराबर उपस्थित दिखलाई देता है। किन्तु दीनार शब्द के आधार पर हरिवश के समाज का रूप निश्चित नही किया जा सकता। हरिवंश के एक भाग में 'दीनार' शब्द के उल्लेख मात्र से समस्त पुराण को दीनारों के प्रचार-काल का उत्तरवर्ती नही माना जा सकता।

1. Hopkins : GEL p. 387—for the Roman Denarins is known *to the Hariv. and the Hariv. is known to the first* part of the first book and to the last book; hence such parts of these books as recognise the Hariv. must be later than the introduction of Roman coins into the country (100-200 A. D.); *but though coins are mentioned over and over,* even in the 12th & 13th books, is the denarins alluded to.

छठा अध्याय

ललित कलाएं

पुराण भारतीय सस्कृति के प्रतीक हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से चली आने वाली पौराणिक सहिताओ में तत्कालीन सस्कृति के दर्शन होते है। सस्कृति की सीमा विस्तृत है। इसके अन्तर्गत मानव के बौद्धिक तथा कलात्मक विकास से सम्बद्ध सभी विषय आ जाते हैं। इस आधार पर सस्कृति के अन्तर्गत लगभग सभी पौराणिक विषयो का समावेश हो जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। पुराणो के सभी प्रसगो किसी न किसी रूप मे साहित्य, कला, दर्शन और विज्ञान से निकटतम का सम्बन्ध है। अत. पुराणो के समस्त वृत्तान्त भारतीय सस्कृति का प्रतिनिधित्व करते है।

व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध अनेक विषयो के अतिरिक्त तत्कालीन ललित कलाओं में सस्कृति का स्वरूप विशेषता के साथ मिलता है। इनमें जन-समाज की कलात्मक अभिरुचि सस्कृति का महत्वपूर्ण चित्र प्रस्तुत करती है।

पुराणो के सास्कृतिक महत्व की पुष्टि प्राचीन ग्रन्थो के पुराणविषयक कथनो से होती है। शतपथ ब्राह्मण में पुराणो की गणना वेदो में की गयी है।[1] छान्दोग्य० में इतिहास तथा पुराण को पचम वेद कहा गया है।[2] इतिहास पुराण के अन्तर्गत महाभारत का भी अन्तर्भाव हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद में वेद, अन्य समस्त ग्रन्थ तथा पुराणो को महाभूत के निश्वास से उत्पन्न माना गया है।[3] भागवत छान्दोग्य० का अनुसरण करके इतिहास पुराण को पचम वेद मानता है।[4] प्राचीन ग्रन्थो में पुराणो के गौरवपूर्ण स्थान से इनके सास्कृतिक महत्व का परिचय मिलता है।

भागवत में स्त्री और शूद्र को वेद का अनधिकारी बताकर उनके हित के लिए पुराणो में वेद के प्रतिनिधित्व की स्थापना की गयी है।[5] यह पुराण सम्भवत साधारण

१. शतपथ ब्रा० १३. ४. ३. १३, १४. ६. १०. ६

२. छान्दोग्य० ७. १. २ ३. बृहदारण्यक० २. ४. १०

४. भागवत १. ४ २०—इतिहासपुराणं च पचमो वेद उच्यते।

५. भागवत १. ४. २५—स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ॥

जनता के ज्ञानोपदेश के निमित्त जनसमूह में पढ़े जाते थे। बाण के हर्षचरित से पुराणों के इस प्रचार का ज्ञान होता है।[1] उत्तरकालीन पुराणों में इतिहास, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, वास्तुशास्त्र तथा अन्य विविध विषयों की उपस्थिति इन पुराणों का व्यावहारिक महत्व सूचित करती है।

पुराणों के विभिन्न विषयों की भाँति ललित कलाएँ समस्त पुराणों में लगभग समानता रखती हैं। किन्तु विभिन्न पौराणिक परम्पराओं में उनकी कलात्मक पृष्ठ-भूमि के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक पुराण अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

हरिवंश में नृत्य, संगीत तथा नाटक

हरिवंश में कृष्णचरित्र की विशेषता पर कहा जा चुका है। कृष्णचरित्र की अन्य पुराणो से भिन्नता पाठ की मौलिकता के अतिरिक्त हरिवंश की सस्कृतिविशेष की भी परिचायक है। हरिवंश-कालीन संस्कृति के परिणामस्वरूप कृष्णचरित्र के अन्तर्गत कुछ मौलिक प्रसंग ध्यान देने योग्य है। कृष्ण-कथा में रास का प्रसंग इनमें प्रमुख है। रास सभी पुराणों के कृष्ण-चरित्र में महत्त्वपूर्ण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। हरिवंश में भी रास एक महत्वपूर्ण विषय है।

हल्लीसक

हरिवंश में रास के लिए 'हल्लीसक' शब्द का प्रयोग हुआ है। नीलकण्ठ ने टीका में हल्लीसक का अर्थ रास बतलाया है।[2] रास के लिए हल्लीसक शब्द का प्रयोग हरिवंश के अतिरिक्त अन्य किसी भी पुराण में नहीं हुआ है। यह नृत्य दो दो गोपिकाओं के द्वारा मण्डल बनाकर कृष्णचरित्र के गान साथ होता है।[3] कृष्ण गोपिकाओ के मण्डल के बीच में शोभित होते है।[4] वैष्णव पुराणों के रास का विस्तृत आध्यात्मिक रूप हरिवंश में संक्षिप्त अवस्था में है।

1. JUB. 1942. vol. XI, New Series, Pt. 2 P. 141.
२. हरि० २.२०.३६. नीलकण्ठ—हल्लीसक्रीडनं एकस्य पुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीडा।
३. हरि० २.२०.२५—तास्तु पंक्तीकृताः सर्वा रमयन्ति मनोरमम्।
गायन्त्यः कृष्णचरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः॥
४. हरि० २.२०.३५—एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृतः।
शारदीषु सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी॥

हरिवंश का हल्लीसक वैष्णव पुराणों के रास का प्रारम्भिक रूप ज्ञात होता है। रासनृत्य के समय प्रकृति के दृश्यों का चित्रण इन वैष्णव पुराणों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। शारदी ज्योत्स्ना, यमुनातट, कुंज प्रदेश तथा शीतल मन्द पवन रास में सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।[1] कृष्ण तथा गोपिकाओं के वस्त्राभूषणों की दीप्ति तथा आभूषणों के टकराने से उत्पन्न स्वर इस रास को प्रारम्भिक वैष्णव पुराणों के रास से अलग कर देते हैं।[2] वैष्णव पुराण रास के इन स्वरूपों को प्रस्तुत करने में विष्णुभक्ति की तत्कालीन विशेषताओं को प्रस्तुत करते हैं। रास के इन स्थलों में कृष्ण तथा गोपिकाओं की प्रत्येक अवस्था के वर्णन की सूक्ष्मता ध्यान देने योग्य होती है। हरिवंश के हल्लीसक में प्रकृति-चित्रण तथा गोपिकाओं का व्यक्तिगत सूक्ष्म चित्रण अनुपस्थित है।

छालिक्य-गान्धर्व

हरिवंश के कृष्णचरित्र में छालिक्य गान्धर्व नामक वाद्यमिश्रित संगीत एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। जलक्रीडा के बाद कृष्ण, सत्यभामा, नारद और अर्जुन के साथ अप्सराओं के सम्मिलित वाद्य और संगीत का वर्णन है।[3] यह वाद्यमिश्रित संगीत अन्य सभी वैष्णव पुराणों के कृष्णचरित्र में अनुपस्थित है। छालिक्यगान्धर्व की व्युत्पत्ति प्रामाणिक स्रोतों के अभाव के कारण कुछ कठिन है। लक्षणग्रन्थ भी छालिक्य के विषय में मौन हैं।

छालिक्यगान्धर्व नाट्यशास्त्र में आश्चर्यजनक रूप से अनुपस्थित है। इसके विपरीत कृष्ण तथा गोपिकाओं के हल्लीसक का उल्लेख तथा व्युत्पत्ति लक्षणग्रन्थों में है।[4] श्री फरकुहार भास के नाटक "बालचरित" में 'हल्लीस' की उपस्थिति की सूचना देते हैं। भास के काल को फरकुहार तृतीय शताब्दी मानते हैं।[5] (Keith)

१. भाग० १०. २९. १–४, ४४–४६; ३२. ११–१२
२. भाग० १०. ३३ ६–२५.
३. हरि० २. ८९. ६६–८३
४. रामचन्द्र गुणचन्द्रः नाट्य दर्पण, भाग० १ पृ० २१४
5. Farquhar : Rel. Lit Ind. p. 144—The dramatist Bhāsa, who dates from the 3rd cen. A. D. has a play called "Bāla-charita" which has the story of Krishna's youth. In it the Hallisa sport is merely an innocent dance.

"बालचरित' में कृष्ण के हल्लीस को हरिवंश तथा विष्णु की भांति अश्लीलता रहित तथा सरल मानते हैं[1]। किन्तु छालिक्य की उत्पत्ति तथा विकास को निश्चित करने के लिए इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं है।

हरिवंश में छालिक्य की अनेक विशेषताएँ वर्णित हैं। यह वाद्यमिश्रित संगीत सभी वैष्णव पुराणों में आश्चर्यजनक रूप से अनुपस्थित है। इस संगीत का उल्लेख किसी लक्षण-ग्रन्थ में भी नहीं है। हरिवंश के समकालीन तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों में इस संगीत के अभाव के कारण हरिवंश में इसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। छालिक्य में संगीत के लगभग सभी विकसित तत्त्व मिलते हैं। इसके साथ बजाये जाने वाले वाद्य तथा उनके साथ अभिनय से युक्त संगीत एक अद्भुत सामंजस्य उत्पन्न करता है।[2] इस दृष्टिकोण से छालिक्य कला के उत्कृष्ट रूप का परिचायक है। छालिक्य के जन्मदाता स्वयं कृष्ण कहे गये हैं तथा द्वारका सर्वप्रथम इस कला के प्रचार का क्षेत्र बतलायी गयी है।[3] छालिक्य पर हरिवंश के अन्तर्गत मिलने वाली सामग्री इस संगीत के स्वरूप का पर्याप्त परिचय दे देती है। किन्तु छालिक्य के विषय प्रामाणिक बनाने के लिए अन्य ग्रन्थों से किसी प्रकार की सहायता नहीं ली जा सकती।

हरिवंश में छालिक्य के प्रसंग के अन्तर्गत कृष्ण तथा प्रद्युम्न के संगठित प्रयत्न से इस 'गान्धर्व' के भूलोक में प्रचार का उल्लेख है। इस संगीत को परम मंगलमय तथा आयुवर्द्धक कहा गया है।[4] ज्ञात होता है, कुछ काल तक अवश्य इस संगीत का

1. A B Keith · San, Drama, p 99
२. हरि० २ ८९. ६८–७३
३. हरि० २. ८९. ८३–८४–छालिक्यगान्धर्व-गुणोदयेषु,

ये देवगन्धर्वमहर्षिसघा ।
निष्ठा प्रयान्तीत्यवगच्छ बुद्ध्या,
छालिक्यमेव मधुसूदनेन ॥
अमोतमानां नरदेव दत्त,
लोकस्य चानुग्रहकाम्ययैव ।
गत प्रतिष्ठाममरोपगेय,
बाला युवानश्च तथैव वृद्धा ॥

४. हरि० २. ८९. ७४, ७६–७७, ८३–८५

छलिक नाट्य के इस चित्रण के द्वारा इस नृत्य के भाव, अभिनय, संगीत तथा नृत्यमिश्रित स्वरूप का परिचय मिलता है।

मालविकाग्निमित्र में वर्णित छलिक नाट्य हरिवंश के छालिक्य गान्धर्व से पूर्णत भिन्न ज्ञात होता है। मालविकाग्निमित्र का यह नाट्य एक अभिनयप्रधान नृत्य है। किन्तु हरिवंश का छालिक्य अनेक वाद्यो के साथ गाया जानेवाला संगीत है। छलिक नाट्य तथा छालिक्य गान्धर्व के उदगम के स्रोत भी भिन्न हैं। छलिक नाट्य का निर्माण शर्मिष्ठा के द्वारा हुआ है। छालिक्य गान्धर्व के प्रचारक कृष्ण हैं।

छालिक्य गान्धर्व कृष्णचरित्र से सम्बद्ध होने के कारण रास की भाँति गौरवयुक्त स्थान ग्रहण करता है। कृष्ण के जीवन से सम्बन्ध रखने के अतिरिक्त संगीत का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करने पर भी यह भारतीय संगीत परम्परा से लुप्त हो गया है। भारतीय साहित्यिक तथा धार्मिक परम्पराओ से लुप्त हो जाने पर भी इस संगीत को सुरक्षित रूप में रखने के कारण संगीत और नृत्य कला की दृष्टि से हरिवंश एक उत्कृष्ट पुराण है।

हरिवंश के नाटक

हरिवंश में कृष्ण के अश्वमेध यज्ञ के प्रसग में 'नट' की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ भद्र नामक नट की निपुणता से प्रभावित ऋषि उसे कोई वर माँगने की अनुमति देते हैं। भद्र नट समस्त पृथ्वी में अप्रतिहत रूप से विचरण करने तथा अवध्य होने का वर माँगता है।[1] ऋषियो के वरदान से निर्भय इस नट को समस्त पृथ्वी में भ्रमण करते हुए कहा गया है।[2] हरिवंश में वर्णित नट की उत्पत्ति का यह प्रसग भारतीय नाट्यकला के उदगम पर प्रकाश डालता है।

नाट्यशास्त्र में नाटक की उत्पत्ति के सबध में कुछ सामग्री मिलती है, किन्तु नट के आदि रूप के विषय में कोई सूचना नही मिलती। नाट्यशास्त्र में नाटक का प्रारम्भ मधुकैटभ-वध के पूर्व विष्णु के वस्त्राभूषणो से भूषित तथा विलासमय

शास्त्रयोनिर्मुदुरभिनयस्तद्वियत्नानुयुक्तो,
भावो भाव नुदति विषयाद्रागबन्ध स एव ॥

1. हरि० २ ९१ २६-२७, २९-३२ २६—तत्र यज्ञे वर्तमाने सुनाट्येन नटस्तदा ।
महर्षीन् तोषयामास भद्रनामेति नामत ॥

2. हरि० २ ९१ ३३-३५

चेष्टाओं से युक्त स्वरूप से हुआ है। सम्भवत विष्णु के इस रूप में भारतीय नाट्यकला के पवित्र उद्गम की ओर संकेत किया गया है। किन्तु मानव-नट की उत्पत्ति का विषय नाट्यशास्त्र में अनुपस्थित है।

हरिवंश में नट की उत्पत्ति के प्रसग में 'सुनाट्येन' शब्द विचारणीय है। नीलकण्ठ ने 'नाट्येन' का अर्थ 'नृत्येन' दिया है।[1] भद्र नट ने जिस 'नाट्य' के द्वारा ऋषियों के मन को आकृष्ट किया, वह नाटक नही कहा जा सकता। कारण यह है कि नट की उत्पत्ति के साथ सभी विशेषताओं से पूर्ण नाटक की उत्पत्ति असम्भव प्रतीत होती है। 'नाट्य' शब्द के स्पष्ट प्रयोग के कारण यह शुद्ध नृत्य भी नही ज्ञात होता। सम्भवत भद्र नट का यह नाट्य अभिनयमिश्रित नृत्य है। पाश्चात्य लेखकों ने अभिनयमिश्रित इस नृत्य को विकसित नाटक का पूर्ववर्ती रूप कहकर इसको मूकाभिनय (Pantomime) कहा है। हरिवंश में वर्णित यह नाट्य अवश्य ही मूकाभिनय है।

हास्य विनोदपूर्ण अभिनय का उत्कृष्ट उदाहरण बाणासुर के आख्यान में मिलता है। यहाँ शिव, पार्वती, शिव के गण, अप्सराओ तथा उषा को क्रीडाओं में तत्पर चित्रित किया गया है। चित्रलेखा नामक अप्सरा पार्वती का वेष धारण कर शिव को मनाने का प्रहसन करती है। चित्रलेखा का अभिनय पार्वती तथा सभी अप्सराओं के लिए हास्य का परम कारण बन जाता है। चित्रलेखा के अनुकरण-स्वरूप अप्सराएँ पार्वती का वेष रख लेती है। पार्वती का वेष बनानेवाली अप्सराओ का भ्रम में डालने के लिए शिव के गण शिव का रूप धारण करते है। स्वय शिव तथा पार्वती अप्सराओ तथा गणो के अभिनय-चातुर्य पर विस्मित हो जाते है। बाणासुर के वृत्तान्त में यह प्रहसन भी मूकाभिनय का एक रूप ज्ञात होता है।

हरिवंश में कृष्ण तथा यादवो की छालिक्य-क्रीडा के अन्तर्गत नारद का विविध हाव-भावो के साथ हास्यपूर्ण अभिनय भी विकसित नाटक का पूर्ववर्त्ती रूप ज्ञात होता है।[1]

प्रद्युम्न, साम्ब तथा गद का कुछ यादवो के साथ वज्रपुर जाने का प्रसग दो महत्त्व-पूर्ण नाटको को प्रस्तुत करता है। अभिनेताओ का यह समूह वज्रपुर में नाटक प्रदर्शन के लिए प्रस्थित होता है। नट सर्वप्रथम नृत्य के द्वारा वज्रपुरवासियो के चित्त को अभिभूत करता है।[2] नट के नृत्य के बाद प्रद्युम्न आदि अभिनेताओ द्वारा रामायण के अभिनय का प्रसग है।[3]

नटवेषधारी प्रद्युम्न आदि यादव तथा भद्र नट के द्वितीय नाटक का अभिनय वज्रपुर के 'कालोत्सव' नामक उत्सव में होता है। यह नाटक वज्रपुर के राजा वज्रनाभ की अनुमति से किया जाता है। इस नाटक को 'रम्भाभिसार कौबेर' कहा गया है। रम्भाभिसार कौबेर नाटक में नलकूबर का अभिनय प्रद्युम्न, विदूषक का साम्ब, रावण का शूर तथा रम्भा का मनोवती नामक वारवनिता करती है।[4] इस नाटक के माध्यम से तथा यादवो के द्वारा वज्रपुरवासियो को अत्यन्त सन्तुष्ट करने का वर्णन है।[5]

रामायण के नाटक को यहाँ पर 'उद्देश्य' तथा 'रम्भाभिसार कौबेर' को 'प्रकरण' कहा गया है। उद्देश्य नामक नाटक पर कोई भी लक्षणग्रन्थ प्रकाश नही डालते। लक्षणग्रन्थो में 'प्रकरण' को दस अको वाला नाटक कहा गया है।[6]

हरिवंश में कौबेर रम्भाभिसार प्रकरण का उल्लेख एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस नाटक के पूर्व घन, सुषिर, मुरज, आनक तथा तन्त्री सदृश वाद्यो के सामजस्यपूर्ण वादन का उल्लेख है।[7] वाद्य के बाद द्वारका की वारागनाओ के द्वारा छालिक्य के गान का वर्णन है। इस सगीतक में वारागनाओ द्वारा गगावतरण का गान गान्धार ग्राम के साथ लय तथा ताल में होता है।[8] सगीतक के बाद प्रद्युम्न, गद तथा साम्ब द्वारा नान्दी गाये जाने का वर्णन है।[9] नान्दी को नान्दीवादन कहा गया है। नीलकण्ठ

१. हरि० २.८९.२३-२९ २. हरि० २.९३.५
३ हरि० २.९३.६; ४. हरि० २.९३.२८-२९; ५ हरि० २.९३.३१-३२
६. साहित्यदर्पण पृ० ५०३—अकैरत्र दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे।
७. हरि० २.९३.२२ ८. हरि० २.९३.२३-२४
९. हरि० २.९३.२५

ने नान्दीवादन की क्रिया का स्पष्ट वर्णन किया है। नान्दी नामक वाद्य के साथ गाये जाने वाले चरणों को 'नान्दी' कहा गया है।[1]

'रम्भाभिसार कौबेर' में नान्दी के बाद गंगावतरण पर आश्रित एक श्लोक के गान का वर्णन है। अभिनय के साथ प्रद्युम्न इस श्लोक का पाठ करते हैं।[2] गंगावतरण के पाठ के बाद नाटक का प्रारम्भ होता है। इस प्रकरण के पूर्व के आयोजनों में विशदता दिखलाई देती है। इस प्रसंग में वर्णित नाटक के पूर्व संगीतक और छालिक्य सम्भवतः पूर्वरंग के भाग ज्ञात होते हैं।

हरिवंश में "रम्भाभिसार कौबेर" को नाट्यकला के विकास की दृष्टि से एक पूर्ण नाटक स्वीकार करना पड़ता है। इस नाटक के प्रयोग के लिए 'नाटक ननृतुः' शब्द इसे अन्य नाटकों से भिन्न सूचित करते हैं। "कौबेर रम्भाभिसार" के पूर्व 'रामायण' के अभिनय के लिए 'नाटकीकृतम्' क्रिया का प्रयोग 'ननृतु' और 'नाटकीकृतम्' के भेद को अधिक स्पष्ट कर देता है। रम्भाभिसार नाटक के अन्त में इस नाटक के पात्रों के 'पादोद्धार' 'अभिनय' तथा नृत्य से दानवों के सन्तुष्ट होने का वर्णन है।[3] ज्ञात होता है, यह नाटक केवल अभिनय-प्रधान नाटक न होकर नृत्य तथा अभिनय-मिश्रित नाटक है।

रम्भाभिसार नाटक के पूर्व होने वाली अनेक क्रियाएँ नाटक के प्रारम्भ होने की सूचना देने के कारण इस नाटक के पूर्वरंग के अन्तर्गत ज्ञात होती हैं। हरिवंश के इस नाटक का पूर्वरंग नाट्यशास्त्र में वर्णित नाटक के पूर्वरंग से बहुत सामंजस्य रखता है।

नाट्यशास्त्र में पूर्वरंग वह सर्वप्रथम भाग रंगमंच में प्रस्तुत किया जाने वाला

१. हरि० २.९३.२६—टीका—नान्दि नन्दिघेन्द्यरमुरं घर्मघोशमयं वाद्यविशेषम्। द्वादशपदट्शब्दो नान्दीरित्यन्ये। नान्दीमिति पाठे नान्दीं देवद्विजादीनां शुभशंसिनीं अष्टभिर्दशभिर्वा अवान्तरवाक्ययुक्तां पूर्वरंग-प्रधानां वाक्यावलिं वादयामास।

२. हरि० २.९३.२७

३. हरि० २.९३.२८—नाटकं ननृतुस्तत, २.९३.२१—एतत्प्रकरणं वीरा ननृतुर्यदुनन्दनाः।

४. हरि० २.९३.३२—पादोद्धारेण नृत्येन तथैवाभिनयेन च।
तुष्टपूर्वानथा वीरा भैमानामतितेजसाम्॥

हरिवंश में कृष्ण तथा यादवों की छालिक्य-क्रीडा के अन्तर्गत नारद का विविध हाव-भावों के साथ हास्यपूर्ण अभिनय भी विकसित नाटक का पूर्ववर्ती रूप ज्ञात होता है।[1]

प्रद्युम्न, साम्ब तथा गद का कुछ यादवों के साथ वज्रपुर जाने का प्रसंग दो महत्त्व-पूर्ण नाटकों को प्रस्तुत करता है। अभिनेताओं का यह समूह वज्रपुर में नाटक प्रदर्शन के लिए प्रस्थित होता है। नट सर्वप्रथम नृत्य के द्वारा वज्रपुरवासियों के चित्त को अभिभूत करता है।[2] नट के नृत्य के बाद प्रद्युम्न आदि अभिनेताओं द्वारा रामायण के अभिनय का प्रसंग है।[3]

नटवेषधारी प्रद्युम्न आदि यादव तथा भद्र नट के द्वितीय नाटक का अभिनय वज्रपुर के 'कालोत्सव' नामक उत्सव में होता है। यह नाटक वज्रपुर के राजा वज्रनाम की अनुमति से किया जाता है। इस नाटक को 'रम्भाभिसार कौबेर' कहा गया है। रम्भाभिसार कौबेर नाटक में नलकूबर का अभिनय प्रद्युम्न, विदूषक का साम्ब, रावण का शूर तथा रम्भा का मनोवती नामक वारवनिता करती है।[4] इस नाटक के माध्यम से तथा यादवों के द्वारा वज्रपुरवासियों को अत्यन्त सन्तुष्ट करने का वर्णन है।[5]

रामायण के नाटक को यहाँ पर 'उद्देश्य' तथा 'रम्भाभिसार कौबेर' को 'प्रकरण' कहा गया है। उद्देश्य नामक नाटक पर कोई भी लक्षणग्रन्थ प्रकाश नहीं डालते। लक्षणग्रन्थों में 'प्रकरण' को दस अंकों वाला नाटक कहा गया है।[6]

हरिवंश में कौबेर रम्भाभिसार प्रकरण का उल्लेख एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस नाटक के पूर्व घन, सुषिर, मुरज, आनक तथा तन्त्री सदृश वाद्यों के सामंजस्यपूर्ण वादन का उल्लेख है।[7] वाद्य के बाद द्वारका की वारांगनाओं के द्वारा छालिक्य के गान का वर्णन है। इस संगीतक में वारांगनाओं द्वारा गंगावतरण का गान गान्धार ग्राम के साथ लय तथा ताल में होता है।[8] संगीतक के बाद प्रद्युम्न, गद तथा साम्ब द्वारा नान्दी गाये जाने का वर्णन है।[9] नान्दी को नान्दीवादन कहा गया है। नीलकण्ठ

१. हरि० २.८९.२३–२९ २. हरि० २.९३.५
३. हरि० २.९३.६; ४. हरि० २.९३.२८–२९; ५. हरि० २.९३.३१–३२
६. साहित्यदर्पण पृ० ५०३—अंकैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे।
७. हरि० २.९३.२२ हरि० २.९३.२३–२४
९. हरि० २.९३.२५

सम्मिलित वाद्य 'कुतप' है।[1] नाट्यशास्त्र के अन्य स्थल में इसे 'मार्गासारित' भी कहा गया है। मार्गासारित आसारित के पूर्व गाया जाता है।[2] कुतप के बाद किसी भावपूर्ण संगीत के गाये जाने का उल्लेख है।[3] नर्तकी को रंगमंच में आकर इस संगीत के आधार पर अभिनय करते हुए कहा गया है। अभिनय के द्वारा श्लोक के अर्थ आंगिक हाव भावों के द्वारा व्यक्त होते हैं।[4] अभिनय के बाद नर्तकी पूर्वकथित संगीत की कथावस्तु के आधार पर नृत्य करती है।[5] संगीत, अभिनय तथा नृत्य की इस क्रिया को नाट्यशास्त्र में 'आसारित' कहा गया है।[6]

नाट्यशास्त्र के पाँचवें अध्याय में 'आसारित' नाटक के पूर्व-रंग के नौ अंगों में अन्तिम अंग माना गया है। नाट्यशास्त्र के अनुवादक श्री घोष के अनुसार पूर्वरंग के ये नौ अंग नाटक के पूर्व दर्शकों के मनोरंजन के लिए पर्दे के अन्दर ही सम्पन्न किये जाते थे।[7] ये नौ अंग इस प्रकार हैं–प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित और आसारित। प्रत्याहार का अर्थ रंगमंच में वाद्य यन्त्रों को उचित स्थान में रखना है। अवतरण में नाटकीय पात्रों का रंगमंच पर आना बतलाया गया है। आरम्भ का अर्थ गीत का प्रारम्भ करना है। आश्रावणा में वाद्यों को संगीत के अनुरूप मिलाने का प्रयत्न होता है। वाद्यों की भिन्न-भिन्न शैलियों का अभ्यास वक्त्रपाणि कहा जाता है। परिघट्टना में वाद्यों के तार मिलाये जाते हैं। ताल को बताने के लिए मुद्राओं के प्रयोग का अभ्यास संघोटना है। वाद्यों के सम्मिलित वादन को मार्गासारित कहते हैं। आसारित पूर्वोक्त आसारित से समानता रखता है।[8]

हरिवंश में रम्भाभिसार नाटक का पूर्वरंग नाट्यशास्त्र के नौ अंगों वाले इस पूर्वरंग से बहुत समानता रखता है। हरिवंश के इस नाटक के पूर्व विविध वाद्ययन्त्रों का वादन, छालिक्य, लयताल के साथ गंगावतरण का गान, आसारित और नान्दी

१. नाट्य० ५.२४५ २. नाट्य० ५.२०
३. नाट्य० ४.२७७ ४. नाट्य० ४.२७९
५. नाट्य० ४.२८२ ६. नाट्य० ४.२७५–२८८
7. Natya. p. 77—From this statement it appears that the first 9 items of the preliminaries were performed on the stage covered with a front curtain.
८. नाट्य० ५.१७–२६

तथा नट से भिन्न केवल नर्तक तथा नृत्य का अर्थ व्यक्त करते हैं। इसका कारण नाट्य से पूर्व नृत्य तथा मुग्धाभिनय की उपस्थिति है। हॉपकिन्स महाभारत में नाटक से भिन्न नट शब्द के प्रयोग का कारण महाभारत की प्राचीनता मानते हैं। महाभारत के प्रारम्भिक पर्वों में नाटक की पूर्वकालीन अवस्था के प्रदर्शन के लिए उन्होंने सैरन्ध्री की शैलूषी से समानता सूचित करने वाले श्लोक की ओर संकेत किया है। हॉपकिन्स के अनुसार शैलूषी उत्तरकालीन नाटकों की नटी नहीं है। सैरन्ध्री के रुदन में शैलूषी के रुदन से की गयी समानता शैलूषी के मुग्धाभिनय की वाचक है। हॉपकिन्स महाभारत में नाटक के विकसित रूप की उपस्थिति केवल सभापर्व में बतलाते हैं।[1] इसके विपरीत हरिवंश के नाटकों को वे विकसित नाटकों के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] हॉपकिन्स के अनुसार नाटक को पूर्ण विकसित रूप में प्रस्तुत करने के कारण हरिवंश महाभारत से उत्तरकालीन है।

श्री फिक जातकों के अध्ययन के आधार पर हिलेब्राण्ड तथा हापकिन्स के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उनके अनुसार जातकों में नट तथा नाटक का उल्लेख मुग्धाभिनय के अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। पूर्ण विकसित नाटक के रूप में 'नट' तथा 'नाटक' शब्दों का प्रयोग जातकों में कहीं भी नहीं हुआ है।[3] फिक ने जातकों का काल ईसवी पूर्व तृतीय शताब्दी अथवा उससे भी पूर्व निश्चित किया है। उनके अनुसार कुछ जातक बुद्धकाल से भी पूर्व के हैं।[4]

1. Hopkins . GEI p 55—"अवालजातिं सैरन्ध्रि शैलूषीव विरोदिषि" From the expression "thou weepest like an actress" one might conclude that we have here a reference to real drama But pantomime expresses weeping, and no mention of real drama occurs in the epic except in the passage II 11 36, where drama is personified
2. Hopkins GEI p 55—In the Harivansa on the other hand, which dates from a time posterior to our era, we find not only pantomime, Abhinaya, but even the dramatic representation of the 'Great Rāmāyana poem'.
3. Fick Social Org p 188
4. Fick . Social Org p 9-10 (Preface)

कला के विकास में ऐतिहासिक महत्व रखता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में सम्भवत: नाटक से सम्बद्ध नटसूत्र मिलते हैं।[1] अष्टाध्यायी के एक सूत्र में नट का नृत्य से सम्बन्ध दिखलाया गया है। नट शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा प्रारम्भ में नट पर नृत्य तथा अभिनय दोनों के दायित्व का ज्ञान होता है। मैक्डोनेल के अनुसार नाटक शब्द प्राकृत के नट से बना है। नट संस्कृत के 'नृत्' धातु का विकृत रूप है।[2] नट और नाटक का सम्भवत: प्रारम्भिक काल में नाटक के अन्तर्गत नृत्य तथा अभिनय के सम्मिलित प्रयोग का सूचक है।

हरिवंश के नाटक तथा पाश्चात्य मत

भारतीय नाटकों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के विचार हरिवंश के नाटकों के अध्ययन के लिए उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार भारतीय नाटक के पूर्व मूकाभिनय (Pantomime) सुदीर्घ काल तक प्रचलित रहा था। हिलेब्राण्ड ने अपने लेख में इसी मत का समर्थन किया है। भारतीय नाटक का प्रारम्भ पाणिनि के काल से बताकर उन्होंने अष्टाध्यायी में उल्लिखित नटसूत्र की ओर संकेत किया है।[3] उनके अनुसार रामायण तथा महाभारत में नट तथा नाटक शब्द इनके वर्तमान अर्थ से भिन्न केवल मूकाभिनय अर्थ रखते हैं।[4] अत: हिलेब्राण्ड भारतीय नाटक से पूर्व मूकाभिनय की उपस्थिति अवश्यम्भावी मानते हैं।

हॉपकिन्स भारतीय नाटक के प्रारम्भ के विषय में हिलेब्राण्ड के मत से समानता प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार महाभारत में नाटक तथा नट शब्द वर्तमान नाटक

१. अष्टाध्यायी ४. ३. ११०, १११;
2. Macdonell His San Lit p 246—The words for actor (Nata) and play (Nātaka) are derived from the verb Nata, the Prākrit or Vernacular form of Sanskrit Nrt to dance
3. A B Keith JRAS 1916 p 146-147 Pāninis Natasūtra (IV 3 110-111) *remains of doubtful sense*, So long as we cannot prove that Nata here must refer to real acting—A priori dance and pantomime may be older than a real drama
4. JRAS 1916 p 147—The great epic does not know Nātakas. The Rāmāyana mentions (II 67 15) Natas and Nātakas but with no suggestion more than pantomime

प्राचीन भारतीय नाटक ऐतिहासिक महापुरुषों के स्थान पर प्रायः पौराणिक व्यक्ति या को प्रधानता देते हैं। पतंजलि के द्वारा उल्लिखित 'बलिबन्ध' तथा 'कंसवध' नाटक द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में नाटकों के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। नाट्य-शास्त्र में 'लक्ष्मीस्वयंवर' तथा "पुरूरवस् और उर्वशी के चरित्र के अभिनय" का उल्लेख है'। इन नाटकों में नाटक का प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है। भरत और पतंजलि के काल में इन नाटकों की ख्याति अत्यन्त प्राचीन काल में इनके विकास की सूचना देती है।

पाश्चात्य विद्वानों के कथनों से ज्ञात होता है कि नाटकों का विकास केवल मूकाभिनय से हुआ था। भारतीय प्रारम्भिक नाटकों का अध्ययन करने पर इन विद्वानों का कथन उचित प्रतीत होता है।' हरिवंश के नाटक भारतीय नाट्यकला के विषय में भ्रमात्मक विचारों पर स्पष्ट प्रकाश डालते हैं। हरिवंश के अन्तर्गत जलक्रीडा के प्रसंग में नारद का हास्यपूर्ण अभिनय तथा उषा और अनिरुद्ध के वृत्तान्त में शिव के गण तथा अप्सराओं का अभिनय ये दोनों स्थल मूकाभिनयों को प्रस्तुत करते हैं। किन्तु प्रद्युम्न और साम्ब आदि के द्वारा अभिनीत 'रामायण' तथा "रम्भा-भिसार कौबेर' नाटकीय विकास की दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक हैं।

होल्टसमान नाटकों के पूर्ण विकसित रूप को महाभारत से उत्तरकालीन मानने में हिलेब्राण्ड और हॉपकिन्स के मत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार नाटयसाहित्य महाभारत से उत्तरकालीन है।[1] इन पाश्चात्य विद्वानों के मतों का अध्ययन करने के बाद ज्ञात होता है कि इन सभी ने विकसित नाटक के पूर्व केवल मुखाभिनय की उपस्थिति को एकमत होकर स्वीकार किया था। हरिवंश के नाटक में नृत्यपूर्ण अभिनय की प्रधानता पाश्चात्य लेखको के इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् भारतीय नाटक के विकास को कठपुतली के नृत्य से प्रारम्भ मानते हैं। पिश्चल इस मत का प्रवर्तन करने वालों में सर्वप्रथम हैं। इस मत को प्रमाणित करने के लिए पिश्चल ने महाभारत में प्रयुक्त 'सूत्रप्रोत' की ओर संकेत किया है।[2] सूत्रप्रोत से उनका अभिप्राय डोरे से बंधी पुतली से है। राजशेखर कृत "बालरामायण" में उन्होंने कठपुतली के इस नृत्य की उपस्थिति बतलायी है।[3] संस्कृत नाटक के सूत्रधार तथा स्थापक के द्वारा उन्होंने 'कठपुतली के सूत्र का धारण करने वाला' तथा 'मंच में पुतलियों को रखने वाला' अर्थ लिया है।[4] पिश्चल के मत को रिजवे ने अनुचित सिद्ध किया है।[5]

भारतीय नाटक को कठपुतलियों के नृत्य से पूर्व निश्चित करने के लिए श्री रिजवे ने देवालयों तथा राजमहलों में महापुरुषों के चरित्र के अनुकरण स्वरूप नाटकों के खेले जाने की ओर संकेत किया है।[6] भारतीय नाटकों की उत्पत्ति का कारण महापुरुषों का अनुकरण नहीं, किन्तु देवताओं के चरित्रों का अनुकरण है। इसी कारण

1. Hopkins : GE1 p. 65—The latter scholar (Holtzmann) says—"die ganze dramatische Literature ist spater als das Mahābhārata."
2. W. Ridgeway : The Dramas and Dramatic Dances p. 161 He is called sūtradhāra i. e. "Thread-holder" which corresponds to the epithet Sūtraprota applied to puppets in the Mbh—
3. W. Ridgeway : The Dramas and Dramatic Dances p. 161
4. „ „ „ „ p. 162
5. „ „ „ „ „ p. 166-168
6. „ „ „ „ „ p. 172-211

प्राचीन भारतीय नाटक ऐतिहासिक महापुरुषों के स्थान पर प्रायः पौराणिक व्यक्तियों को प्रधानता देते हैं। पतंजलि के द्वारा उल्लिखित 'बलिबन्ध' तथा 'कंसवध' नाटक द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में नाटकों के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। नाट्य-शास्त्र में "लक्ष्मीस्वयंवर" तथा "पुरुरवस् और उर्वशी के चरित्र के अभिनय" का उल्लेख है। इन नाटकों में नाटक का प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है। भरत और पतंजलि के काल में इन नाटकों की ख्याति अत्यन्त प्राचीन काल में इनके विकास की सूचना देती है।

पाश्चात्य विद्वानों के कथनों से ज्ञात होता है कि नाटकों का विकास केवल मूकाभिनय से हुआ था। भारतीय प्रारम्भिक नाटकों का अध्ययन करने पर इन विद्वानों का कथन उचित प्रतीत होता है।[1] हरिवंश के नाटक भारतीय नाट्यकला के विषय में भ्रमात्मक विचारों पर स्पष्ट प्रकाश डालते हैं। हरिवंश के अन्तर्गत जलक्रीडा के प्रसंग में नारद का हास्यपूर्ण अभिनय तथा उषा और अनिरुद्ध के वृत्तान्त में शिव के गण तथा अप्सराओं का अभिनय ये दोनों स्थल मूकाभिनयों को प्रस्तुत करते हैं। किन्तु प्रद्युम्न और साम्ब आदि के द्वारा अभिनीत 'रामायण' तथा "रम्भा-भिसार कौबेर" नाटकीय विधान की दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक है।

प्रकार का निष्कर्ष नही प्रस्तुत करता।[1] कीथ यहाँ पर हर्टेल के कथन का निराकरण नही करते। वे इस मत की सामान्यता को सूचित करते हैं।

विंटरनित्स वैदिक नाट्य तथा उत्तरकालीन नाटको में परस्पर सबध सिद्ध करने वाले मत का विरोध करते हैं। उनके अनुसार वैदिक तथा उत्तरकालीन नाटक की एकता प्रमाणित करने के लिए कोई साक्ष्य नही है।[2] श्री Von Schroeder का मत विंटरनित्स के मत से समानता रखता है। Von Schroeder ने वैदिक नाट्यकला को पूर्ण विकसित सिद्ध किया है। उत्तरकालीन सस्कृत नाटक उनके अनुसार वैदिक नाट्यपरम्परा से नितान्त भिन्न है।[3] श्री कीथ वैदिक नाट्यतत्त्व में क्रमश विकास के समर्थक हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिए उन्होने अगस्त्य और मरुत के वैदिक सवाद में उत्कृष्ट कोटि के तीन पात्रो वाले नाटक की ओर सकेत किया है।[4] हर्टेल ने सुपर्णाध्याय में वैदिक नाट्यतत्त्व का चरमोत्कर्ष माना है।[5]

1 Keith · JRAS 1911 p 1003-1004—But this is a very poor piece of evidence The Harivansa is a late text, and *contemporaneous with the classical drama*

2 Keith · JRAS 1911 p 1003—Winternitz VOL XXIII, 110, doubts the evidence of the connection of the Vedic and the classical drama

3 Keith : JRAS 1911 p 1001—Von Schroeder realises the difficulty and he finds the *solution in the theory that* the Vedic drama is no feeble beginning, it presents the climax of the long stage of development and it has no connection with the later drama of India

4 Keith JRAS 1911 p 1001—Nor would there be lacking some evidence of the gradual advance of the dramatic art, for the dialogue of Agastya and the Maruts presents us with *a miniature trilogy of a kind*

5 JRAS 1911 p 1001—And in the Supernādhyāya Hertel finds a fully developed drama, a historical link between the Rgveda and the later Indian world

श्री याजनिक अपने ग्रन्थ में हरिवश के नाट्य-तत्त्व से परिचय की सूचना देते है। किन्तु हरिवश के नाटको के विषय में उनका कथन स्पष्ट नही है। उनके अनुसार पौराणिक नाट्य-तत्त्व कुछ स्थलो में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कल्पना के आवरण से अपने महत्त्व को खो बैठा है। हरिवश के अन्तर्गत उन्होने "भानुमतीहरण" नामक नाटक में पौराणिक आख्यान के बीच मे आ जाने से नाटक के ऐतिहासिक महत्त्व को नष्ट हो जाते हुए कहा है। याजनिक का कथन निराधार ज्ञात होता है। हरिवश में "भानुमतीहरण" नामक नाटक नही, किन्तु भानुमतीहरण का आख्यान मिलता है। भानुमतीहरण के आख्यान के पूर्व भद्रनट की वरप्राप्ति का प्रसग समाप्त हो जाता है। अत भानुमतीहरण का प्रसग भद्रनट के प्रसग के महत्त्व को किसी प्रकार कम नही करता। भानुमतीहरण का आख्यान वज्रनाभ पुर में नाटको के अभिनय को प्रस्तुत करने वाले अध्यायो से पहले मिलता है। इस आख्यान के द्वारा हरिवश के नाटको के महत्त्वपूर्ण प्रसग में बाधा पडती है, यह नहीं कहा जा सकता। अत भद्रनट की वरप्राप्ति के बाद भानुमतीहरण का प्रसग नाट्यकला में नट के उद्गम के ऐतिहासिक महत्त्व पर किसी प्रकार का व्यवधान नही डालता।

हरिवंश तथा अन्य पुराण

हरिवश के अन्तर्गत नृत्य तथा नाट्य सम्बन्धी सामग्री का वास्तविक अनुशीलन अन्य पुराणो के साथ तुलनात्मक अध्ययन से होता है। वैष्णव पुराणो में कृष्णचरित्र के अन्तर्गत रास अपनी विशेषता रखता है। प्रत्येक पुराण के रास में विभिन्न सस्कृतियो का प्रभाव दिखलाई देता है। हरिवश के हल्लीसक में भारतीय सस्कृति का प्राचीन तथा अविकृत रूप मिलता है। हरिवश में रास का प्रसग सक्षिप्त है। कृष्ण के विरह में मुक्ति पाने वाली गोपिका और राधा के अभाव के कारण यह प्रारम्भिक ज्ञात होता है।

ब्रह्म० में रास हरिवश की प्रवृत्ति का अनुसरण करता है। किन्तु इस रास में हरिवश के रास से कुछ विकसित तत्त्व मिलते है। ब्रह्म० के रास के अन्तर्गत कृष्ण के वेणु के स्वर को सुनकर विस्मित गोपिकाओ की मनोदशा का वर्णन है। यहाँ पर उस गोपिका का भी उल्लेख है जो गुरुजनो के बाहर होने के कारण कृष्ण के पास न जा सकी तथा वही पर स्थित होकर कृष्ण का ध्यान करती रह गयी।[१] ब्रह्म० के

१. ब्रह्म० १८९ २०—काचिदावसथस्यान्त स्थित्वा दृष्ट्वा बहिर्गुरुम्।
तन्मयत्वेन गोविन्द दध्यौ मीलितलोचना॥

यह तत्त्व विष्णु० और भागवत के इसी प्रकार के तत्त्वों के बीजरूप है। हरिवंश में इन तत्त्वों का पूर्ण अभाव है।

विष्णु० में रास ब्रह्म० के रास से कुछ विकसित अवस्था को प्रस्तुत करता है। वेणुगीत विष्णु के रास की विशेषता है।[1] भागवत में यही रास नृत्य 'महारास' कहा गया है। महारास में रास के सभी तत्त्व विस्तार के साथ मिलते हैं। चन्द्रमा, यमुनातट तथा नृत्य के समय गोपिकाओं के अंगों का सौन्दर्य इस रास में विष्णु० से अधिक सूक्ष्मता से वर्णित किया गया है। रास का प्रारम्भ यहाँ पर उदीयमान चन्द्र की क्रमश: विस्तीर्ण होती हुई आह्लादिनी रश्मियों के साथ हुआ है।[2] रास के प्रवर्तन में हिमशीत बालुका पर कुमुद के परिमल से आनन्दपूर्ण कृष्ण तथा गोपिकाओं को चित्रित किया गया है।[3] महारास में कृष्ण के चारों ओर शोभित गोपिकाएँ मेघ के समीप विद्युत की भाँति मानी गयी है।[4] हरिवंश की भाँति यहाँ पर रास की विधि का स्पष्ट वर्णन नहीं है। किन्तु गोपिकाओं के बीच में एक कृष्ण के कथन से हरिवंश में वर्णित हल्लीसक का ज्ञान होता है।[5] भागवत के रास में प्रकृति-चित्रण तथा रूप-वर्णन का समन्वय इस प्रसंग के काव्यसौन्दर्य को बढ़ा देता है।

पद्म० तथा ब्रह्मवैवर्त्त० में रास की भिन्न प्रवृत्ति दिखलाई देती है। पद्म० पाताल० में रास-मण्डली नृत्य की वाचक नहीं है। यहाँ पर राधा, कृष्ण और गोपिकाओं की विविध लीलाओं को ही रास कहा गया है।[6] रास का यही रूप ब्रह्मवैवर्त्त०-में मिलता है।[7] पद्म० और ब्रह्मवैवर्त्त० में रास अपने प्रारम्भिक रूप से बहुत दूर हट गया है।

छालिक्य हरिवंश का अन्य अभिनयमिश्रित संगीत है। संगीत का यह प्रसंग

१. विष्णु० ५. १३

२. भाग० १०. २९. २—तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं,
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्,
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥

३. भाग० १०. २९. ४५ ४. भाग० १०. ३३. ८

५. भाग० १०. ३३. ३—रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥

६. पद्म० पाताल० ६९, ८७–११८ ७. ब्रह्मवैवर्त्त–कृष्णजन्म० २८–५५

हरिवंश के अतिरिक्त अन्य पुराणों में अनुपस्थित है। भागवत में कृष्णचरित्र के अन्तिम स्थल में जलक्रीडा का वर्णन है। यहाँ पर कृष्ण अपनी रानियों और पुरवासी यादवों के साथ सागर में जलक्रीडा के लिए प्रस्थित होते हैं। इस समय गन्धर्व मृदंग तथा पणवानक से, तथा सूत, मागध और वन्दी वीणा के द्वारा कृष्ण के चरित्र का गान करते हैं।[1] कृष्ण के साथ क्रीडा में मग्न द्वारवती की स्त्रियाँ हर्षविभोर होकर प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों से तादात्म्य स्थापित करती हैं। रात्रि के समय वियुक्त होने वाली कुररी-युगल की वेदना से वे सहानुभूति प्रकट करती हैं। यह कुररी कृष्ण की रानियों की भाँति संयोगसुख का अनुभव नहीं करती है।[2] भागवत के अन्तर्गत जलक्रीडा का यह प्रसंग हरिवंश के छालिक्य से भिन्न है तथा संस्कृत काव्यों के जल-क्रीडा-वर्णन से समानता रखता है।

हरिवंश तथा अन्य पुराणों के रास का तुलनात्मक अध्ययन कृष्णचरित्र के अध्याय में किया जा चुका है। अतः यहाँ पर केवल ललित कला की दृष्टि से रास का प्रश्न पुनः उठाया गया है।

हरिवंश में वास्तुकला

पुराणों के अन्तर्गत गृह निर्माण-कला एक महत्त्वपूर्ण विचार्य्य विषय है। इस कला में मानव के दैनिक क्रियाकलापों तथा विचारधाराओं का प्रतिरूप दिखलाई देता है। पुराणों में वर्णित गृहनिर्माण-कला में तत्कालीन समाज की समृद्धि तथा उनके बौद्धिक विकास का परिचय मिलता है। सभी पुराण अट्टालिकाओं तथा हर्म्यों के उच्च कलात्मक स्वरूप का परिचय देते हैं। वास्तु-कला का लगभग समान स्तर प्रस्तुत करने के कारण किसी एक पुराण की कला की विशेषता निश्चित करना कठिन ज्ञात होता है। सम्भवतः वास्तुकला को प्रस्तुत करने वाले पौराणिक अंश इन कलाओं के विकासकाल के बाद पुराणों में जोड़े गये हैं। इसी कारण गृहनिर्माण-कला से सम्बद्ध बहुत सी विशेषताएँ सभी पुराणों में समान रूप से मिलती हैं। उदाहरण-

१. भाग० १०.९०.१–८—उपगीयमानो गन्धर्वैः मृदंगपणवानकान्।
वादयद्भिर्मुदा वीणां सूतमागधवन्दिभिः॥
२. भाग० १०.९०.१५—कुररि! विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे,
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।

स्वरूप राजप्रासादो के वर्णन में अनेक ग्रन्थो में गोपुर का उल्लेख हुआ है।[1] गोपुर पुराणों की वास्तुकला में इतना प्रचलित क्यों हो गया, यह अज्ञात है। गोपुरके निर्माण की कला दक्षिण भारत से प्रारम्भ हुई थी।[2] पुराणो में गोपुरो का व्यापक वर्णन उस काल की सूचना देता है, जब दक्षिण भारत की वास्तुकला उत्तर भारत की वास्तुकला में एकाकार हो चुकी थी। गोपुर के उल्लेख की भाँति पुराणो में अन्य वास्तुकला सम्बन्धी सज्ञाएँ मिलती है। विभिन्न पुराणो में मिलने वाली वास्तुकला के पारिभाषिक शब्दो की व्युत्पत्ति के द्वारा पुराणो की वास्तुकला का तुलनात्मक मूल्याकन अपेक्षित है। इस तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भारतीय वास्तुकला के क्षेत्र में पुराणो के महत्व पूर्ण योग का ज्ञान होता है।

हरिवश के अन्तर्गत 'द्वारवती' के निर्माण का प्रयास भारतीय वास्तुकला के उत्कृष्ट स्वरूप का परिचायक है। द्वारवती में नगर का निर्माण रोहिणी नक्षत्र में शुभ दिन होता है।[3] शुभ मुहूर्त के निश्चित हो जाने पर शिल्पी तथा सूत्रधारी स्थपतियो को आमन्त्रित किया जाता है।[4] यहाँ पर शिल्पियो के द्वारा गृह-निर्माण के प्रारम्भ में ब्रह्मा अग्नि, इन्द्र तथा वृषदोलूखल के लिए स्थानो का विधान है। इन देवताओ के अतिरिक्त शुद्धक्ष, ऐन्द्र, भल्लाट तथा पुष्पदन्त के लिए चार द्वारो की स्थापना का उल्लेख है।[5] इन देवताओ के विषय में हरिवंश में कुछ नहीं कहा गया है। वास्तुकला के विवेचन के विषय में इन देवताओ के उल्लेख से यह वास्तु-देवताओ के नाम ज्ञात होते हैं। इन देवताओ से सम्बद्ध विस्तृत ज्ञान वास्तुकला के प्रामाणिक ग्रन्थो से मिलता है।

१. महा० १, १९८. ६०; ३. १७३, ३; ३. २०७. ७; अग्नि० ७२. ५. २२; रामायण. ६. ७५. ६

2 P. Brown : Indian Architecture P. 85—This is a structure rising above the parapat at the back of each of its porches and which has been indentified as an embryo Gopuram that monumental gate-head which dominates all the approaches to the Dravidian temple, and one of the most striking productions in the architecture of the south

३. हरि० २. ५८. ३ ४. हरि० २. ५८. १०–१३

५. हरि० २. ५८. १६–१८

हरिवंश में द्वारका की स्थापना के समय वर्णित ब्रह्मा, चार प्रारम्भिक देवता तथा चार वास्तु-देवताओ के स्थान-निर्धारण और पूजन का प्रसग लगभग सभी स्थापत्य सम्बन्धी ग्रन्थो में मिलता है।[1] ज्ञात होता है, गृह-निर्माण के पूर्व वास्तु-देवताओ की परितुष्टि आवश्यक समझी जाती थी।

वास्तु-शास्त्र से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थो में वास्तुदेवताओ की पूजा के समय 'वास्तु-शास्त्र' का उल्लेख महत्त्व रखता है। मत्स्य० में वास्तुदेवताओ की पूजा के साथ स्थापक के लक्षणो का वर्णन हुआ है। स्थापक को 'ऊहापोहार्थतत्त्वज्ञ' तथा 'वास्तु-शास्त्रपारगत' कहा गया है।[2] समरांगण० में गृह के बनाने वाले स्थपति को शास्त्रज्ञ होने का आदेश दिया गया है। अन्यथा अपने प्रमादवश वह समस्त नगरी का विनाश-कारी बन जाता है।[3] हरिवंश में देवशिल्पी विश्वकर्मा को शिल्पाचार्य की सज्ञा दी गयी है।[4] इस स्थान पर अन्य स्थपतियो को भी शिल्पिमुख्य कहा गया है।[5]

द्वारवती के शिलान्यास का दायित्व कुशल शिल्पी तथा स्थपतियो पर है। शिल्पियो के द्वारा गृहनिर्माण के पूर्व के मगलकृत्य सम्पादित किये जाते हैं।[6] किन्तु द्वारवती का वास्तविक निर्माण विश्वकर्मा की मानसी इच्छा पर होता है।[7] द्वारवती के विशाल नगर होने का प्रमाण विश्वकर्मा के द्वारा समुद्र से बारह योजन पृथ्वी मांगने से मिलता है। उत्कृष्ट नगर के अनुरूप द्वारवती में चत्वर, वेश्म, रथ्या तथा राज-पथो का उल्लेख है।[8] इस स्थल में द्वारवती का वर्णन वास्तुकला की कोई विशेषता नही प्रस्तुत करता।

वज्रनाभ के वध के बाद कृष्ण के पराक्रम से प्रसन्न होकर इन्द्र का पुन विश्वकर्मा को द्वारवती भेजने का उल्लेख है। विश्वकर्मा का द्वारवती के विशेष निर्माण के लिए

१. हरि० २.५८. १६–१८; गरुड़ ४६. ३–८; मत्स्य० २५३; मानसार० १–२; समरांगण० ११–१४ :
२. मत्स्य० २६५. १४–ऊहापोहार्थतत्त्वज्ञो वास्तुशास्त्रस्य पारगः।
३. समरांगण० १०. ६८–६९
४. हरि० २. ५८. २०, २२
५. हरि० २. ५८. १०
६. हरि० २. ५८. १०–१८
७. हरि० २. ५८. ४०–४१
८. हरि० २. ५८. ४८

दूसरी बार प्रवेश वास्तुकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस स्थल पर द्वारवती की लम्बाई तथा चौडाई का स्पष्ट उल्लेख है। द्वारवती को आठ योजन चौडी तथा बारह योजन लम्बी बतलाया गया है।[1] यह कथन द्वारवती को बारह योजन बताने वाले पहले कथन का विरोध नही करता, वरन् उसको अधिक स्पष्ट रूप प्रदान करता है। द्वारवती के आन्तरिक भाग का वर्णन इस स्थल में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

द्वारवती को द्विगुण उपनिवेश से युक्त कहा गया है।[2] नीलकण्ठ ने द्विगुण उपनिवेश का अर्थ शाखानगर दिया है।[3] इस नगरी को आठ भागो से युक्त रथ्या, 'पोडशचत्वर' तथा एक मार्ग से आवृत कहा गया है।[4] अष्टमार्गमहारथ्या शब्द सम्भवत आठ मार्गो वाले विशाल पथ की ओर सकेत करता है। नीलकण्ठ इस शब्द के लिए मौन है। महापोडशचत्वर को नीलकण्ठने स्पष्ट किया है। उनके अनुसार पाँच गृहपक्तियो के बीच में चार रथ्याएं होती है इसी प्रकार की तीन अन्य गृहपक्तियों के सयोग से मध्य में पोडशचत्वर का निर्माण होता है।[5] नीलकण्ठ के द्वारा दिये गये महापोडशचत्वर के लक्षण से ज्ञात होता है कि पाँच गृहपक्तियो के बीच मे चार रथ्याए निकलती है। इसी प्रकार को चारो दिशाओ में स्थित भवनो की क्रमश. सोलह रथ्याए हुईं। ये सोलह रथ्याएँ जहाँ एक दूसरे को काट कर जाती है वही महापोडशचत्वर होना चाहिए।

द्वारका नगरी के वर्णन में स्थापत्य-सम्बन्धी जो शब्द मिलते हैं, उनसे हरिवश के काल तक स्थापत्यकला के पर्याप्त विकास का परिचय मिलता है। हरिवश विष्णुपर्व के अट्ठावनवें अध्याय में गृहनिर्माण के पूर्व तथा निर्माण के प्रारम्भ की स्थापत्यकला के लिए विशेष शब्दो का प्रयोग हुआ है। इस अवसर पर चार देवताओ के स्थान का विभाजन और उनके लिए विभिन्न द्वारो का निर्माण बतलाया गया है।[6] इस परम्परा

१. हरि० २. ९८. २७ २. हरि० २. ९८. २७
३. हरि० २. ९८. २७ नीलकण्ठ—उपनिवेशाः शाखानगराणि तेषां द्विराजिभि- द्विगुणायता द्विगुणदीर्घा च।
४. हरि० २. ९८. २८—अष्टमार्गमहारथ्या महापोडशचत्वराम्।
एकमार्गपरिक्षिप्तां साक्षादुशनसा कृताम्॥
५. हरि० २. ९८. २८ नीलकण्ठ—पंचगृहपंक्तिभिश्चतस्रो रथ्या भवन्ति। ताश्चतस्र ऊर्ध्वाश्चतस्रः तिरश्च तासां सन्धयः षोडश तेषां मध्ये षोडश चत्वराणि।
६. हरि० २. ५८. १६–१८

को स्थापत्यकला सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों में देखा जा सकता है।[1] गृहनिर्माण के पूर्व वास्तुदेवताओ का पूजन भारतीय स्थापत्यकला का प्रचलित विषय ज्ञात होता है। हरिवश के द्वितीय द्वारका वर्णन में 'अष्टमार्गमहारथ्या' तथा 'महापोडशचत्वर' आदि शब्द पारिभाषिक दृष्टि से वास्तुकला के विकसित रूप का परिचय देते हैं।[2]

वास्तु-सम्बन्धी अन्य उदाहरणो के दर्शन कस के वृत्तान्त में किये जा सकते हैं। इस स्थल में निर्दिष्ट कलाओ का स्थान हरिवश में वर्णित अन्य कलाओ से भिन्न है। प्रेक्षागार इस स्थल की वास्तुकला का प्रमुख उदाहरण है। प्रेक्षागार के अन्तर्गत मचवाट, वलभी और छदी का उल्लेख है।[3] मचवाट का अर्थ दर्शकों के बैठने के लिए स्थानो की पक्ति है। वलभी का अर्थ नीलकण्ठ ने दोनो ओर झुके हुए पक्ष बतलाया है।[4] छ स्तम्भो के समूह को नीलकण्ठ ने छदी की सज्ञा दी है।[5] नीलकण्ठ के द्वारा दिये गये ये लक्षण स्पष्ट नही हैं।

मानसार में स्तम्भ के आधार का एक नाम वलभी है। वलभी का दूसरा अर्थ कुटी की आकृति का भवन है।[6] अग्नि पुराण में वलभी को पाँच मुख्य प्रासादो के अन्तर्गत पुष्पक नामक प्रासाद का अग कहा गया है।[7] मानसार तथा अग्नि० में मिलने वाले लक्षण एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। हरिवश में कस के प्रेक्षागार के प्रसग का अनुशीलन करने पर 'वलभी' के लिए मानसार में दिया गया लक्षण अधिक समीचीन ज्ञात होता है।

प्रेक्षागार के अन्तर्गत कुवलयापीडमारण की घटना वास्तुकला की अन्य विशेषताएँ प्रस्तुत करती है। इस स्थल में प्रेक्षागार को चित्रमय अष्टास्रि-चरण, अर्गला, द्वारवेदिका, गवाक्ष और अर्द्ध चन्द्र से पूर्ण कहा गया है।[8] प्रेक्षागार के अन्तर्गत श्रेणी, गण तथा राजदाराओ के लिए विभिन्न मचों का उल्लेख है।[9] इस वर्णन में 'अष्टकोण-

१. मत्स्य० २५३; समरांगण० ११–१४; गरुड़ ४६. ३–८
२. हरि० २. ९८. २८ ३. हरि० २. २८. ६–७
४. हरि० २. २८.७– नीलकण्ठ वलभीभिः उभयतो नमत्पक्षद्वयाभिः।
५. हरि० २. २८. ७– नीलकण्ठ – छदीभिः षट्स्तम्भाभिः।
6. P. K. Acharya : Architecture of Mānasāra Vol. V. P. 15—Valabhi—a thatch like building.
7. P. K. Acharya—Dict. Hindu Archi. Vol. 1, p. 404.
८. हरि० २. २९. २ ९. हरि० २. २९. ५–६, १२–१३

चरण' तथा 'गवाक्ष से युक्त अर्द्धचन्द्र' महत्त्वपूर्ण है। प्रेक्षागार के वर्णन में अष्टास्रिचरण शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] नीलकण्ठ ने अष्टास्रि का अर्थ 'अष्टकोण' दिया है। 'चरण' को नीलकण्ठ ने स्पष्ट नहीं किया है।[2] अतः अष्टकोण शब्द के ज्ञान के बाद चरण शब्द सन्देहास्पद रह जाता है। मत्स्य[3] तथा मानसार[4] में अष्टास्र की स्पष्ट व्याख्या मिलती है।

हरिवंश २.२९.२ में दिये गये सभी नाम प्रेक्षागार के अन्तर्गत मञ्चों के विशेषण हैं। यहाँ पर अष्टास्रिचरण के लिए दी गयी 'अष्टकोण युक्त चरण' नामक व्याख्या उचित ज्ञात होती है। मत्स्य० के प्रासाद-लक्षण के अन्तर्गत 'अष्टास्र' को अष्टमुख प्रासाद कहा गया है।[5] अतः यह 'अष्टास्रि' केवल अष्टकोण का वाचक ज्ञात होता है। इसी शब्द के आगे 'सार्गलद्वारवेदिका' विशेषण छत वाले प्रागण में अर्गला से युक्त द्वार का वाचक ज्ञात होता है। गवाक्ष तथा 'अर्द्धचन्द्र' नामक विशेषण क्रमशः गाय की आँख वाले तथा अर्द्धचन्द्र की आकृति के वातायन के वाचक हैं।[6]

हरिवंश के अनेक स्थल विशृंखलित रूप में वास्तुकला सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। हरिवंशपर्व के अन्तर्गत विष्णु तथा पृथ्वी का संवाद इसी प्रकार की वास्तुकला से सम्बद्ध सामग्री प्रस्तुत करता है। मेरु पर्वत के ऊपर स्थित देवताओं की सभा को हीरों से जटित सोने के स्तम्भों वाले तोरणों से युक्त कहा गया है।[7] यह सभा सैकड़ों विमानों से शोभित बतलायी गयी है। इसके अन्तर्गत रत्नजालों का वर्णन है।[8] देव-सभा के स्थापत्य का वर्णन सभाओं की स्थापत्य सम्बन्धी विशेषताओं की ओर संकेत करता है।

१. हरि० २.२९.२—सचित्राष्टास्रिचरणाः सार्गलद्वारवेदिकाः।
२. हरि० २.२९.२ नीलकण्ठ—अष्टास्रयोऽष्टकोणाश्चरणा –येषां ते सचित्राष्टास्रि
३. मत्स्य० २६९.२९.५३
4. P. K. Acharya : Dict. Hindu Architecture Vol. 1. p. 58—Astāsra—Eight cornered, a kind of single storeyed building which is octangular in plan and has got one cupola (Brhat Sam LVI 28; Matsya 269 VV. 29. 53; Bhavisya 130 V. 25)
5. P. K. Acharya : Dict. Hindu Architecture Vol. I P. 409
6. ,, ,, ,, ,, ,,Vol. I P. 167
७. हरि० १.५२.७ ८. हरि० १.५२.८

सुमेरु पर्वत के ऊपर देवताओं की सभा के लिए 'विमानशतमालिनीम्' तथा 'रत्नजालान्तरवर्ती' विशेषण[1] स्थापत्यकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। श्री आचार्य ने अपने स्थापत्यकोष में विमान के लिए अनेक अर्थ दिये है। विमान के पर्यायवाची शब्द वाहन, गृह, मन्दिर आदि कहे गये है।[2] यहाँ पर विमान के लिए गृह शब्द उचित ज्ञात होता है। गृह शब्द सम्भवतः यहाँ पर विविध देवताओं के विभिन्न प्रकोष्ठों के रूप में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु विमान शब्द देवताओं के वाहन के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इस अर्थ में 'विमानशतमालिनीम्' विशेषण सैकड़ों विमानों से शोभित सभा की सूचना देता है। अतः विमान के लिए गृह तथा देवताओं के वाहन दोनों विशेषणों को स्वीकार किया जा सकता है। रत्नजाल से रत्नों से जटिल छिद्रयुक्त वातायन का बोध होता है।

हरिवंश में कृष्ण तथा उनके परिजनों की जलक्रीडा का वर्णन वास्तुकला में महत्त्वपूर्ण तथ्यों को जोड़ देता है। विश्वकर्मा कृष्ण तथा उनकी पत्नियों के लिए अलग अलग नौकाओं का निर्माण करते हैं। इन नौकाओं में विविध प्रासादों का निर्माण वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। नौकाओं के ऊपर स्थित यह प्रासाद आयत, चतुरस्र, वृत्त तथा स्वस्तिकाकार बतलाये गये हैं।[3] आयत प्रासाद सम्भवतः लम्बाई को प्रस्तुत करते हैं। चतुरस्र चौकोर, वृत्त गोलाकार तथा स्वस्तिक प्रासाद स्वस्तिक के आकार के ज्ञात होते है। नीलकण्ठ ने स्वस्तिक का अर्थ 'शारिफलक' सदृश बतलाया है[4]। स्वस्तिकाकार प्रासाद की शारिफलक से दी गयी उपमा प्रासाद के अर्थ को स्पष्ट नही करती। प्रासादों की यह विभिन्नता वास्तुशास्त्र की दृष्टि से बनावट की सूक्ष्मता का बोध कराती है।

१. हरि० १.५२.८—मनोनिर्माणचित्राढ्यां विमानशतमालिनीम् ।
रत्नजालान्तरवर्ती श्रीमतीं रत्नभूषिताम् ॥

२. P. K. Acharya. Dict. Hindu Archi. Vol. 1 p. 551—Vimāna a conveyance, a baloon, a heavenly car, a temple, building in general, the palace of an emperor, the tower surmounting a sanctuary which is in the centre of the temple.

३. हरि० २.८८.५७–५८—आयताश्चतुरस्राश्च वृत्ताश्च स्वस्तिकाकृताः ।
प्रासादा नौषु कौरव्य विहिता विश्वकर्मणा ॥

४. हरि० २.८८.५८ नीलकण्ठ—स्वस्तिकाः शारिफलकाकाराः ।

हरिवंश में नौकाओ के ऊपर बने हुए आयत, चतुरस्र, वृत्त तथा स्वस्तिकाकार प्रासादो के लक्षण मानसार में मिलते हैं। आयत प्रासाद की कोई लाक्षणिक विशेषता नही है। यह केवल आयताकार प्रासाद को सूचित करता है। चतुरस्र प्रासाद को चौकोर एकमंजिला तथा पाँच शिखरो से युक्त कहा गया है।[1] मत्स्य० (मत्स्य० २६९, २८, ५३, २६३ १२) में भी चतुरस्र को चौकोर प्रासाद बतलाया गया है। वृत्त नामक प्रासाद वृत्ताकार भवन ज्ञात होता है। इस प्रासाद का उल्लेख बृहत्संहिता में है।[2] मानसार में स्वतिकाकार प्रासाद दो मंजिले भवन के रूप में बतलाया गया है।[3] अग्नि० (१०४,२०, २१) तथा गरुड० (४७ २१ २३, ३१-३३) मे स्वस्तिकाकार प्रासाद को अष्टकोण भवन कहा गया है। कामिकागम (३५ ८९) के अनुसार स्वस्तिकाकार प्रासाद दक्षिण तथा उत्तर में पण्नत्र वाला भवन है।[4] 'पण्नेत्र' से अर्थ सम्भवत छ वातायनो से है।

नौकाओ के ऊपर बने हुए विविध आकृतियो के प्रासादो का निर्माण उच्चकोटि की वास्तुकला का परिचय देता है। इन प्रासादो में कैलास, मन्दर, मेरु, पक्षी, मृग, गरुड, क्रौंच, शुक तथा गज की आकृतियो का निर्माण महत्त्वपूर्ण है।[5] पक्षियो के चित्रण की सूक्ष्मता गरुड, क्रौच और शुक की आकृतियो को स्पष्ट कर सकती है।

जल क्रीडा के लिए निर्मित ये नौकाएँ आकृति तथा विस्तार भेद के अनुसार सज्ञाओ में भेद प्रस्तुत करती हैं। लघु नौकाओ को 'पोत' कहा गया है। जलक्रीडा के लिए उपयोगी सामग्री ले जाने वाली नौकाएँ 'यानपात्र' कही गयी हैं। वेगवती विस्तृत नौकाओ को 'नौका' कहा गया है। नृत्य-गीत के अनुरूप विशाल प्रासादो से युक्त नौकाएँ 'झिल्लिका' मानी गयी हैं।[6] इन नौकाओं मे नन्दनवन के सदृश विशाल उद्यान, तालाब, रथ और स्वर्गसदृश नगरों के निर्माण मे विश्वकर्मा की शिल्पदक्षता

१ P K. Acharya Dict Hindu Archi Vol I P 191 चतुरस्र—a type of building which is quadrangular in plan, has one storey and five cupolas

२ P K Acharya Dict Hindu Archi Vol I p 563 cf बृहत्संहिता LIII 28

३ P K Acharya Dist Hindu Archi Vol I P 732

४. कामिकागम XXXV. ८९-दक्षिणे चोत्तरे चैव पण्नेत्र स्वस्तिक स्मृतम।

५ हरि० २ ८८.५९-६१ ६ हरि० २ ८८ ६३

का परिणाम बतलाया गया है।[1] इन नौकाओ के अलकरण के अनुरूप मणिमय चित्र तथा मरकत, चन्द्रकान्त और सूर्यकान्त मणियो से निर्मित अन्य अनेक आकृतियो के वैडूर्यमय तोरणो का उल्लेख है।[2] नौका की स्थापत्यकला में तोरणो की चित्रमय रचना के द्वारा उत्कृष्ट कलात्मकता का परिचय मिलता है। इन नौकाओ के उल्लेख से वास्तुकला का चरमोत्कर्ष ही नही दिखलायी देता। नौकाओ के ये देदीप्यमान तोरण तत्कालीन मानव समाज की कलात्मक सुरुचि की ओर भी सकेत करते हैं।

हरिवश में नौकाओ के ऊपर निर्मित प्रासादो का वास्तुसम्बन्धी महत्त्व स्पष्ट है। ये विविध प्रासाद मत्स्य०, अग्नि-गरुड-भविष्य पुराण तथा बृहत्सहिता में मिलते हैं।[3] हरिवश में वर्णित प्रासादो का वास्तुशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में विस्तृत विवरण हरिवश के काल तक इन प्रासादो की पूर्ण ख्याति की सूचना देता है। हरिवश के जलक्रीडा के प्रसग में स्थापत्यकला सम्बन्धी नामावलियो के द्वारा स्थापत्य की समृद्ध अवस्थाका ज्ञान होता है। अग्नि० १०४ १९ २० में मणिक नामक 'वृत्तायत' अण्डाकार प्रासाद-लक्षणो के अन्तर्गत पशु तथा पक्षियो की आकृति के प्रासादो का वर्णन है। यह प्रासाद क्रमश. गज, वृषभ, हस तथा गरुत्मान् हैं। अग्नि में मणिक नामक प्रासाद-लक्षण के अन्तर्गत मिलने वाले प्रासादो में गज तथा गरुत्मान् नामक प्रासादो का वर्णन हरिवश में है। गरुड० ४१, २९–३० में मणिक नामक प्रासाद-भेद के अन्तर्गत अग्नि० से समानता रखने वाले नौ प्रासादो का उल्लेख है। किन्तु गरुड० के अन्तर्गत इसी सूची में कुछ नवीन प्रासादो के नाम मिलते हैं। गरुड० में सिंह तथा भूमुख इन दो नयी सज्ञाओ का उल्लेख हुआ है (४७–३१–३३)। मत्स्य० २८–५४ में प्रासादो के विस्तृत विवरण के अन्तर्गत अनेक सज्ञाएँ हरिवश के प्रासादो की सज्ञाओ से समानता रखती हैं। मत्स्य० में प्रासादो की सज्ञाओं का कथनमात्र ही नही है, वरन् प्रत्येक नाम की परिभाषा भी दी गयी है। गज प्रासाद को गज की आकृति का १६ अगुल चौडा तथा ऊपरी वक्षो से युक्त कहा गया है।[4] गरुड प्रासाद गरुड की आकृति

१. हरि० २. ८८. ६५–६७ २. हरि० २. ८८ ६०

३. अग्नि० १०४. १९. २०
गरुड़० ४७. २९. ३३
मत्स्य० २६९ २८–५४
भविष्य० १२०. २३–३५
बृहत्सहिता LVI १–१९

4. PKA. Dict. Hindu Archi. V. I. P. 409

का, सात मजिला, सबसे ऊपर के तीन प्रकोष्ठो से युक्त और आठ अरत्नि (cubit) चौडा बतलाया गया है। गरुड प्रासाद के खण्डो या मजिलो की भिन्न-भिन्न सख्याएँ दी गयी है। इस प्रासाद को छियासी (८६) मजिला भी कहा गया है। मत्स्य० के अन्य स्थल में गरुड प्रासाद को १० मजिला कहा गया है (मत्स्य० ४३)।

मेरु, मन्दर तथा कैलास नामक प्रासादो के लक्षण अनेक ग्रन्थो में मिलते हैं। अग्नि में वर्णित प्रमुख पाँच प्रासादो में वैराज्य नामक प्रासाद के भेदो में 'मेरु' तथा 'मन्दर' का उल्लेख है। मेरु तथा मन्दर प्रासादो को चौकोर बतलाया गया है।[1] मत्स्य० में बीस प्रकार के प्रासाद लक्षणो के अन्तर्गत मेरु, मन्दर तथा कैलास का उल्लेख है। मत्स्य मे मेरु को सौ शृग, सोलह मजिला, तथा विभिन्न शिखरो से युक्त प्रासाद कहा गया है।[2] मन्दर को बारह मजिला, विविध शिखर युक्त तथा तैतालीस अरत्नि (cubit) चौडा प्रासाद बतलाया गया है।[3] कैलास नौ मजिला, विविध शिखर युक्त तथा उतालीस अरत्नि चौडा प्रासाद माना गया है।[4] मानसार में सम्भवत मेरु प्रासाद को ही 'मेरुकान्त' कहा गया है। मानसार में मेरुकान्त को तिमजिला प्रासाद बतलाया गया है।[5] मेरु प्रासाद की आकृति के विषय में मतभेद है। ज्ञात होता है, हरिवश में जलक्रीडा के प्रसंग के अन्तर्गत 'मेरु' से उद्देश्य मानसार में वर्णित 'मेरुकान्त' से होगा। कारण यह है कि मेरुकान्त आकार में छोटा होने के कारण नौका के लिए अधिक समीचीन है।

मेरु, मन्दर और कैलास

वास्तुशास्त्र के भोजनिर्मित ग्रन्थ समरागण सूत्रधार में प्रासादो का वर्णन मत्स्य० से समानता रखता है। समरांगण० में 'मन्दर-प्रासाद' को द्वादश-तल कहा गया है। द्वादश तल से बारह मजिले का ज्ञान होता है।[6] नौमजिलो से युक्त प्रासाद "कैलास" कहा गया है।[7]

समरागण में अनेक चन्द्रशालाओ से शोभित प्रासाद गज के नाम से विख्यात

१. अग्नि० १०४. १४-१५ २. मत्स्य० २६४. ३१
३. मत्स्य० २६४. ४७. ५३ ४. मत्स्य० २६९. ३२. ४७-५३
5. P. K. Acharya Archi. Mānasāra Vol. V. P. 25.
६. समरांगण० ५५. ११-८२, ६३.५-मन्दरो द्वादशतलः।
७. समरांगण० ६३. ५

माना गया है।[१] सात अथवा दसमंजिला तथा तीन चन्द्रशालाओ से युक्त प्रासाद गरुड कहा गया है।[२]

समरागण० में विविध प्रासादो का प्रत्येक देवता से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। कैलास का सम्बन्ध शिव, गरुड का विष्णु, पद्म का ब्रह्मा तथा गज का गणेश से स्थापित किया गया है।[३] इसी ग्रन्थ के अन्य स्थल में जनार्दन के लिए निर्मित आठ प्रासादो के अन्तर्गत गरुड प्रासाद की गणना की गयी है।[४] समरागण० में विभिन्न आकृति के प्रासादो को देवताओ से सम्बद्ध करने के कारण इस काल की वास्तुकला का त्रिमूर्ति तथा गणेश से परिचय ज्ञात होता है।

भविष्य० में वास्तुसम्बन्धी सामग्री मत्स्य० की भाँति विस्तृत रूप में मिलती है। वास्तुशास्त्र की विषय-सामग्री की दृष्टि से यह पुराण मत्स्य० से समानता रखता है।[५] नारद० में स्थापत्यकला पर विवरण अग्नि०, मार्कण्डेय० तथा गरुड० की भाँति केवल पौराणिक परम्परावश मिलता है।[६] स्कन्द० में वास्तुशास्त्र का विषय तीन बडे बडे अध्यायो में है।[७] वायु० में भी एक अध्याय के अन्तर्गत वास्तुशास्त्र पर विवेचन हुआ है।[८] लिंग० के अन्तर्गत वास्तुशास्त्र का सक्षिप्त विवरण मिलता है।[९] इन सभी पुराणो में वास्तुकला से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री की पूर्ण रक्षा हुई है।

पुराणों के अतिरिक्त वास्तुकला के ग्रन्थ सुप्रभेदागम',[१०] कामिकागम[११] तथा बृहत्सहिता है।[१२] आगम ग्रन्थो में वास्तुकला अर्वाचीन पुराणो की भाँति अनिवार्य विषय के रूप में मिलती है। वास्तुशास्त्र से सम्बद्ध विषय का प्रतिपादन आगम

१. समरागण० ६३. १५ २. समरांगण० ६३. १५–१६
३. समरागण० ५५. १०५–महेश्वरस्य कैलासो विष्णोस्तु गरुडाभिधः। कामैः प्रजापतेः पद्मो गणनायस्य च द्विपः॥
४. समरागण० ५८. ७–८ ५. भविष्य० १३०
६. नारदपुराण भाग १. १३
७. स्कन्द० माहेश्वर खण्ड भाग २. २५, वैष्णव खण्ड भाग २. २५, माहेश्वर खण्ड भाग १. २४
८. वायु० भाग १. ३९ ९. लिंग० भाग २. ४६
१०. सुप्रभेदागम ३१. (प्रासाद)
११. कामिकागम LV. १३१ (प्रासाद भूषण)
१२. बृहस्पति LVI. १–१९

ग्रन्थो में विस्तार के साथ मिलता है। वृहत्संहिता में वर्णित इन कलाओ का प्रसग प्रामाणिकता की दृष्टि से मत्स्य० का समकक्ष है। बृहत्संहिता के रचयिता वराहमिहिर को विद्वानो ने कालिदास का समकालीन माना है।[1] इन ग्रन्थो के आधार पर भारतीय वास्तु सम्बन्धी सामग्री की प्राचीनता की पुष्टि होती है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वास्तुशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में मिलता है। इस ग्रन्थ में लगभग सात अध्याय वास्तुशास्त्र पर विवेचन के लिए मिलते हैं।[2] शुक्रनीति में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति गृहनिर्माण कला पर सामग्री मिलती है[3]। सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि तथा लीलावती में वास्तुशास्त्र की महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है[4]। इन ग्रन्थो में प्रतिपादित वास्तुसम्बन्धी सिद्धान्त अर्वाचीन पुराणो के अन्तर्गत मिलने वाले वास्तुसम्बन्धी विषय से समानता रखते हैं। भारतीय वास्तुशास्त्र से सम्बद्ध लगभग सभी ग्रन्थ वास्तुकला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं।

हरिवंश के अन्तर्गत द्वारवती के निर्माण के प्रसग में वास्तुकला की पारिभाषिक नामावली मिलती है। हरिवंश में रुक्मिणी के प्रवर नामक आवास के निर्माण में प्रासाद की व्याख्या कुछ अश में मत्स्य० में वर्णित मेरु प्रासाद की व्याख्या से समानता रखती है[5]। मत्स्य० में वर्णित मेरु प्रासाद के लक्षण तथा हरिवंश में रुक्मिणी के प्रवर नामक प्रासाद के वर्णन में 'उच्छ्रित' तथा 'मेरु पर्वत' शब्दो में समानता है।

1. PKA : Indian Architecture P. 22—Its (Bṛhat Samhitās's) authorship is attributed to Varāha-Mihira who is supposed to be one of the 9 traditional gems in the court of mythical Vikramāditya, and thus imaginaed to be a contemporary of Kalidāsa a poet of unrivalled fame.
२. कौटिल्य अर्थशास्त्र LXV
३. शुक्रनीति ४. ३. ११५–११६
4. P. K. Acharya Indian Architecture P 173
५. हरि. २.९८.४१–४२; मत्स्य.२६९.३१शतशृंगचतुर्द्वारो भूमिराषोडशोच्छ्रितः।
नानाविचित्रशिखरो मेरुः प्रासाद उच्यते ॥
प्रासादं चैव हैमाभ सर्वभूतमनोहरम् ॥
मेरोरिव गिरेः शृंगमुच्छ्रितं काञ्चन महत् ।
रुक्मिण्या. प्रवरं वासं विहितं विश्वकर्मणा ॥

मत्स्य० में 'भूमिकापोडशोच्छ्रित' के स्थान पर हरिवंश में केवल 'उच्छ्रित' शब्द का प्रयोग हुआ है। मत्स्य० में प्रासाद के लिए 'नानाविचित्रशिखर मेरु' शब्द का प्रयोग हुआ है। हरिवंश के अन्तर्गत कांचन प्रासाद की समानता मेरु के शृंग से की गयी है। मत्स्य० तथा हरिवंश के इन प्रासादों के अभिप्राय की समानता के होने पर भी बहुत कुछ भेद है। हरिवंश में प्रासाद की मेरुशृंग से समानता प्रासाद के कांचन-निर्मित तथा उच्छ्रित होने के कारण स्वाभाविक है। ज्ञात होता है, हरिवंश में रुक्मिणी के आवास के लिए दी गयी मेरु की समानता 'मेरु' नामक प्रासाद-विशेष को सूचित करती है।

हरिवंश में गान्धारी नामक कृष्ण की पत्नी के प्रासाद को 'मेरु' कहा गया है। मेरु नामक प्रासाद का यह वर्णन मत्स्य० में वर्णित मेरु प्रासाद के लक्षण से समानता नहीं रखता। मेरु प्रासाद की समता हरिवंश में सागर से की गयी है।[१]

द्वारवती के निर्माण के प्रसंग में कृष्ण तथा उनकी रानियों के प्रासादों के लिए विभिन्न नाम दिये गये हैं। प्रासादों के ये नाम स्थापत्यकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। रुक्मिणी का प्रासाद 'प्रवर' तथा गान्धारी का प्रासाद 'मेरु' है।[२] सत्यभामा के प्रासाद को 'भोगवत्' कहा गया है।[३] सुभीमा का पद्मवर्ण प्रासाद 'पद्मकूट' माना गया है।[४] लक्ष्मणा के प्रासाद का नाम 'सूर्यप्रभ' है।[५] वैडूर्य मणि के सदृश हरे रंग का मित्रविन्दा का प्रासाद 'पर' नाम से विख्यात है।[६] इनमें अधिक रमणीय 'केतुमान्' नामक प्रासाद सुदात्ता नामक कृष्ण की रानी का बतलाया गया है।[७] देव तथा द्विजों के साथ कृष्ण के उपस्थान के लिए बनाये गये प्रासाद का नाम 'विरजा' है।[८] इस प्रासाद के मार्गनिर्देशन के लिए स्थान-स्थान पर सकेतसूचक चाँदी के दण्डों से युक्त पताकाओं की पंक्ति लगी रहती है।[९] द्वारवती में विभिन्न अभिप्रायों

१. हरि० २.९८.४७—जाम्बूनद इवादीप्तः प्रदीप्तज्वलनो यथा।
सागरप्रतिमोत्तिष्ठन्मेरुरित्यभिविश्रुतः॥
२. हरि० २.९८.४७–४८ ३. हरि० २.९८.४३
४. हरि० २.९८.४९ ५. हरि० २.९८.५०
६. हरि० २.९८.५१–५२ ७. हरि० २.९८.५३–५४
८. हरि० २.९८.५५–५६
९. हरि० २.९८.५७—तस्मिन् सुविहिता सर्वे रुक्मदण्डाः पताकिनः।
सदने वासुदेवस्य मार्गसंजननध्वजाः॥

के निमित्त बने हुए ये प्रासाद नामो की विविधता के साथ इन प्रासादों की अलग-अलग उपयोगिता की सूचना देते है।

हरिवश में वर्णित कुछ प्रासादो का उल्लेख अन्य वास्तु-सम्बन्धी ग्रन्थो में भी मिलता है। इन प्रासादो में गान्धारी के लिए निर्मित मेरु प्रासाद के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। हरिवश में सत्यभामा के भोगवत् नामक प्रासाद के लक्षण मानसार में मिलते है। मानसार में इस प्रासाद को 'भोग' कहा गया है। भोग को एकमजिला, छोटा, बीच में बडे गुम्बज तथा चारो तरफ छोटे छोटे चार गुम्बजो से युक्त और सामने आठ स्तम्भो से मण्डित प्रासाद माना गया है।[1] मानसार में वर्णित भोग प्रासाद का लक्षण इस प्रकार के भवन का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। हरिवश में कृष्ण का 'विरजा' नामक प्रासाद सम्भवत मानसार में वर्णित 'वैराज' नामक प्रासाद है। इस प्रासाद के भी भेदो में 'मेरु' तथा 'मन्दर' भी है। वैराज प्रासाद को चौकोर कहा गया है।[2] पाँच प्रमुख प्रासाद-लक्षणो में 'वैराज्य' नामक प्रासाद का उल्लेख अग्नि० (१०४. १४, १५) में है। अग्नि० में भी वैराज्य को चौकोर प्रासाद कहा गया है। अत हरिवश में विरजा नामक यह प्रासाद चौकोर ज्ञात होता है। इसी प्रसग में सुभीमा नामक कृष्ण की पत्नी के पद्मकूल प्रासाद का वर्णन है। इस प्रासाद से मिलते जुलते नाम अनेक ग्रन्थो में मिलते है। मानसार में पद्मकान्त नामक प्रासाद छ मजिला भवन बतलाया गया है।[3] अग्नि० के पाँच प्रकार के प्रासादो में कैलास-प्रासाद के भेदो के अन्तर्गत 'पद्म' प्रासाद को वृत्ताकार बतलाया गया है।[4] मत्स्य० के बीस प्रासाद-लक्षणो के अन्तर्गत 'पद्म' प्रासाद को तिमजिला, सोलह कोणयुक्त एक शुभ शिखर वाला तथा सत्तर अरत्नि चौडा बतलाया गया है।[5]

वास्तु-सम्बन्धी ग्रन्थो में वर्णित 'पद्म' की परिभाषा में मतभेद दिखलाई देता है। केवल अग्नि (१०४ १७–१८) में इस प्रासाद के लिए दिया गया 'वृत्ताकार' विशेषण तथा मत्स्य० (३० ३९, ४९, ५३) में 'सोलह कोण युक्त' विशेषण परस्पर सामजस्य रखते है। सोलह कोणयुक्त भवन से यहाँ पर वृत्ताकार भवन का ही ज्ञान

1. P. K. Acharya : Archi. of Mānasāra Vol. V. P. 23.
2. ,, ,, : Dict. Hindu Archi Vol. 1, P. 569.
3. ,, ,, : Dict. Hindu Archi Vol. 1, P. 400.
४. अग्नि० १०४. १७–१८
५. मत्स्य० ३०. ३९. ४९, ५३

होता है। किन्तु मानसार तथा मत्स्य० के लक्षण परस्पर कोई भी समानता नहीं रखते। यहां पर यह निश्चित करना कठिन है कि 'पद्मकूल' प्रासाद 'पद्म' नामक किस प्रासाद के लक्षण से पूर्ण समानता रखता है।

हरिवंश में कृष्ण की पत्नियों के लिए निर्मित अन्य प्रासादों का उल्लेख वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में नहीं हुआ है। ज्ञात होता है, ये संज्ञाएँ स्थापत्यकला की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं रखती।

युद्ध-वर्णन के प्रसंग में रथों का उल्लेख तक्षणकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मणियों से जड़े हुए रथों में की गयी नानाविध चित्रकारी का उल्लेख हुआ है। किन्तु युद्ध-वर्णन के प्रत्येक प्रसंग के अन्तर्गत रथों की चित्रकारी के वर्णन में समानता मिलती है। इसका कारण सम्भवतः युद्धवर्णन की एक सर्वसाधारण परम्परा है। इस परम्परा के अनुसार देव तथा दानवसेना के रथवर्णन में समानता दिखलाई देती है। हरिवंश-पर्व में दानवसेना के वर्णन के अन्तर्गत रथ को रत्नजाल तथा हेमजाल से परिष्कृत कहा गया है।[1] यह रथ कृत्रिम मृगों से चित्रित बतलाया गया है।[2] रथों के इस वर्णन में अलंकरणात्मक प्रवृत्ति प्रमुख स्थान रखती है।

प्रद्युम्न-हरण के प्रद्युम्न-शम्बर-युद्ध के अन्तर्गत रथ के वर्णन में पूर्वनिर्दिष्ट रथ की भाँति चित्रकला तथा तक्षणकला का प्रदर्शन हुआ है। रथ के इस वर्णन में कृत्रिम मृग, पक्तिभक्ति तथा नक्षत्रों के चित्र का उल्लेख है।[3] रथ का लगभग यही चित्रमय वर्णन बलि तथा देवताओं के युद्ध के प्रसंग में मिलता है। बलि के रथ को कनक तथा रजत की रेखाओं से चित्रित कहा गया है।[4] मय नामक दानव का रथ कृत्रिम मृगों तथा चित्रों से युक्त है।[5] मय का अनुगमन करने वाले असंख्य रजत, मणि तथा सुवर्ण से चित्रित कहे गये हैं।[6] शम्बर का रथ विविध पक्षियों से चित्रित प्रदर्शित किया गया है।[7] इन रथों का निर्माता मय है। पुराणों में रथ को मय कृत्रिम मृग तथा स्वर्णमय शत-चन्द्रमा से युक्त बनाता है।[8] युद्ध के इसी वर्णन में

१. हरि० १.४१.३
२. हरि० १.४३.४—ईहामृगगणाकीर्णं पक्षिभिश्च विराजितम्।
३. हरि० २.१०५.१३.
४. हरि० ३.४९.३१
५. हरि० ३.४९.४४
६. हरि० ३.४९.४८
७. हरि० ३.५०.२८—नागकर्णैः सुवर्णैश्च भास्वरैरिव अर्चितम्।
८. हरि० ३.५१.७५–७६

वलि के रथ को सहस्र सूर्य तथा सहस्र चन्द्रतारक-युक्त कहा गया है।[1] दानवो की सेना के वर्णन में रथो की तक्षणकला का उल्लेख तत्कालीन तक्षणकला की विविधता को सूचित करता है।

दानवो की कला की विशेषता देवसेना के रथो की तक्षणकला से अधिक उत्कृष्टता में है। रथो मे कलात्मक चित्रकारी तथा सजावट देव तथा दानव दोनों पक्षो के रथो में दिखलायी गयी है। किन्तु दानवो अथवा देवताओ की कलात्मक अभिरुचियाँ इन विभिन्न चित्रकलाओ में स्पष्ट झलकती है। सुवर्ण, रजत, वैडूर्य तथा मणि से निर्मित चित्रकला[2] और 'ईहामृग,[3] दोनो पक्षो के रथो में समानता रखते हैं। इन समान अलकरणात्मक अगो में विशेषताएँ दो अलग प्रकार की सस्कृतियो की प्रतीक है।

देव-सेना के वर्णन में रथो की चित्रकारी आश्चर्यजनक रूप से नगण्य स्थान रखती है। देवताओ के रथो के वर्णन के प्रसग अत्यन्त सक्षिप्त हैं। दानवो की सेना में रथो की तक्षणकला के अन्तर्गत स्वर्णकमल, पक्षिवृन्द तथा ईहामृगो का चित्रण महत्त्वपूर्ण है।[4] देवसेना के रथो में इस प्रकार की तक्षणकला का अभाव है। दानवो के रथो का वर्णन अत्यन्त विस्तृत रूप में मिलता है। लगभग प्रत्येक प्रसिद्ध दानव के युद्धवर्णन के साथ उसके रथ का वर्णन हुआ है।

हरिवश के अन्तर्गत युद्ध-वर्णनो में युद्ध के अन्य उपकरणो की ओर ध्यान न देकर रथो के वर्णन पर अधिक ध्यान दिया गया है। ज्ञात होता है, युद्ध के उपकरणों में चित्रकला तथा तक्षणकला के प्रदर्शन का प्रतिनिधित्व रथ के द्वारा ही किया गया है। रथो पर रजत, सुवर्ण, वैडूर्य, प्रवाल तथा मणि से जटित चित्रकारी[5] केवल सजावट के लिए की गयी ज्ञात होती है। किन्तु रथो में कुछ चित्रकारी विशेष प्रयोजन रखती है। दानवो की रथसेना के वर्णन में ईहामृगो का चित्रण[6] चित्रकला के किसी

१. हरि० ३.५१.८९–९०
२. हरि० १.४३.३, ३,४९.३१, ३.४९.४८, ३ ४९.४४, ३ ५१ ७५–७६, ३.५२.११, ३.५३.४८–४९.
३ हरि० १.४३.४, २ १०५.१३
४. हरि० १.४३.४, २.१०५.१३, ३.४९.४४, ३,५१.७५–७६, ३,५०.०२८
५ हरि० १.४३.३, ३.४९.३१ ३.४९.४८, ३.५२ ११, ३.५३ ४८–४९
६. हरि० १.४३.४, १.१०५.१३, ३.४९.४४, ३.५१.७५–७६.

विशेष अर्थ की ओर संकेत करता है। कारण यह है कि दानवो के रथो के प्रत्येक वर्णन में 'ईहामृग' का उल्लेख प्रमुख स्थान रखता है। अपनी द्रुतगति के लिए प्रसिद्ध होने के कारण सम्भवत इन मृगों को रथो में चित्रित किया गया है। रथो में मृगो का चित्रण मृगया के प्रयोजन को भी प्रस्तुत करता है। कदाचित् द्रुतगति तथा मृगया दोनों के लिए ईहामृगो का चित्रण किया गया है।

दानव-सेना के वर्णन के अन्तर्गत रथो में पक्षिवृन्दो का चित्रण मृगो के सदृश प्रयोजन की सूचना देता है। रथो में मृगो का चित्रण अलंकरणात्मक प्रवृत्ति के साथ तत्कालीन परम्पराविशेष का परिचय देता है। दानवसेना के इन्ही रथो में कही कही पर पक्षिवृन्द के चित्र सम्भवत मृगो की भाँति द्रुतगति तथा मृगया के प्रतीक है।[1] हरिवंश के अन्तर्गत रथो में तक्षणकला का वास्तविक अनुशीलन अन्य पुराणो में रथो की तक्षणकला के अध्ययन से हो सकता है। अत अन्य पुराणो से इसी प्रकार की कलाओ का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

मूर्तिकला हरिवंश में बहुत सीमित स्थान रखती है। इसका कारण सम्भवत. हरिवंश के काल तक इस कला की प्रारम्भिक अवस्था है। प्राचीन गृहनिर्माण में इस ओर ध्यान कम दिया गया है। हरिवंश में भवनो के कलात्मक स्वरूपो के परिचय के साथ वास्तुकला के विषय की संक्षिप्त सूचना मिलती है। शृगाल नामक राजा की पराजय के बाद विजयी कृष्ण तथा बलराम के मथुरागमन का वृत्तान्त मूर्तिकला के पिछडे क्षेत्र में थोडी-सी सामग्री प्रस्तुत करता है। कृष्ण तथा बलराम के मथुरा-गमन पर मथुरावासियो का हर्षोल्लास वर्णित है। इसी प्रसग में आयतनो[2] में देव मूर्तियो के प्रसन्न होने का वर्णन है।[3] प्रसन्न देवमूर्तिया तक्षण कला की उत्कृष्टता का परिचय देती है। इस वर्णन के द्वारा मूर्तियो की स्मितपूर्ण मुखमुद्राओ का ज्ञान होता है।

हरिवंश की वास्तुकला वास्तुशास्त्र के कुछ प्रचलित लक्षणो से परिचित है, किन्तु वास्तुकला से सम्बद्ध शब्दो के लिए हरिवंश में लक्षणो का अभाव है।

१. हरि० ३. ५०. २८
२. आयतन का अर्थ देवायतन से है—P. K. Acharya. Dict. Hindu Archi Vol 1, P 67 "A dwelling, a temple, where an idol is installed
३. हरि० २ ४५। ११—दैवतान्यपि सर्वाणि हृष्यन्त्यायतनेष्वथ ।

पुराणों में वास्तुकला तथा मूर्तिकला

वैष्णव पुराणो में कृष्णचरित्र के अन्तर्गत द्वारका नगरी का निर्माण एक महत्त्वपूर्ण प्रसग है। विभिन्न पुराण द्वारका के वर्णन में अपने काल की वास्तुकला का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनमें से कुछ पुराण कृष्णचरित्र के अभाव के कारण द्वारका के वर्णन से शून्य हैं। इस प्रकार के कतिपय पुराण वास्तुशास्त्र के विस्तृत विषय को पौराणिक परम्परा के अनुसार प्रस्तुत करते हैं। मत्स्य०, अग्नि०, मार्कण्डेय० और गरुण० इसी प्रकार के पुराणो में है। अतः द्वारका की वास्तुकला का तुलनात्मक अध्ययन कृष्णचरित्र को प्रधानता देने वाले पुराणो के द्वारा ही हो सकता है।

हरिवंश में द्वारका को 'द्वारवती' तथा 'द्वारशालिनी' कहा गया है।[1] द्वारका के लिए द्वारशालिनी शब्द का प्रयोग इस नगरी के स्थापत्य सम्बन्धी महत्त्व का परिचय देता है। विष्णु० में जरासन्ध के भय से मथुरा से द्वारका आकर कृष्ण के द्वारा इस नगरी के निर्माण का उल्लेख है। विष्णु० में द्वारका के स्थापत्य को अधिक महत्त्व नही दिया गया है। विष्णु० के अन्तर्गत द्वारका का वर्णन अन्य साधारण नगरो के वर्णन की भांति सामान्य रूप से हुआ है। द्वारका के वर्णन में अट्टालिका, हर्म्य, गोपुर गवाक्ष तथा तोरण का उल्लेख पुराणो की वास्तुकला में लगभग समान रूप में मिलने के कारण कोई विशेषता नही रखता।[2]

भागवत में कृष्णचरित्र के अन्तर्गत द्वारका की वास्तुकला विष्णु० का अनुसरण करती है। यहाँ पर विविध वृत्तान्तों के अन्तर्गत नगरों की भाँति द्वारका की वास्तुकला का वर्णन साधारण रूप से किया गया है।[3] किन्तु वास्तुकला की दृष्टि से भागवत, हरिवंश तथा विष्णु० से अधिक विस्तार के साथ स्थापत्य-सम्बन्धी संज्ञाओं को प्रस्तुत करता है। भागवत के आठवें स्कन्ध में स्वर्ग की स्थापत्यकला का प्रदर्शन हुआ है। इस प्रसंग में वास्तुकला के कुछ अंग पुराणो में मिलने वाली साधारण वास्तु कला को प्रस्तुत करते हैं। स्फटिकमय गोपुर, वज्रविद्रुम वेदियों से जटित कपाट तथा हैमजालाक्ष इस स्थल में प्रस्तुत की गयी वास्तुकला में प्रमुख नमूने हैं।[4] गोपुरों में स्फटिक मणियों और कपाटों में हीरे तथा विद्रुमों की पंक्तियाँ भागवत में प्रस्तुत की गयी वास्तुकला की विशेषता का परिचय देती हैं। हैमजालाक्ष निश्चय ही स्वर्णनिर्मित जालीयुक्त खिड़कियों की सूचना देते हैं।

१. हरि० २.९१.२० २. विष्णु० ५. २३ १३-१४
३. भाग० १०. ५०. ५०-५४ ४. भाग० ८. १५. १४-२१

ब्रह्म० विषयसामग्री तथा शैली की दृष्टि से हरिवंश से समानता रखने पर भी वास्तुकला की दृष्टि से हरिवंश से बहुत पीछे है। विष्णु० तथा भागवत की भाँति ब्रह्म० में भी द्वारका का वर्णन साधारण स्थापत्यकला का परिचायक है।[1] अत स्थापत्यकला के दृष्टिकोण से ब्रह्म० का कोई अधिक महत्व नही है।

पद्म० स्थापत्यकला के क्षेत्र में विष्णु०, भागवत, तथा ब्रह्म० का अनुसरण करता है। द्वारका तथा अन्य नगरो के वर्णन में पद्म० के अन्तर्गत स्थापत्यकला की पौराणिक परम्परा मिलती है।[2]

ब्रह्मवैवर्त्त में वास्तुकला के अध्ययन के लिए प्रभूत सामग्री है। इस पुराण के अन्तर्गत वास्तुकला का विकसित रूप मिलता है। यहाँ पर कृष्ण के बाल-वर्णन में विश्वकर्मा के द्वारा व्रजमण्डल के निर्माण का उल्लेख है। व्रज का रासमण्डल, उच्च अट्टालिकाओ, उद्यानो तथा तालावो से युक्त कहा गया है।[3] व्रजमण्डल के बीच साकेतिक मणिस्तम्भ, वेदियो से युक्त राजमार्ग तथा मणिमण्डप का उल्लेख है।[4] रासमण्डल के मध्य में रत्नमण्डल का वर्णन है। यह रत्नमण्डल चार वेदिकाओ से सुशोभित नौ द्वार और तीन करोड रत्नकलशो से पूर्ण है।[5] ब्रह्मवैवर्त० में रासमण्डल का निर्माण पौराणिक क्षेत्र में नवीन वस्तु है। हरिवंश, ब्रह्म०, विष्णु० और भागवत में रास का क्षेत्र यमुना का तटप्रदेश है। रास के प्रसग में इन पुराणो के अन्तर्गत किसी विशेष प्रकार की गृहनिर्माण-कला के दर्शन नही होते। ब्रह्मवैवर्त० में रासमण्डल का निर्माण रास-स्थली के कृत्रिम स्वरूप को प्रस्तुत करता है। रासमण्डल वास्तुकला का उत्तर-कालीन रूप प्रस्तुत करने के साथ रास की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कृत्रिमता का सूचक है।

द्वारका वर्णन का प्रसग विष्णु०, भागवत, ब्रह्म० और पद्म० की भाँति ब्रह्मवैवर्त्त० में भी कोई कलात्मक विशेषता नही रखता। द्वारका को यहाँ पर अन्य पुराणो के सामान्य वृत्तान्त की भाँति धन तथा मणियो से सम्पन्न चित्रित किया है। कृष्ण के आदेशानुसार विश्वकर्मा के द्वारा प्रत्येक सम्बन्धी के लिए अलग-अलग निवासस्थान बनाने का वर्णन है। यहाँ पर वसुदेव का प्रासाद वास्तुकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण

१. ब्रह्म० १९६ १३-१४ २ पद्म० उत्तर २७३ ४०-४२
३. ब्रह्मवैवर्त्त० कृष्ण० १७. ८-२१
४. " " १७. १४६-१६२
५. " " १७. १६३-१७८. ५

है। वसुदेव के प्रासाद को परिष्कृत 'सर्वतोभद्र' कहा गया है। वास्तुशास्त्र में सर्वतोभद्र नामक विशाल प्रासाद के लिए लक्षण मिलते हैं।[1] मानसार में भी 'भद्र' का अर्थ स्तम्भयुक्त प्रागण अथवा मण्डप (Portico) बतलाया गया है। अत व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वतोभद्र का अर्थ चारो ओर से स्तम्भ युक्त प्रागण वाला प्रासाद होता है।[2] मानसार के अन्य स्थल (PKA Mānsāra Vol IV. P. 391) में दी गयी सर्वतोभद्र की परिभाषा इसी प्रासाद की पूर्वोक्त परिभाषा से सामजस्य रखती है। अत सर्वतोभद्र अनेक स्तम्भयुक्त प्रागण से घिरा हुआ विशाल प्रासाद (भवन) ज्ञात होता है।

ब्रह्मवैवर्त्त० में मूर्तिकला का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। मूर्तिकला इस वास्तुकला की एक महत्त्वपूर्ण अग ज्ञात होती है। भवनो की सजावट के दृष्टिकोण से इनका अनेक स्थलो में उल्लेख हुआ है। यहाँ पर गोलोक में निवास करने वाले कृष्ण के भवन को रत्नो से जटित लघुकलश, चित्रपुत्तलिका तथा पुष्प और चित्र-कानन से युक्त कहा गया है।[3] गोवर्धनधारण के प्रसग में कृष्ण के गोवर्धन पर्वत के धारण

१. ब्रह्मवैवर्त० कृष्ण० १०३. १४–२७. २७–आश्रमं सर्वतोभद्रं वसुदेवस्य मत्पितुः।
PKA : Dict. Hindu Archite V. I, P 624-625—A Class of Mandapa or Pavilions;(XXXIV. 558) a type of Sālā or hall (XXXV. 4) P.K.A. Archit Māna—Vol V, P. 40—सर्वतोभद्र—comprising 7 rows of buildings used generally by the Abhirāj (Mahārājas) and other inferior classes of Kings P. K. A. Archi. Mānasāra Vol IV, P. 391 सर्वतोभद्र—should be square, it being divided into eight parts, the central courtyard should be of four parts and the surrounding verandah of one part around, the mansion proper should be made of the two surrounding parts and it should be furnished with four halls.

२. P. K. A. Archi. Mānasāra Vol IV, P. 391—भद्र—portico.

३. ब्रह्मवैवर्त्त० कृष्ण० ५. ८६–सद्रत्नक्षुद्रकलशसमूहैश्च समन्वितम्।
चित्रपुत्तलिकापुष्पचित्रकाननभूषितम् ॥

करने पर विस्मित गोप तथा नन्द को भित्ति में चित्रपुत्तलिका की भाँति मूक तथा विस्मित चित्रित किया गया है।[1] इन वर्णनों में भित्ति की चित्रपुत्तलिका के उल्लेख के द्वारा तत्कालीन स्थापत्यकला में इनके व्यापक प्रयोग का ज्ञान होता है।

ब्रह्मवैवर्त्त० में चित्रपुत्तलिकाएँ तत्कालीन वास्तुकला में स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं। गोकुल से वृन्दावन जाने के प्रसंग में गोपिकाओं को पुत्तलिकाओं से युक्त वर्णित किया गया है।[2] सम्भवतः पुत्तलिकाएँ ब्रह्मवैवर्त्त० के काल में जनसाधारण की क्रीडा तथा विलास की सामग्री के रूप में प्रचलित थीं। इन पुत्तलिकाओं के निर्माण की सामग्री के अनुल्लेख के कारण इनके निर्माण की क्रिया अज्ञात रह जाती है।

चित्रपुत्तलिकाओं को भित्तियों, फलकों अथवा पत्रों पर अंकित चित्रकला का अंग नहीं माना जा सकता। गोलोक वर्णन में चित्रपुत्तलिका, पुष्प तथा चित्रकानन के उल्लेख से इनके भित्तिचित्र-रूप की सम्भावना होती है।[3] किन्तु वृन्दावन-गमन के प्रसंग में गोपिकाओं के हाथों में पुत्तलिकाएँ इनके मिट्टी, पत्थर अथवा काष्ठ से निर्माण की सूचना देती हैं। भित्तिचित्र होने पर इन पुत्तलिकाओं के वर्णन के प्रसंग में तूलिका तथा वर्णों का उल्लेख अवश्य होता। ब्रह्मवैवर्त्त० के अन्तर्गत पुत्तलिकाओं के वर्णन में भित्तिचित्र की इन सामग्रियों का अभाव पुत्तलिकाओं के मूर्ति-रूप का परिचय देता है। अतः गोलोक-वर्णन में चित्रकानन का उल्लेख पत्थर अथवा काष्ठ को काट कर बनाये गये पुष्पों तथा वृक्षों को सूचित करता है।

पुराणों की वास्तुकला में मत्स्य० का स्थान महत्त्वपूर्ण है। कारण यह है कि मत्स्य० भारतीय वास्तुकला के विभिन्न अंगों को अत्यन्त विस्तार के साथ प्रस्तुत करता है। मत्स्य० में प्रासाद-लक्षण के अन्तर्गत विविध प्रकार के भवनों के निर्माण की विधि का वर्णन है। प्रतिमा-लक्षण के अन्तर्गत देवालयों में प्रतिमाओं के निर्माण की विधि तथा उनके आकार का नाप-सहित वर्णन हुआ है।[4] देवालयों में तोरण के ऊपर देवदुन्दुभी से युक्त विद्याधर-युगल का उल्लेख है।[5] प्रतिमा तथा उनके बाह्य भाग का यह वर्णन भारतीय वास्तुशास्त्र में नवीन सामग्री जोड़ देता है।

१. ब्रह्मवै० कृष्ण० २१.१६७—सर्वे तस्थुश्चित्रकारा भित्तौ पुत्तलिका यथा।
२. ,, ,, १६.१६६—पुत्तलिकाकरा।
३. ,, ,, ५.८६ ४. मत्स्य० २५८–२६२
५. मत्स्य० २५८–११—तोरणं चोपरिष्टात्तु विद्याधरसमन्वितम्।
देवदुन्दुभिसंयुक्तं गन्धर्वमिथुनान्वितम्॥

पुराणो की वास्तुकला का सामान्य रूप महाभारत में भी मिलता है। प्राकार, गोपुर, तोरण, अट्टालिका, हर्म्य तथा गवाक्ष सर्वमान्य तथा सामान्य वास्तुकला के उदाहरण हैं। महाभारत आरण्यपर्व में मिथिला को हर्म्य, प्राकार तथा विमानो से युक्त और अट्टालकवती कहा गया है।[1] महाभारत के अन्तर्गत मय के द्वारा इन्द्रप्रस्थ के निर्माण का प्रसग वास्तु-कला की विकसित अवस्था की ओर सकेत करता है।[2] पाण्डवो के भवन की जलमय भूमि पर स्थल का तथा स्थल पर जलमय भूमि का भ्रम स्थापत्य-कला के उन्नतिकाल का सूचक है।[3] महाभारत के अन्तर्गत नगरो के वर्णन में वास्तुकला की विकसित अवस्था मिलती है।[4] इसी कारण महाभारत की वास्तुकला प्रत्येक दृष्टिकोण से पुराणो की वास्तुकला की समकक्ष है।

रामायण की वास्तुकला महाभारत से अधिक विकसित है। इस काव्य में वास्तु तथा चित्रकला का समन्वय महाभारत से भिन्न वास्तुकला की विशेषता का परिचय देता है। भित्तिचित्र-कला रामायण-कालीन वास्तुकला का महत्त्वपूर्ण भाग ज्ञात होती है।[5] रामायण में प्रासादो के निर्माण की सामग्री के रूप में काष्ठ का उल्लेख हुआ है। ज्ञात होता है, रामायण-काल में उत्कृष्ट भवनो के निर्माण के साधन के रूप में काष्ठ का भी अत्यन्त प्रचार था।

मत्स्य० में वर्णित विद्याधर-युगल के चित्र की प्रामाणिकता तथा प्राचीनता का समर्थन श्री जायसवाल ने किया है। जायसवाल के अनुसार उत्तरकाल की भारतीय वास्तुकला में द्वार पर अप्सराओ का मूलरूप मत्स्य० के सदृश भारतीय वास्तुशास्त्र सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थो में देखा जा सकता है। मत्स्य० में वर्णित वास्तुकला को जायसवाल ने तृतीय शताब्दी का माना है। तोरणो के द्वाररक्षक के रूप में विद्याधर, सिद्ध, तथा यक्षो के मूलरूप को उन्होने वैदिक विचार धाराओ और कल्पनाओ में दिखलाया है।[6] जायसवाल के द्वारा मत्स्य० की वास्तुकला की निर्धारित तिथि

१. महा० ३ १७१. ६–७ २. महा० २. ३. ३०–३८

३. महा० २. ३. ३८– मणिरत्नचिता ता तु केचिदभ्येत्य पार्थिवा ।
दृष्ट्वा न सम्प्रजानन्ति ते ज्ञानात् प्रयतन्त्युत ॥

४. महा० ५. ९१. ३; १. १८५, १९, २०, २२; १५. १६. १; १४. २५. २२

५. रामायण २. १५. ३५; ५. ६ ३६, ३७; ४. ३५ २३–२५; ४. २६. ५

6. K P J His of Ind p 44-45—The Hindu temples of various types and the Hindu gods and the goddesses of various

विश्वसनीय प्रतीत होती है। श्री दीक्षितार ने भी अनेक प्रमाणों के आधार मत्स्य० का काल तृतीय शताब्दी माना है।[1]

पौराणिक वास्तुकला प्राग्बौद्ध होने के कारण भारतीय वास्तुकला का विशुद्ध रूप प्रस्तुत करती है। भारतीय बौद्ध स्थापत्यकला से भिन्न तथा विदेशी कलाओं के प्रभाव से दूर होने के कारण पुराणों की वास्तुकला अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

वास्तु-सम्बन्धी सामग्री को कम मात्रा में प्रस्तुत करने के कारण हरिवंश इस सामग्री को विस्तार के साथ प्रस्तुत करने वाले पुराणों से प्रारम्भिक ज्ञात होता है। सम्भवतः हरिवंश के काल तक स्थापत्य-कला के लक्षणों को समाविष्ट करने की प्रवृत्ति सर्वमान्य नहीं हो पायी थी। इसके विपरीत अग्नि० तथा गरुड० में वास्तुकला के लक्षणों का अनिवार्य रूप उत्तरकालीन की इस प्रवृत्ति का परिचय देता है।[2] प्रारम्भिक पुराणों में विविध कलाओं तथा विद्याओं के लक्षण लगभग नहीं मिलते। मत्स्य०प्रारम्भिकता के दृष्टिकोण से वायु०, ब्रह्म० विष्णु० और भागवत के समान होने पर भी वास्तु-सम्बन्धी विषय को प्राधान्य देता है। सम्भवतः वास्तुकला के विकास काल में मत्स्य० के संग्रहकर्त्ताओं का ध्यान वास्तुकला के लक्षणों को मत्स्य० में प्रामाणिक स्थान देने की ओर गया था। इसी कारण वास्तुसम्बन्धी समस्त विषय

forms existed before 300 A D is proved by their elaborate and scientific treatment in the Matsya. The origin of the Apsarā-motives is not to be found in Buddhism and Jainism but in the Hindu texts (e g Matsya) which go back to 3rd century The Hindu texts lay down that the doorways must be decorated with Gandharva-Mithunas (Matsya 257 13-19) (Visnu temple) and that अप्सरा s and others must be sculptured on the temples On सिद्ध s, यक्ष s Hindu temples they all have a meaning mystic (यौगिक) and traditional dating back to Vedic age and Vedic conceptions are connected with the previous history of Hindu mythology

1 V R. R. Dikshitar Matsya P A Study —P 51

२ अग्नि० २५-६०, ४६-४८

को मत्स्य० में सगृहीत किया गया है। मत्स्य० के अन्तर्गत राजनीति के नियमो का व्यापक वर्णन[1] प्राचीन पौराणिक सामग्रीके अन्तर्गत नही गिना जा सकता। राजनीतिके नियमो को मत्स्य० में समाविष्ट करने के पीछे भी सम्भवत यही अर्वाचीन प्रवृत्ति है।

हरिवश में वर्णित वास्तुशास्त्र सम्बन्धी विशेषताओ का विवरण वास्तुशास्त्र के प्रामाणिक पुराण मत्स्य० में मिलता है। मत्स्य० में हरिवश के अन्तर्गत वर्णित प्रत्येक आकार के प्रासादो की विशेषता का वर्णन है। मेरु प्रासाद को सोलह-मजिला, चार शिखर तथा चार द्वारो से युक्त प्रासाद कहा गया है।[2] कैलास प्रासाद छ मजिला तथा ऊँचे शिखर से युक्त कहा गया है।[3] गरुड प्रासाद के वर्णन में प्रासाद के चार विभाग करने का उल्लेख है। दो भागो में वाम तथा दक्षिण रथो का निर्माण किया जाता है। शेष दो भागो से गरुड के कर्णयुगल की रचना की जाती है। प्रासाद के अर्द्धभाग से दो पक्षो की रचना की जाती है।[4] गज प्रासाद में गजाकृति प्रासाद की रचना का वर्णन है।[5] अन्य प्रासादो का निर्माण बनाये जाने वाले उपकरणविशेष की आकृति पर निर्भर है।

हरिवश में वास्तुकला सम्बन्धी सामग्री अर्वाचीन पुराणो की भाँति पौराणिक परम्परावश नही मिलती। हरिवश की यह सामग्री मत्स्य० की भाँति वास्तुशास्त्र में स्वतन्त्र महत्त्व भी नही रखती। हरिवश के अन्तर्गत वास्तुशास्त्र सम्बन्धी विषय सामग्री मत्स्य० और अग्नि०की भाँति स्वतन्त्र अध्यायो में वर्णित नही है। वृत्तान्तो के क्रम में वह स्वाभाविक रूपसे मिलती है। हरिवशकालीन वास्तुकला एक विकसित कला है। इसका ज्ञान इस पुराण में मिलने वाले विविध प्रासादो की आकृतियो तथा नामावली से मिलता है। आयत, चतुरस्र, वृत्त तथा स्वस्तिक, ये चार प्रकार के प्रासाद हरिवश० में मिलते है।[6] इन प्रासादो की विभिन्न आकृतियो के अनुसार मेरु मन्दर, कैलास, गज, क्रौंच, शुक आदि नामावली प्रासाद के विविध भेदो को प्रस्तुत करती है।[7] प्रासादो की इस नामावली में क्रौंच तथा शुक नाम हरिवश के अतिरिक्त

१. मत्स्य० २२०–२२७

२. मत्स्य० २६९. ३१– शतशृंगचतुर्द्वारो भूमिकाषोडशोच्छ्रितः।
नानाविचित्रशिखरो मेरुः प्रासाद उच्यते॥

३. मत्स्य० २६९. ३२, ४७, ५३

४. मत्स्य० २६९. ४१. ४३, ५१

५. मत्स्य० २६९. ३६, ४१, ४९, ५३

६. हरि० २. ८८. ५८

७. हरि० २. ८८. ५९–६१

अन्य वास्तुकला सम्बन्धी ग्रन्थो में नही मिलते। हरिवश में द्वारका नगरी के निर्माण के पूर्व स्थान का चुनाव और चार वास्तुदेवताओ की पूजा का विषय भी[1] वास्तुकला का महत्वपूर्ण अग प्रस्तुत करता है। इस पुराण में वास्तु सबधी विषय विस्तार रूप में नही मिलते, किन्तु वास्तुकला के अनेक तत्त्वो पर प्रकाश डालने के कारण हरिवश तत्कालीन वास्तुकला का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है।

१. हरि० २.५८.१६–१८

सातवाँ अध्याय

ऐतिहासिक परम्पराएँ

पुराणो के विविध विषयो में इतिहास-तत्त्व महत्त्वपूर्ण है। पुराणपचलक्षण के अन्तर्गत 'वश', 'मन्वन्तर' तथा 'वशानुचरित' पुराणो के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए प्रभूत सामग्री प्रस्तुत करते है। 'वश' के अन्तर्गत प्राचीन राजाओ की विस्तृत वशावलियाँ है। 'मन्वन्तर' में युगो के काल का निर्धारण किया गया है। 'वशानुचरित' में किसी राजा के जीवन से सम्बद्ध वृत्तान्तो का वर्णन होता है। वशवर्णन के प्रसग में किसी महान् राजा के चरित्र का गान कभी कभी सक्षेप में गाथाओ के द्वारा होता है। पुराणो की ये गाथाएँ अभिलेखा की प्रशस्तियो की भाँति राजाओ के व्यक्तित्व और चरित्र का सूक्ष्म परिचय देती है। पुराणो के वश, मन्वन्तर, वशानुचरित तथा गाथाओ के द्वारा उनकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है।

पुराणो के गम्भीर अध्ययन के द्वारा प्रामाणिक वशवृत्तो की वास्तविकता अनेक विद्वानो के द्वारा स्वीकृत हो चुकी है।[1] पुराणो के द्वारा भारतीय इतिहास

1 V A Smith The Ear His of Ind P 10—Modern European writers have been included to disparage unduly the authority of the Puranic lists, but closer study finds in them much more genuine and valuable historical tradition For instance the Visnu P gives the outline of the history of the Maurya dynasty with a near approach to accuracy and the Radcliffe manuscript of the Matsya is equally trustworthy for the Āndhra history

D R Patil Cul His from the Vayu p 2 (introduction)—Recently Altekar in his presidential address to the Indian History Congress, 1939, has tried to show how the pre-Bharata War history of India can be reconstructed from

के आन्ध्र, वाकाटक, भारशिव और गुप्त वंशों का इतिहास स्पष्ट हो जाता है।[1] अतः पुराणों में इतिहास के अध्ययन के लिए बहुमूल्य सामग्री है।

राजवंशों की अधिकता के कारण हरिवंश में वंशावलियों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वायु०, ब्रह्माण्ड, ब्रह्म० तथा कुछ अंश तक मत्स्य० से तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा इन सभी पुराणों में हरिवंश के राजवंशों का स्थान निर्धारित किया जा सकता है। राजवंशों के वर्णन के साथ वंशावलियों में उपलब्ध कुछ ऐतिहासिक विशेषताओं की ओर भी संकेत किया गया है।

हरिवंश के अन्तर्गत उत्तर पांचाल वंश की ऐतिहासिकता का निर्णय श्री पार्जिटर ने किया है।[2] अतः हरिवंश के उत्तर पांचाल राजवंश पर विचारविमर्श करने के लिए इस अध्याय में कोई नवीन सामग्री नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि

the evidence of the Purānas and epics with the help of the Vedic evidence.

1. K. P. Jayaswal, His. Of Ind. P. 33—The Purānas are full on the Vākātaka and Gupta empires. The chronicles of those periods seem to have composed in the Vākātaka country, wherein the Vākātaka secretariat, the details of both are available The imperial system of the Āndhras is also *attempted in the Purāṇas by recording their feudatories.* The Purāṇas have followed a system of going back to the beginning of a dynasty from a critical point and giving an earlier history of the imperial families This they have done in the case of the Āndhras, the Vākātakas and the Nāgas

2. F E. P : JRAS 1918 P. 229—The dynasty of the North Pāncāla, is the most important because of the important kings in this line. The Vāyu, Matsya, Harivansa snd Brahma based on a common original, but now form 2 versions. The Vāyu and the Matsya generally agree though with variations, in former having the older text. The Brahma & Hariv. largely agree, the former having the better text.

से महत्त्वहीन अंशो पर भी कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। महत्त्वहीन विषयो पर विवेचन केवल इस अध्याय के विस्तार का कारण होगा।

पुराण निर्माता सूत पुराणो की मूल ऐतिहासिक प्रवृत्ति के प्रबल प्रमाण हैं। पुराणो में सूतो को 'वंशशंसक', 'पौराणिक' और 'स्तावक' कहा गया है।[1] 'वंशशंसक' तथा 'पौराणिक' यह दो विशेषण वंशावलियो के संग्रह तथा उनके स्पष्ट वर्णन में सूतो के उत्तरदायित्व की ओर संकेत करते हैं। वायु० में 'इतिहास-पुराण' के अन्तर्गत सुरक्षित देव, ऋषि तथा राजाओ के वंशो का वर्णन सूतो का कर्तव्य माना गया है।[2]

वंशावलियो की सुरक्षा का उत्तरदायित्व केवल सूतो तक ही सीमित नही ज्ञात होता। हरिवंश के प्रारम्भ में जनमेजय सिद्ध वक्ता वैशम्पायन को 'वंशकुशल' तथा राजाओ को प्रत्यक्षवत् चित्रित करने वाले कहते है।[3] ज्ञात होता है कि राजगृहो के सम्पर्क में आने वाले विद्वान् ब्राह्मणो पर देवता, ऋषि तथा राजाओ के वंशो के क्रम रखने का उत्तरदायित्व था। 'प्रत्यक्षदर्शिवान्' विशेषण के द्वारा विद्वान् ब्राह्मणो से सुरक्षित ऐतिहासिक परम्परा को सूतो की ऐतिहासिक परम्परा से भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न दिखलाई देता है। ज्ञान के द्वारा उचितानुचित में भेद स्थापित कर वे शुद्ध रूप को प्रत्यक्ष प्रस्तुत करने के कारण ही कदाचित् इनके लिए 'प्रत्यक्षदर्शिवान्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

पुराणलक्षण के अन्तर्गत आने के कारण वंशावलियाँ लगभग सभी प्रारम्भिक पुराणो में मिलती हैं। पुराणलक्षण का पालन न करने वाले अर्वाचीन पुराणो में वंशावलियो का स्थान प्राय नगण्य है। ब्रह्मवैवर्त्त०, बृहन्नारदीय० और बृहद्धर्म० आदि इस कोटि में आते हैं। पुराण-पंचलक्षण का पालन करने वाले पुराणो में हरिवंश,

१ गर्ग सं० गोलोक खण्ड 12 36 Ind Ant 1893 Vot XXII P 253 में उद्धृत।

२ वायु० १ ३१. २—स्वधर्म एव सूतस्य सद्भिर्दृष्ट पुरातन ।
देवतानां ऋषीणां च राज्ञां चामिततेजसाम् ॥
वंशानां धारण कार्यं श्रुतानां च महात्मनाम् ।
इतिहासपुराणेषु दिष्टा ये ब्रह्मवादिभि ॥

३. हरि० १. १. १६—भवांश्च वंशकुशलस्तेषां प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
कथयस्व कुल तेषां विस्तरेण तपोधन ॥

ब्रह्म०, वायु०, ब्रह्माण्ड०, विष्णु० मत्स्य० तथा भागवत प्रमुख है। हरिवंश तथा ब्रह्म० की वंशावलियाँ बहुत अधिक समानता रखती है। वायु तथा ब्रह्माण्ड० की वंशावली हरिवंश-ब्रह्म० से भिन्न परम्परा को प्रस्तुत करती है। मत्स्य पुराण, वायु० तथा ब्रह्माण्ड० से अनुप्राणित ज्ञात होता है। भागवत तथा विष्णु० राजाओ के वंशवृत्तो का चित्रण करते हुए भी वंशवृत्तो की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय नही माने जा सकते। वंशावलियो की तुलना करने पर विष्णु तथा भागवत की वंशावलियो में काल्पनिकता का अंश अधिक दिखलाई देता है। इन दो पुराणो की वंशावलियाँ हरिवंश, ब्रह्म०, ब्रह्माण्ड०, वायु० तथा मत्स्य० की वंशावलियो के बिगडे पाठ को प्रस्तुत करती है। किन्तु गुप्त राजाओ की वंशावली को प्रस्तुत करने के कारण विष्णु० तथा भागवत भी ऐतिहासिक दृष्टिसे मान्य पुराण है।

आधुनिक विद्वान् वायु० तथा ब्रह्माण्ड० पार्जिटर की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को स्वीकार करने में एक-मत है। श्री पार्जिटर ने वायु० तथा ब्रह्माण्ड० को वंशावलियो का प्रामाणिक-तम स्रोत माना है।[1] श्री जायसवाल ने पचलक्षणो का पालन करने वाले पुराणो की ऐतिहासिक उपादेयता की ओर सकेत करते हुए उनमें वाकाटक तथा भारशिव राजपरम्परा के अध्ययन के लिए नवीन सामग्री दिखलायी है।[2] पचलक्षणो का पालन करने वाले पुराणो में हरिवंश, ब्रह्म०, मत्स्य०, विष्णु० तथा भागवत भी आते है। किन्तु जायसवाल का सकेत यहाँ पर वायु० की ऐतिहासिक सामग्री के लिए है। पुराणो की इस एतिहासिक सामग्री के अभाव में भारशिव, वाकाटक तथा अन्य राजाओ का इतिहास अन्धकाराच्छन्न रहता।

1. Pargiter AIHT p 24—This account of the origin of the Purānas is supported by copious direct allusions to ancient tradition in the Purānas These might be cited from many Purānas, but will be taken here chiefly from the Vāyu, & Brahmānda, which have the oldest version in such traditional matters
2. Jayaswal . His, of Ind P. 32—The position of the Nava Nāgas both chronological and territorial is accurately given by the Purānas

वायु० तथा ब्रह्माण्ड० की परम्परा के बाद दूसरी प्रामाणिक ऐतिहासिक परम्परा हरिवंश तथा ब्रह्म० की मानी गयी है।[1] इस श्रेणी में ब्रह्म० हरिवंश का अनुकरण करता हुआ दिखलाई देता है। कारण यह है कि दोनों पुराणों की वंशावलियों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि ब्रह्म० जहाँ पर अशुद्ध अथवा भ्रान्त मत प्रस्तुत करता है, वहाँ पर हरिवंश शुद्ध तथा निश्चित परम्परा का पोषक दिखलाई देता है। इसी कारण पार्जिटर ने अन्य अनेक पुराणों से तथा ब्रह्म० से हरिवंश में दिये गये राजवंशों को अधिक प्रामाणिक माना है।[2]

पुराणों की ऐतिहासिक सामग्री के क्षेत्र में श्री किरफेल का अध्ययन अन्य महत्त्वपूर्ण विषय है। उन्होंने हरिवंश तथा ब्रह्म० को ऐतिहासिक सामग्री के दृष्टि-कोण से सर्वोच्च स्थान दिया है। उन्होंने पुराणों की प्रारम्भिकता तथा अर्वाचीनता के अनुसार उनकी तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं। ब्रह्म० तथा हरिवंश इस प्रकार के पुराणों की प्रथम श्रेणी में आते हैं। वायु० तथा ब्रह्माण्ड० दूसरी श्रेणी के पुराण हैं। मत्स्य० पुराणों की तीसरी श्रेणी में आता है। इन तीनों श्रेणियों में ब्रह्म०, हरिवंश को किरफेल प्राचीनतम निश्चित करते हैं[3]। उनका यह कथन ब्रह्म०-हरिवंश को वायु०-ब्रह्माण्ड० के पाठ से निम्न सूचित करने वाले पार्जिटर के कथन का विरोध करता है। यह कथन हरिवंश तथा ब्रह्म० के विषय में प्रामाणिक विचारों को प्रस्तुत करने के कारण पार्जिटर के कथन से अधिक विश्वसनीय ज्ञात होता है।

1. Jayaswal : His. of Ind. P. 24.
2. Pargiter : AIHT P. 78—The Hariv. Text is better than the Brahma, for the latter has suffered through losses; thus it is manifestly incomplete in the North Pāncāla genealogy and most copies of it omit the Cedi Magadha dynasty descended from Kuru.
3. Ramanuj JOVI. Vol. No. 1 p. 29—We find in the Purāṇas these complete compositions of this text, viz. that of the Brahma and the Hariv., that of the Brahmānda and the Vāyu, and that of the Matsya. Of the first named two compositions—that of the Brahma and Hariv. is doubtless the oldest, thus not of the Brahmānda—Vāyu as Pargiter supposes.

क्षत्रिय राजवंश-परम्पराएँ

हरिवंश के प्रारम्भ से लेकर हरिवंश पर्व के उनतालीस अध्याय तक मन्वन्तरों तथा वंशों का वर्णन है। मन्वन्तर तथा वंशों के बीच विश्लेषणात्मक वृत्तान्तों के रूप में श्राद्धकल्प तथा राजाओं के चरित्रों के वृत्तान्त आ जाते हैं। श्राद्धकल्प और राजाओं के चरित्रचित्रण के कारण राजवंश के वर्णन का क्रम टूट जाता है। किन्तु 'वंशानुचरित' शब्दार्थ के अनुसार वंशवर्णन के बीच में किसी राजा के चरित्र का वर्णन स्वाभाविक है।

हरिवंश में राजवंशों का वर्णन अन्य पुराणों के वंशवर्णन से भिन्न है। हरिवंश की वंशावली जनमेजय के बाद समाप्त हो जाती है। वायु०, विष्णु० तथा मत्स्य० की वंशावलियाँ जनमेजय के बाद कलियुग के राजाओं का वंशक्रम भी प्रस्तुत करती हैं। हरिवंश के वंशक्रम में राजाओं के राज्यकाल का उल्लेख नहीं है। वायु०, विष्णु० तथा मत्स्य० में राजाओं के राज्यकाल का स्पष्ट उल्लेख है।[1] इन पुराणों में भी राज्यकाल का उल्लेख केवल भविष्यकालीन राजाओं के वर्णन में हुआ है।

हरिवंश के वंशवर्णन की ये विशेषताएँ इस पुराण की ऐतिहासिक सामग्री में नवीन तत्वों का समावेश करती हैं। हरिवंश के इस स्थल में जनमेजय के बाद के केवल तीसरी पीढ़ी के राजा अजपार्श्व से यह वंश समाप्त हो जाता है।[2] किन्तु ब्रह्म०, वायु०, मत्स्य० तथा विष्णु० हरिवंश से भिन्न जनमेजय के बाद के राजाओं की एक लम्बी सूची देते हैं।[3] यहाँ पर हरिवंश अन्य पुराणों की प्रवृत्ति से भिन्न होने के कारण इन पुराणों से पूर्ववर्ती ज्ञात होता है। ब्रह्माण्ड० वायु० परस्पर समानता रखने पर भी कुछ स्थलों में हरिवंश से भिन्न वंशावलियाँ देते हैं। हरिवंश में काशी राजवंश के

१. वायु० उ० अनु० ३७.२५५–२५६—वर्षाग्रतोऽपि प्रब्रूहि नामतश्चैव तान्नृपान्।
कालं युगप्रमाणं च गुणदोषान् भविष्यत:॥
" " " ३७. २९१–४१८; विष्णु० ४. २१–२४; मत्स्य ५० ६९–७०

२. हरि० ३. १. ३–१६

३. ब्रह्म० १३. १२३–१३८; वायु० अनुषंग ३७. २४८–२५२; मत्स्य० ५०. ६३–४०। विष्णु० ४. २१. १–८

अन्तर्गत भर्ग तथा भार्गवो का स्पष्ट प्रसग[1] ब्रह्माण्ड और वायु० में अशुद्ध रूप में मिलता है।[2] वायु० और विष्णु० अतीत के राजवशक्रम के वर्णन के बाद भविष्यकालीन राजाओ का वर्णन करते है। अतीत और भविष्य के बीच वर्तमान राजाओ के वर्णन से पुराण के सग्रह-काल पर थोडा बहुत प्रकाश पडता है। वायु० में इक्ष्वाकुवशी दिवाकर नामक राजा को 'वर्तमान काल' में अयोध्या के शासक के रूप में माना गया है।[3] मगधवशी राजाओ में सेनजित् वर्तमान राजा माना गया है।[4] पौरव वशपरम्परा मे अर्जुन के वशज अधिसीमकृष्ण को वर्तमानकालीन राजा कहा गया है।[5] इक्ष्वाकुवशी दिवाकर, मगधवशी सेनजित् और पौरव अधिसीमकृष्ण के एक ही काल में उल्लेख के आधार पर इन तीनो राजाओ की समकालीनता नही सिद्ध की जा सकती। इन राजाओ के वश का वर्णन करने वाले ये स्थल एक काल के न होने के कारण पूर्ववर्णित राजाओ की समकालीनता के पोषक नही हो सकते। अतः इन स्थलो में प्रयुक्त 'साम्प्रत' शब्द के द्वारा प्रत्येक स्थल के सग्रहकाल में जीवित राजा का ही ज्ञान होता है। हरिवश में वर्तमान काल के राजा के उल्लेख का अभाव इस पुराण को अन्य पुराणो की साम्प्रत राजाओ के उल्लेख की परम्परा से भिन्न सूचित करता है। विष्णु० में भी इक्ष्वाकु, पौरव तथा मगधवशी राजाओ की भविष्यकालीन वशावली में क्रमश दिवाकर, अधिसीमकृष्ण और सेनजित् का नामोल्लेख है। किन्तु विष्णु० में इन राजाओ को 'साम्प्रत' राजा नही कहा गया है।

हरिवश में राज्यकाल के उल्लेख का अभाव तथा वायु०, विष्णु० और मत्स्य० में इनका स्पष्ट उल्लेख हरिवश को वायु० तथा मत्स्य० की परम्परा से भिन्नकर देता है। भविष्यकालीन राजाओ के राज्यकाल का उल्लेख कर के यह पुराण ऐतिहासिक क्षेत्र में बहुत प्रकाश डालते है। प्राग्बौद्ध इतिहास के प्रामाणिक स्रोतो के अभाव के कारण इतिहासज्ञ लोग इन पुराणो के तिथिक्रम को ही आधार मानते है।

हरिवश में भविष्यकालीन राजाओ की अनुपस्थिति के कारण इस पुराण को

१. हरि० १. २९. ७–१०, २८–२९, ७२–८२
२. ब्रह्माण्ड उपो० ६७. ६०–७९; वायु उत्तर० ३०. ६४–७५
३. वायु० उत्तर० अनु० ३७. २७६
४. वायु० २ अनु० ३७. २९४
५. वायु० २ अनु० ३७. २५२

वायु० की ऐतिहासिक परम्परा का पूर्ववर्ती मानना एक विवादास्पद विषय है। प्राय सभी पौराणिक विद्वान् वायु० की प्राचीनता को स्वीकार करने में सहमत हैं। पार्जिटर ने वायु० को प्राचीनतम ऐतिहासिक पुराण माना है।[1] पटील वायु० की प्राचीनता को अपने ग्रन्थ में प्रमाणित मानते हैं।[2] हापकिन्स वायु० की प्राचीनता को सूचित करते हुए हरिवंश में वायु० के उल्लेख की ओर संकेत करते हैं।[3]

हरिवंश में 'वायुप्रोक्ता'[4] के उल्लेख से वायु० से परिचय की सूचना अवश्य मिलती है। किन्तु इस पुराण में जिस वायु० की ओर संकेत किया गया है, वह वर्तमान वायु० का मूलपाठ प्रतीत होता है। वर्तमान वायु० में अनेक अर्वाचीन स्थल मिलते हैं। शैव दर्शन के विभिन्न भेद और स्मृति सामग्री आदि इस प्रकार के अर्वाचीन स्थल है। हरिवंश में इस प्रकार के स्थलों के अभाव के कारण वर्तमान वायु० को हरिवंश से पूर्वकालीन तथा प्राचीनतम पुराण नहीं माना जा सकता। हरिवंश में उद्धृत तथा अनेक विद्वानों द्वारा सर्वप्राचीन पुराण के रूप में स्वीकृत वायु० वर्तमान वायु०

1 Pargiter AIHT p 49—The Vāyu P existed before A D 620, because it is referred to by Bāna in his Harsa-Carita and a writing in a manuscript of the Skanda in the Royal Library of Nepal, shows that the Purāna also existed about that time

2 D R Patil Cul His from the Vāyu P 2 (Introduction)—The Vayu is perhaps the only Purāna the existence of which is expressly indicated in the Mbh and its supplement, the Harivansa We cannot do better than quote the remarks of V S Sukthankar on this point "the reference in our Purāna to "वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य", (3 189 14) is worth considering in this conclusion"

3 Hopkins GEI p 47—The reminiscence of Vāyu, as work which is referred to again in the Hariv is contained in the Mārkandeya episode

४. हरि० १.७ १३, २५

विष्णु० के अन्तर्गत भविष्यकालीन इक्ष्वाकुवंशी राजाओं म वृहद्वल नामक राजा का उल्लेख है।[3] विष्णु का यह वृहद्वल हरिवश और भागवत का इक्ष्वाकुवंशी अन्तिम राजा वृहद्वल ज्ञात होता है। संभवतः हरिवंश और भागवत में वृहद्वल पर समाप्त हुई वंशावली को विष्णु० ने भविष्यकालीन इक्ष्वाकुवंशपरम्परा का प्रारम्भिक राजा माना है। विष्णु० में भावी प्रारम्भिक राजा के रूप में वृहद्बल की गणना होने पर वृहद्वल का महाभारत के बहुत बाद में होना निश्चित हो जाता है।

१. हरि० १.१५.३०–३४ २. मत्स्य० १२.५४–५५
३. विष्णु० ४.४.११२

अत हरिवश और भागवत में उल्लिखित बृहद्वल का इक्ष्वाकुवशी अन्तिम राजा के रूप में उल्लेख तथ्यपूर्ण है।

बृहद्वल का उल्लेख महाभारत के आदि पर्व में है।[1] किन्तु यहाँ पर बृहद्वल को इक्ष्वाकु, राम तथा भगीरथ का पूर्ववर्ती कहा गया है। इक्ष्वाकु और राम के पूर्वज के रूप में बृहद्वल का उल्लेख किसी भी पुराण में नही मिलता। हरिवश तथा विष्णु० के प्रमाणा के द्वारा बृहद्वल को भूतकालीन इक्ष्वाकुवशी राजाओ में अन्तिम मानना निश्चित हो जाता है। अत बृहद्बल को इक्ष्वाकु का पूर्ववर्ती बताने वाली महाभारत की वशावली प्रामाणिक नही मानी जा सकती।

मनु वैवस्वत के पुत्र इक्ष्वाकु इस वश के प्रारम्भिक राजा मान जा सकते है। इक्ष्वाकु के पूर्व बृहद्बल नामक किसी राजा की स्थिति असम्भव है। अत महाभारत के इस स्थल में बृहद्वल के साथ अन्य राजा निस्सन्देह इक्ष्वाकु से परवर्ती राजा है, पूर्ववर्ती नही। प्राचीन राजाओ की सूची में उल्लिखित बृहद्वल नामक राजा भूतकालीन इक्ष्वाकुवशी अन्तिम राजा है।

महाभारत आदिपर्व में इस काल के राजाओ की सूची के अन्तर्गत श्रुतायु नामक राजा का उल्लेख है। श्रुतायु कौरवपक्ष के अन्तर्गत रखा गया है। मत्स्य पुराण के इक्ष्वाकुवश-क्रम में महाभारत युद्ध में पराजित होने वाले अन्तिम राजा के रूप में श्रुतायु की उपस्थिति युक्तिसगत ज्ञात होती है। इस आधार पर मत्स्य० के श्रुतायु तथा हरिवश के बृहद्बल का इक्ष्वाकुवशक्रम में परस्पर सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। हरिवश में श्रुतायु के नाम की उपेक्षा कदाचित् श्रुतायु के महाभारत युद्ध में हार जाने के कारण तथा कौरवपक्ष की ओर से युद्ध करने के कारण की गयी है।

अजमीढ-वश

हरिवश का द्वितीय महत्त्वपूण राजवश अजमीढ का है। यह राजवश बृहत्क्षत्र नामक राजा से प्रारम्भ होता है। बृहत्क्षत्र के पूर्व के राजाओ के विषय में हरिवश मौन है। किन्तु अन्य पुराण सम्मिलित रूप से बृहत्क्षत्र के पूर्वजो पर प्रकाश डालते हैं। वायु०, मत्स्य० तथा भागवत में वितथ नामक भरतवशी राजा से वश का प्रारम्भ माना गया है। वितथ के अनेक पुत्रो में बृहत्क्षत्र इस वश का प्रारम्भिक राजा है।[2]

१ महा० १ १ २१५–२२२
२ वायु० उत्तर ३७ (अनुपग) १५४–१५६, मत्स्य ४९ ३२–४१, भाग ९ २१. १८–२०

विभ्राज के पुत्र अणुह नामक राजा का उल्लेख हरिवंश तथा वायु० के वंशक्रम में हुआ है।[1] यही नाम महाभारत के प्राचीन राजाओं की सूची में मिलता है।[2] अतः अणुह इस वंश का एक प्राचीन राजा ज्ञात होता है।[3]

हरिवंश तथा वायु० की वंशावली में ब्रह्मदत्त को अणुह का पुत्र माना गया है।[4] हरिवंश में ब्रह्मदत्त को राजर्षि कहा गया है।[5] ब्रह्मदत्त का नाम प्राचीन राजा के रूप में अनेक ग्रन्थों में मिलता है। पुराणों के अतिरिक्त जातकों में भी काशी के राजा के रूप में ब्रह्मदत्त का उल्लेख है। जातकों के ब्रह्मदत्त को पुराणों में अजमीढ के वंश का ब्रह्मदत्त नहीं माना जा सकता। जातकों के ब्रह्मदत्त की राजधानी बनारस है।[6] हरिवंश तथा पुराणों के अजमीढवंशी ब्रह्मदत्त की राजधानी काम्पिल्य है।[7] काम्पिल्य नगर दक्षिणी पाञ्चाल की राजधानी मानी गयी है।[8]

चम्पेय जातक अंगदेश के राजा के रूप में अन्य ब्रह्मदत्त को प्रस्तुत करता है। यहाँ पर अंगदेश के राजा ब्रह्मदत्त के द्वारा मगध के तत्कालीन किसी राजा को पराजित करने का उल्लेख है।[9] यह ब्रह्मदत्त अंगदेश का स्वामी होने के कारण तथा तत्कालीन मगधराज को पराजित करने के कारण वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त से अधिक पराक्रमी ज्ञात होता है। किन्तु इतिहास मगधवंशी बिम्बिसार के द्वारा अंगदेश के स्वामी ब्रह्मदत्त को मार कर चम्पा को लेने का उल्लेख करता है।[10]

मगधवंशी बिम्बिसार से भारत का सुव्यवस्थित इतिहास प्रारम्भ होता है। बिम्बिसार के द्वारा अंगराज ब्रह्मदत्त को मारने का उल्लेख ब्रह्मदत्त और बिम्बिसार की समसामयिकता की सूचना देता है। बिम्बिसार को भारतीय इतिहास का प्रसिद्ध

१. हरि० १. २०; वायु० २ अनु० ३७. १०४
२. महा० १. १. २१५–२२२ ३. अजमीढ वंश की सूची पृ० ४०९
४. हरि० १. २०; वायु० २ अनु० ३७. १७५
५. हरि० १. २०. १२–ब्रह्मदत्तो महाभागो योगी राजर्षिसत्तमः।
६. Fick. Soc. Org. p. 34 ७. हरि० १. २०. ३–४
8. B C. Law : Historical Geography of India.
९. चम्पेय जा० The Jātakas by E. B. Cowell, Vol. IV. 1901, p. 281-290
10 H. RAY CH : Pol. His of Ancient Ind p 94—Bimbisāra Srenika killed Brahmadatta and took his capital Campā.

राजा मानने पर अगराज ब्रह्मदत्त को भी भारत के सुव्यवस्थित इतिहास का प्रारम्भिक राजा मानना उचित होगा। बिम्बिसार के समकालीन होने के कारण यह ब्रह्मदत्त हरिवंश में वर्णित भीष्म के पितामह प्रतीप के समकालीन ब्रह्मदत्त से बहुत अर्वाचीन और भिन्न व्यक्ति ज्ञात होता है।

हरिवंश में अजमीढ के वंश का अन्त भल्लाट के पुत्र दुर्बुद्धि नामक राजा के काल में हुआ है। वायु० तथा मत्स्य० के अन्तर्गत अजमीढवंश का अन्तिम राजा भल्लाट का पुत्र जनमेजय है। अजमीढवंश का वंशक्रम हरिवंश, वायु० तथा मत्स्य० में लगभग समानता रखता है।[1] अतः वायु० और मत्स्य० का जनमेजय अवश्य हरिवंश का दुर्बुद्धि ज्ञात होता है। तीनों पुराणों में दुर्बुद्धि और जनमेजय के हन्ता के रूप में उग्रायुध नामक राजा का उल्लेख है। हरिवंश इस वृत्तान्त में एक नवीन बात जोड़ता है। अजमीढवंशी अन्तिम राजा का मारनेवाले उग्रायुध के हन्ता यहाँ पर भीष्म बतलाये गये हैं।[2] उग्रायुध के वृत्तान्त को हरिवंश की भाँति प्रस्तुत करने वाला वायु० उग्रायुध के इस हन्ता के विषय में मौन है। हरिवंश के इस नवीन वृत्तान्त की प्रामाणिकता का निश्चय एक विवादास्पद विषय है।

हरिवंश के अन्तर्गत उग्रायुध के वंशवर्णन में उग्रायुध को शन्तनु का समकालीन माना गया है।[3] शन्तनु के समकालीन उग्रायुध का भीष्म के द्वारा मारा जाना सम्भव है। महाभारत में अणुह का प्राचीन राजा माना गया है।[4] हरिवंश में अणुह के पुत्र ब्रह्मदत्त को भीष्म के पितामह प्रतीप का समकालीन कहा गया है।[5] ब्रह्मदत्त से दुर्बुद्धि नामक राजा के बीच विष्वक्सेन, दण्डसेन तथा भल्लाट नामक तीन राजाओं का उल्लेख है। अतः दुर्बुद्धि ब्रह्मदत्त के बाद चौथा राजा है। प्रतीप तथा भीष्म के बीच केवल एक राजा शन्तनु का उल्लेख है। इस आधार पर प्रतीप, शन्तनु तथा भीष्म के सुदीर्घ राज्यकाल का ज्ञान होता है। अतः भीष्म की उग्रायुध से समकालीनता तथ्यपूर्ण प्रतीत होती है।

डा० भण्डारकर ने जातकों में वर्णित काशी के राजाओं की पुराणों के राजाओं से एकता सिद्ध की है। उनके अनुसार जातकों के विस्ससेन, उदय तथा भल्लाटीय

1. हरि० १.२०.१६-३४; वायु० अनु० ३७.१६०-१७७; मत्स्य ४९.४२-५९
2. हरि० १.२०.३५
3. हरि० १.२०.४९-५३
4. महा० १.१.२१५
5. हरि० १.२०.११-१२

पुराणो के विष्वक् सेन, उदक्सेन और भल्लाट से सम्बन्ध रखते है।[1] श्री राय चौधरी ने जातको के काशी के राजाओ को सोलह महाजनपदो के अन्तर्गत काशी जनपद के शासक माना है। राय चौधरी काशी जनपद को प्राचीन भारत के शक्तिशाली जनपदो में प्रमुख मानते है।[2] जातको में काशी राजवश का पुराणा के विष्वक्सेन और भल्लाट आदि राजाओ से साम्य हरिवश के अन्तर्गत अजमीढवश के विषय में नवीन सामग्री प्रस्तुत करता है।

डा० भण्डारकर के द्वारा जातको के काशी के राजा विष्वक्सेन तथा भल्लाट का नामोल्लेख हरिवश तथा वायु०, मत्स्य ० और भागवत के ब्रह्मदत्त के वश के अन्तर्गत हुआ है। इन पुराणों में ब्रह्मदत्त अथवा अजमीढ के वश के अन्तर्गत इन राजाओ का उल्लेख राज्यक्रमानुसार हुआ है।[3]

हरि०	वायु०	मत्स्य०	भागवत
ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त
|	|	|	|
विष्वक्सेन	विष्वक्सेन	विष्वक्सेन	विष्वक्सेन
|	|	|	|
दण्डसेन	उदक्सेन	उदक्सेन	उदक्सेन
|	|	|	|
भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट

1 RAY CH Pol His P 34—Dr Bhandārkar points out that several Kashi monarchs, who figure in the Jatakas, are also mentioned in the Purānas e g Visasasena of Jātaka No 268, Udāyu of Jātaka No 458 and Bhallatiya of Jataka No 504 are mentioned in the Purānas as Visvaksena, Udaksena and Bhallāta

2 RAY CH Pol His P 82—Of the 16 Mahājanpadas Kashi at first the most powerful Several Jātakas bear witness to the superiority to its capital Benaras over the cities and the imperial ambition of its rulers

३ हरि० १ २० २८–३३, वायु २ अनु ३७ १६०–१७०, मत्स्य० ४९. ४२–५९; भाग० ९ २१ २५–२६

जातको में दण्डसेन के स्थान पर 'उदय' नाम मिलता है। जातको का 'उदय' वायु०, मत्स्य० तथा भागवत का 'उदक्सेन' अथवा 'उदकस्वन' ज्ञात होता है। अत हरिवश का दण्डसेन 'उदकसेन' अथवा 'उदय' का बदला हुआ रूप ज्ञात होता है।

जातक काशी के राजा ब्रह्मदत्त से परिचित है। ब्रह्मदत्त के वशज होने के कारण कदाचित् विष्वक्सेन, दण्डसेन (उदक्सेन) तथा भल्लाट को भी काशी-जनपद के राजा माना गया है। जातको के द्वारा ब्रह्मदत्त तथा उनके तीन वशजो को काशी-राजपद देने की यह प्रेरणा हरिवश तथा अन्य पुराणो से ली गयी ज्ञात होती है। किंतु जातक यहाँ पर पुराणो में काम्पिल्य के राजा ब्रह्मदत्त तथा काशी के राजा ब्रह्मदत्त को अलग-अलग न मानकर एक ही मानते हैं। ब्रह्मदत्त के बाद के तीन राजा विष्वक्-सेन, उदकसेन तथा भल्लाट पुराणो तथा जातको में पूर्ण समानता रखने के कारण तीन ऐतिहासिक राजा ज्ञात होते हैं।

अनेनस् का वश

हरिवश के अन्तर्गत अनेनस् का राजवश अन्य पुराणो से विशेषता रखता है। इस वश का अन्तिम राजा क्षत्रधर्मा है।[1] हरिवश में अनेनस् का राजवश विष्णु० और भागवत के अन्तर्गत आयु के अन्य पुत्र क्षत्रवृद्ध के वश में सक्रान्त दिखलाई देता है।[2] ब्रह्माण्ड० के अन्तर्गत यह राजवश हरिवश की भाँति अनेनस् का वश माना गया है। किन्तु ब्रह्माण्ड का अनेनस्-वश हरिवश से भिन्न अशुद्ध परम्पराओ का पोषण करता है।[3] यह वश ब्रह्म० में भी अनेनस् का वश माना गया है तथा हरिवश में अनेनस् के वशक्रम से बहुत कुछ समानता रखता है।[4]

१. हरि० १.२९ ४–५

२. हरि० १.२९, विष्णु ४.९.२४–२८; भाग० ९.१९

३. ब्रह्माण्ड० उपो० ६७.१–३

४. ब्रह्म० ११.२७–३१

हरिवंश	ब्रह्म०	ब्रह्माण्ड०	विष्णु०	भागवत
अनेनस्	अनेनस्	अनेनस्	क्षत्रवृद्ध	क्षत्रवृद्ध
प्रतिक्षत्र	प्रतिक्षत्र	क्षत्रधर्म	प्रतिक्षत्र	कुश
सृजय	सृजय	प्रतिपक्ष	सृजय	प्रतिक्षत्र
जय	जय	सृजय	जय	सृजय
जय	जय	सृजय	जय	सृजय
विजय	विजय	जय	विजय	जय
कृति	कृति	विजय	कृत	धृत
हर्यश्वत	हर्यश्वत	जय	हर्यधन	हर्यवन
सहदेव	सहदेव	हर्यश्वक	सहदेव	सहदेव
नदीन	नदीन	सहदेव	अदीन	दीन
जयत्सेन	जयत्सेन	अदीन	जयत्सेन	जयसेन
सकृति	सकृति	जयत्सेन	सस्कृति	सकृति
क्षत्रधर्मा	क्षत्रवृद्ध	सकृति	क्षत्रधर्मा	क्षत्रधर्मा
		कृतधर्मा		
(अनेनस् के वशज)	(अनेनस् के वशज)	(अनेनस् के वशज)	(क्षत्रवृद्ध के वशज)	(क्षत्रवृद्ध के वशज)

इन राजवशो की तुलना से ज्ञात होता है कि पुराणों में अनेनस् और क्षत्रवृद्ध के नाम पर दो वशपरम्पराएँ चल पडी थी। अनेनस् की वशपरम्परा का प्रामाणिक रूप हरिवश में मिलता है। ब्रह्म० तथा ब्रह्माण्ड० ने हरिवश में प्रस्तुत की गयी इस वशपरम्परा का अनुकरणमात्र किया है। क्षत्रवृद्ध की वशावली का मूलरूप विष्णु० में मिलता है। भागवत ने विष्णु० के इस वशक्रम का अनुकरण किया है। पूर्वोक्त

पुराणो के वशवर्णन में हरिवश के वशक्रम की स्पष्टता इस पुराण के वशो के शुद्धपाठ की परिचायक है।

काशी राजवंश

आयु के पुत्र क्षेत्रवृद्ध को हरिवश में वृद्धशर्मा कहा गया है। वृद्धशर्मा का वश विस्तृत है। वृद्धशर्मा के पुत्र सुनहोत्र से तीन शाखाएँ निकलती है। दो वशो की शाखाओ को छोडकर प्रथम पुत्र काश का वश इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। काश से दीर्घ-तपस्, उससे धन्व तथा धन्व से धन्वन्तरि की उत्पत्ति बतलायी गयी है। धन्वन्तरि पूर्वजन्म में समुद्र से उत्पन्न बतलाये गये है। धन्व नामक वृद्धशर्मा के वशज राजा के तप के फलस्वरूप यह पुन धन्वन्तरि के रूप में पृथ्वी में अवतरित माने गये है।[1] धन्वन्तरि के पुत्र केतुमान् से भीमरथ तथा भीमरथ से दिवोदास की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[2] दिवोदास इस वश का प्रतापी राजा है।

दिवोदास को वाराणसी का राजा कहा गया है। वाराणसी का यह राज्य दिवोदास ने भद्रश्रेण्य को पराजित कर के लिया था। दिवोदास शत्रु को पराजित कर प्राप्त इस राज्य का उपभोग सुदीर्घ काल तक नही कर सका। उसके राज्य काल में निकुम्भ नामक दैत्य के शाप से वाराणसी के जनशून्य होने का उल्लेख है।[3] अत प्रतापी राजा दिवोदास को अपने वैभव से हाथ धोना पडा।

दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन से हरिवश की सुव्यवस्थित वशपरम्परा चलती है। यह वश पुराणो में काशी राजवश के नाम से प्रसिद्ध है। काशी राजवश हरिवश में स्वतन्त्र ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। प्रतर्दन के दो पुत्रो से दो शाखाएँ प्रस्फुटित होती है। प्रथम पुत्र वत्स से वत्स-राजवश का सूत्रपात होता है। प्रतर्दन के द्वितीय पुत्र भार्ग से इस वश की दूसरी शाखा प्रारम्भ होती है। वत्सवश के अन्तिम राजा का नाम भर्ग दिया गया है।[4]

पालिग्रन्थो में उल्लिखित भग्ग (भर्ग) का मूलरूप हरिवश में वर्णित भर्ग तथा भार्ग में देखा जा सकता है। भग्ग जाति एक अत्यन्त शक्तिशाली और सगठित जाति

१. हरि० १ २९. ९–२० २. हरि० १. २९. २८–२९

३ हरि० १. २९. ६१—ततस्तेन तु शापेन शन्या वाराणसी तदा।

४. हरि० १. २९ ७३, ८२.

थी। भग्गो की राजधानी सुसुमार गिरि मानी गयी है।[1] इतिहासकारो ने सुंसुमार गिरि की स्थिति मिर्जापुर के समीपवर्ती प्रदेश में बतलायी है।[2]

हरिवंश में वर्णित 'भर्ग' शब्द अनेक प्राचीन ग्रन्थो में मिलता है। भर्गों का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में है।[3] पाणिनि के काल को विद्वानो ने क्रमशः चौथी शताब्दी ई० पू० और सातवी शताब्दी ई० पू० माना है।[4] अत भर्ग जाति सातवी शताब्दी ई० पू० से भी प्राचीन काल में पूर्ण शक्तिशाली और विख्यात हो गयी ज्ञात होती है।

ऐतरेय ब्राह्मण भर्ग जाति से परिचय की सूचना देता है।[5] ब्राह्मणो के काल को विण्टरनित्स ने वैदिक ऋचाओ तथा बौद्धधर्म के बीच का लम्बा समय माना है।[6] ऐतरेय ब्राह्मण में भर्ग जाति का उल्लेख इस जाति को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करता है।

काशी राजवश हरिवंश को छोडकर अन्य पुराणो में स्पष्ट रूप में नही मिलता। विष्णु० में काशी राजवश के अन्तर्गत वीतिहोत्र के पुत्र भार्ग और भार्ग के पुत्र भार्गभूमि का उल्लेख है। भार्गभूमि हरिवंश के अन्तर्गत भृगुभूमि का विकृत रूप ज्ञात होता है। विष्णु० में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन को वत्स नाम दिया गया है। दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का वत्स नाम विष्णु० के भ्रान्त पाठ का अन्य प्रमाण है।[7]

1. N N. Ghosh, Ear. His. of Kausāmbi P. 20—Jātaka No. 353 describes the Bhagga of Sumsumāra Giri as a dependency of Vansa
2. Between Jamuna and the lower valley of the Sōn H. C. Ray Choudhary P. H A. I p. 133.
३. अष्टाध्यायी ४. १. १११ भर्गात्त्रैगर्ते।
4. H RAYCH : Ear, His. of the Vais, Sect. P. 24—4th cen. acco. to Bohtlingk; R. G Bhandārkar "Pānini must have flourished in the beginning of the 7th cen, B. C, if not earlier still" (E. H D. p 8)
५. ऐ० ब्रा०—८. २८
6. Winternitz, His. Ind. Lit. Vol. 1 P. 201
७. विष्णु० ४. ८ १२–२१

एक अन्य जनमेजय का उल्लेख है । हरिवंश के अन्तर्गत पुरु के वंश में रौद्राश्व के दस पुत्रों में एक कक्षेयु के लम्बे वंश का विवरण दिया गया है । अतः पुरुवंश की एक शाखा के रूप में कक्षेयु वंश मिलता है।[१]

यौधेय, नवराष्ट्र और अम्बष्ठों की स्थिति द्वितीय शताब्दी में कुषाणों के राज्यकाल के बाद निर्धारित की जा चुकी है।[२] यौधेय तथा अम्बष्ठ जातियाँ विदेशी कुषाणवंश के बन्धन से मुक्त होकर इस काल में पूर्ण समृद्ध हो गयी थीं। अतः यदि नृग, कृमि, नव, सुव्रत तथा शिवि को कुषाण काल का अथवा इसके कुछ पूर्व का माना जाय, तो अत्युक्ति न होगी । ग्रीक मतों के आधार पर प्रमाणित यौधेय, नवराष्ट्र तथा अम्बष्ठों की स्थिति पौराणिक प्रमाणों के द्वारा अधिक निश्चित हो जाती है । पौराणिक प्रमाणों के सामंजस्य से पुराणों की ऐतिहासिकता बढ़ जाती है ।

यौधेय, नवराष्ट्र, अम्बष्ठ और शिवि जातियों की स्थिति महाभारत[३] तथा प्राचीन साहित्य[४] के आधार पर लगभग निश्चित हो जाती है। बृहत्संहिता में वराहमिहिर के द्वारा शिवि, अम्बष्ठ और यौधेयों का स्थान उत्तर में आनवों के राज्य के समीप बतलाया गया है।[५] जूनागढ़ का रुद्रदामन् शिलालेख यौधेयों को स्वाभिमानी जाति के रूप में चित्रित करता है।[६] बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में अम्बष्ठों को

१. पुरुवंश–कक्षेयुवंश–अंगवंश पृ० ४११
2. D. C. Sirkar : Age Im. Unity P. 160—The Ārjunāyanas, Mālavas Yaudheyas grew powerful with the decline of Kushāna power in that area about the end of the second and the beginning of the third century A. D.
३. महा० २.४८.१३
४. बृहत्संहिता १६.२६; ऐ० ब्रा० ८.२१
5. Moti Chandra JUPHS Vol. 17 p. 49—Varāha Mihira (Br. Sam XVI. 26) places the 'Sibis in the north with Mānavas and the people of Takṣila and the Ārjunāyanas and the Yaudheyas.
6. JUPHS Vol. 17, p. 50

कश्मीर और सिन्धु के मध्यभाग की हूणजाति कहा गया है ।[1] बौद्ध ग्रन्थो में अम्बष्ठो को ब्राह्मण कहा गया है ।[2]

श्री मजूमदार यौधेयो को पजाब में कुशान साम्राज्य के उच्छेदक बतलाते है ।[3] कुशान राजाओ को निर्मूल करने के कारण यौधेयो को कुशानकाल के बाद लगभग द्वितीय और तृतीय शताब्दी के बीच का मानना पडगा । किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में भी इनकी स्थिति का निषेध नही किया जा सकता । ऐतरेय ब्रा० और अष्टाध्यायी में इन जातियो का उल्लेख इनकी प्राचीनता का सूचक है ।

हरिवश में शिवि के चार पुत्रो का उल्लेख भी एतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । ये चार पुत्र, वृषदर्भ, सुवीर, मद्रक तथा केकय हैं । इन चार राजाओ के नाम पर क्रमश वृषदर्भ, सुवीर, मद्रक तथा केकय जनपदो की उत्पत्ति बतलायी गयी है ।[4] सुवीर, मद्रक तथा केकय जनपद इनमें विशेष महत्त्व रखते हैं । मद्रक की स्थिति इतिहासज्ञो के द्वारा पजाब में निश्चित की जाती है ।[5] श्री मजूमदार मद्रक, यौधय, आर्जुनायन और शिवि आदि जातियो को मौर्य-काल के अन्त में विकसित होते हुए

1 JUPHS Vol 17, p 57

2 JUPHS Vol 17 p 57—The Dioologues of the Buddha (Pt I p 109) states an Ambastha to be a Brahmana It is evident from the Greek sources that they were settled on the lower Chenab

3 Age of Im Unity p 168—The Yaudheyas were especially responsible for extirpating Kushāna rule from the Punjab

४. हरि० १. ३१ २८–३०

5 D C Sirkar Age of Im Unity P 160-161—But together with the Madrakas of the Punjab and the Ābhiras of Rajputana as well as with the Nāgas of Padmāvati and other places several tribes of central and western India had to ackhowledge the suzerainty of the Guptas of Magadha about the second half of the fourth century

पुराणों में अनु के आगे की वंशावली हरिवंश से समानता रखती है। हरिवंश और ब्रह्म०, वायु०, मत्स्य० तथा भागवत के पूरु और अनुवंश को केवल पूरु के वंश में एकीभूत कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त हरिवंश और ब्रह्म० में प्रदर्शित पूरु का वंश वायु०, मत्स्य० तथा भागवत से अधिक व्यवस्थित है।

पार्जिटर ने उशीनर तथा तितिक्षु की इन दो शाखाओं को आनव के रूप में माना है।[1] इससे ज्ञात होता है कि पार्जिटर उशीनर तथा तितिक्षु की इन दो शाखाओं का प्रारम्भ अनु से मानते हैं। सम्भवत. पार्जिटर ने वायु०, मत्स्य० तथा भागवत की वंशावलियों को अपना आधार बनाया है।

धन्वन्तरि तथा उसके वंश का वर्णन हरिवंश में क्षत्रवृद्ध के वंश के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप में पहले हो चुका है।[2] यहाँ पर ऋचेयु तथा पूरु से दुष्यन्त का सम्बन्ध दिखलाने के लिए इस वंश के साथ धन्वन्तरि के वंश का वर्णन हुआ है।

वायु० में भरतवंश हरिवंश में वर्णित भरतवंश से अनेक दृष्टियों से भिन्न है।[3] वायु० का यह वंश रौद्राश्व के पुत्र ऋचेयु से प्रारम्भ न होकर आत्रेय प्रभाकर से प्रारम्भ हुआ है। आत्रेय प्रभाकर रौद्राश्व का दामाद बतलाया गया है।[4] प्रभाकर से तृतीय राजा रन्ति से त्रसु, प्रतिरथ तथा ध्रुव नामक राजाओं का उल्लेख है। प्रतिरथ से काण्वायन-वंश हरिवंश के काण्वायन वंश से समानता रखता है। वायु० में रन्ति के पुत्र त्रसु नामक राजा से मुख्य वंश चलता है। दुष्यन्त इसी त्रसु का पौत्र है। दुष्यन्त का पुत्र भरत तथा भरत का पुत्र भरद्वाज है, जिसे वितथ भी कहा गया है।[5]

1. Pargiter · JRAS 1914 p. 276-277—Mahāmanas, one of the Ānavas had two sons, Uśīnara & Titikṣu, under whom the Ānavas divided into 2 distinct branches. One branch headed by Uśinara established separate kingdoms on the border of and within the Punjab. The branch of the Ānavas under Titikṣu moved eastward and passing beyond Videha and the Vaiśālī Kindgdom descended into east Bihar.
२. हरि० १. २९. ६-१०, २८-२९, ७२-८२
३. वायु० ब्रह्म० २. १२३-१५९ ४. वायु० ब्रह्म० २. ३७. ११९-१२३
५. भारतवर्ष की वंशानुगत सूची पृ०-१०२।

पुरु के प्रधान वंश में भरत का वंश महाभारत में अशुद्ध पाठ प्रस्तुत करता है।[1] सम्भवत. उत्तरकालीन काल्पनिक वंश-परम्पराएँ महाभारत का पाठ गलत होने का कारण हैं।

महाभारत के इस वंशक्रम में पूरुवंश के प्रारम्भिक दो राजा प्रवीर तथा नमस्यु (मनस्यु[2]) का उल्लेख हुआ है। यहाँ पर रुद्राश्व हरिवंश[3] वायु०[4] तथा विष्णु[5] के रौद्राश्व का विगड़ा हुआ रूप ज्ञात होता है। अन्तिनार (मतिनार)[6] के वंश का क्रम दिखाकर यहाँ पर भरतवंश का वर्णन किया गया है। अत· रौद्राश्व के पुत्र कक्षेयु तथा ऋचेयु से प्रारम्भ होने वाली महत्त्वपूर्ण औशीनर और तैतिक्षव राज-परम्पराओं को छोड़ दिया गया है। भागवत के अन्तर्गत पुरु का वंशक्रम महाभारत की ही भाँति उशीनर तथा तितिक्षु की वंशपरम्पराओं से शून्य है।[7]

पूरु के प्रधान वंश में शन्तनु से पाण्डवों तक की शाखा परम्परागत रूप में मिलती है। काली से उत्पन्न शान्तनु के पुत्र विचित्र-वीर्य से धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर की उत्पत्ति बतलायी गयी है। पाण्डवों में अर्जुन से अभिमन्यु और उसके पुत्र परीक्षित के उल्लेख के बाद पौरवशाखा की समाप्ति की गयी है।[8] परीक्षित के बाद की संक्षिप्त पौरव-वंशावली भविष्यपर्व के प्रथम अध्याय में मिलती है।

हरिवंश में पौरव वंश के अन्तर्गत परीक्षित के बाद की वंशपरम्परा अजपार्श्व के जीवनकाल में समाप्त हो जाती है। अजपार्श्व तथा परीक्षित के बीच के राजा क्रमश: चंद्रापीड, जनमेजय, सत्यकर्ण तथा श्वेतकर्ण हैं। अजपार्श्व की माता मानिनी ने नवजात शिशु को मार्ग में छोड़कर अपने मृत पति का अनुगमन किया। इस कुमार की रक्षा पिप्पलाद और कौशिक नामक दो ब्राह्मण पुत्रों ने की। वेमकी नामक ब्राह्मणी ने इस बालक का पालन किया। इस बालक की रक्षा करने के कारण यह दो मुनिकुमार अजपार्श्व के मन्त्री कहे गये हैं।[9] इस वंश के अन्त में पौरव वंश से सम्बन्धित

१. महा० १.१.८८.४४–९२
२. हरि० १.३१.६–प्रचिन्वतः प्रवीरोऽभून्मनस्युस्तस्य चात्मजः।
३. हरि० १.३१.८ रौद्राश्वस्तस्य चात्मजः।
४. वायु० २ अनु० ३७.११८–१२०
५. विष्णु० ४.१९.१
६. हरि० १.३२.२
७. भाग० ९.२०–२१
८. हरि० १.३२.१६
९. हरि० ३.१.८–१५

ययाति के आशीर्वचनो का उल्लेख है। पूरु के जराग्रहण से प्रसन्न होकर ययाति ने कहा कि पृथ्वी चाहे चन्द्र तथा सूर्य से हीन हो जाये किन्तु पौरवो से हीन नही हो सकती।[1] वश के अत में इस गाथा के गान से सम्भवत पूरुवश के महत्त्व की ओर सकेत किया गया है।

परीक्षित के बाद की वशावली हरिवश के अतिरिक्त अन्य पुराणो में नितान्त भिन्न रूप में मिलती है। वायु० में परीक्षित का उत्तरकालीन पौरव वश अत्यन्त विस्तृत है। इस वश की समाप्ति क्षेमक नामक राजा से होती है।[2] विष्णु० में परीक्षित के बाद यह वशावली अधिकाश में वायु० से समानता रखती है। किन्तु विष्णु० में राजाओ का क्रम परिवर्तित हो गया है। इस वशावली का अन्तिम राजा भी क्षेमक है।[3] मत्स्य० में परीक्षित के बाद की वशावली वायु० तथा विष्णु० से समानता रखती है।[4] ब्रह्म० में परीक्षित का वश हरिवश में दिये गये छोटे से वश से पूर्णत. समानता रखता है।[5] हरिवश तथा ब्रह्म० को छोडकर वायु०, विष्णु०, मत्स्य० तथा महाभारत में परीक्षित के बाद यह वश परस्पर समानता रखने के कारण विश्वसनीय ज्ञात होता है। किन्तु हरिवश और ब्रह्म० की अजपार्श्व तक की वशावली को गलत सूचित करने के लिए कोई प्रमाण नही है। यहाँ पर विविध पुराणो में मिलने वाले इस वश के छ राजाओ की वशावली की हरिवश में इसी वश के अन्तर्गत छ राजाओ से तुलना अपेक्षित है —

हरिवश	ब्रह्म०	वायु०	मत्स्य०	विष्णु०	महाभारत
परीक्षित	परीक्षित	परीक्षित	परीक्षित	परीक्षित	परीक्षित
|	|	|	|	|	|
चन्द्रापीड	चन्द्रापीड	जनमेजय	जनमेजय	जनमेजय	जनमेजय
|	|	|	|	|	|
जनमेजय	जनमेजय	शतानीक	शतानीक	शतानीक	शतानीक
|	|	|	|	|	|

१. हरि० ३. १. १८—आचन्द्रार्कग्रहा भूमिर्भवेदपि न संशयः।
अपौरवा न तु मही भविष्यति कदाचन ॥
२. वायु० अनु० ३७. २७३
३. विष्णु० ४. २१
४. मत्स्य० ५०. ६३–७८ ५. ब्रह्म० १३. १२३ [illegible]

हरिवश	ब्रह्म०	ब्रह्माण्ड०		विष्णु०	भागवत०
सत्यकर्ण	सत्यकर्ण	अश्वमेधदत्त	अधिसीमकृष्ण	अश्वमेधदत्त	अश्वमेधदत्त[1]
श्वेतकर्ण	श्वेतकर्ण	परपुरञ्जय	विवक्षु	अधिसीमकृष्ण	(समाप्त)
अजपार्श्व[2]	अजपार्श्व[3]	अधिसीमकृष्ण[4]	भूरि[5]	निचक्नु[6]	
(समाप्त)		(असमाप्त)	(असमाप्त)	(असमाप्त)	

उत्तर पाचाल वश

हरिवश के अन्तर्गत उत्तरपाचालवश ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पार्जिटर ने इस वश की ऐतिहासिकता वेद तथा ब्राह्मणो के आधार पर सिद्ध की है। इस वश के मुद्गल, मोद्गल्य, दिवोदास, पचजन, सोमक और सवरण की उन्होने इन्ही नाम के वैदिक पात्रो से समानता स्थापित की है। उत्तर पाचाल वश के वशक्रम की सूची भी पार्जिटर ने प्रस्तुत की है। पार्जिटर के इस नवीन अनुसन्धान के अनुसार पुराणो के उत्तरपाचालवश की प्राचीनता तथा ऐतिहासिक उपादेयता प्रमाणित हो जाती है। पार्जिटर ने विविध पुराणो के उत्तर-पाचाल राजवश की तुलना के बाद हरिवश के इस राजवश की मौलिकता सिद्ध की है।[7]

मगध-राजवश

उत्तर पाचाल राजवश प्राचीन तथा ऐतिहासिक ही नही है, वरन् उसका अन्तिम भाग सुव्यवस्थित भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। अजमीढ की धूमिनी नामक रानी के पुत्र ऋक्ष से वह वश चलता है। ऋक्ष के पुत्र से सवरण तथा

१. महा० १.५२. ८७–९०
२. हरि० ३.१.३–१६
३. ब्रह्म० १३.१२३–१३८
४ वायु० अनु० ३७ २४८–२५२
५. मत्स्य० ५०. ६३–८०
६. विष्णु० ४.२१.१–८
7. Pargiter · JRAS 1918 p 229—The Vāyu and the Matsya generally agree though with variations, the former having the older text The Brahma and Hariv largely agree, the former having the better text

सवरण से कुरु नामक राजा के नाम पर कुरुक्षेत्र का उल्लेख हुआ है।[१] कुरु के वाद चौथा राजा चेद्योपरिचिर वसु ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। चैद्योपरिचिर वसु के वशजो को 'वासव' राजा कहा गया है। चैद्योपरिचर वसु के छ पुत्रो में ज्येष्ठ पुन बृहद्रथ से मगध का राजवश प्रारम्भ होता है।[२] हरिवश में बृहद्रथ को मगधराट् कहा गया है।[३] जरासन्ध बृहद्रथ के बाद छठा राजा है। हरिवश में जरासन्ध एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मगधवश के अन्तर्गत उसके नामोल्लेख के अतिरिक्त विष्णुपर्व में कृष्णचरित्र के अन्तर्गत जरासन्ध को कृष्ण के परम शत्रु के रूप में चित्रित किया गया है। जरासन्ध के सतत आक्रमणो से आतकित होकर कृष्ण तथा बलराम को मथुरा छोडकर द्वारवती में बसते हुए कहा गया है।[४] कृष्णचरित्र के अन्तर्गत जरासन्ध का यह प्रसग लगभग इसी रूप में सभी पुराणो के कृष्णचरित्र के अन्तर्गत मिलता है।[५]

हरिवश तथा अन्य पुराणो में कृष्ण के साथ जरासन्ध का उल्लेख कृष्ण से जरासन्ध की समकालीनता को सूचित करता है। कृष्ण का जीवनकाल महाभारत युद्ध का काल है। अत. जरासन्ध भारतयुद्ध के काल में जीवित होगा। महाभारत के अन्तर्गत महाभारत-युद्ध-कालीन राजाओ की सूची में जरासन्ध का नाम सर्वप्रथम है।[६] जरासन्ध के महाभारत-कालीन होने के कारण मगधवशी राजा बृहद्रथ को भारत-युद्ध के बहुत पूर्व का मानना पडेगा।

पार्जिटर ने बार्हद्रथ राजवश से भारतीय सुव्यवस्थित इतिहास का प्रारम्भ माना है।[७] हरिवश के आधार पर उन्होने बृहद्रथ को मगधराज्य में गिरिव्रज नामक राज-

१. हरि० १. ३२. ८२–८५ २ मगधवश की वशानुगत सूची, पृ० ३०८।
३. हरि० १. ३२ ९२–महारथो मगधराट् विश्रुतो यो बृहद्रथ ।
४ हरि० २.५६. ३५ जरासन्धभयाच्चैव पुरीं द्वारवतीं ययौ।
५. विष्णु० ५. २२. ११, ८–१२; भाग० १० ५०–५२, ७२–७३; पद्म० उत्तर० २७३. ३८–३९; ब्रह्म० १९५. १०–११; १९६. ९–१३
६. महा० १. ५८. ५–६४
7. Pargiter JRAS 1914 p 228—with the Bārhadratha dynasty Magadha for the first time takes a real part in the history of India.

धानी को स्थापित करते हुए कहा है।[1] श्री पार्जिटर का यह सुझाव ऐतिहासिक क्षेत्र में हरिवंश के अन्तर्गत इस बार्हद्रथ राजवंश के महत्त्व को स्थापित करता है।

हरिवंश के अन्तर्गत मगध राजवंश में जरासन्ध से सहदेव तथा सहदेव से उदायु का उल्लेख है। यह उदायु वायु०, विष्णु० और भागवत में क्रमशः सोमाधि और सोमापि कहा गया है। हरिवंश में यह राजा उदायु पूर्वोक्त तीनों पुराणों के नाम से भिन्न नाम प्रस्तुत करता है। तीनों पुराणों से हरिवंश के अन्तर्गत इस राजा के नाम में अन्तर इस पुराण के भिन्न ऐतिहासिक पाठ को निश्चित करता है। किन्तु वायु० के पाठ में सोमाधि नाम अशुद्ध नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि विष्णु पुराण, भागवत तथा इतिहासकारों के प्रमाण बार्हद्रथवंशी सहदेव के पुत्र को सोमाधि मानते हैं।[2]

हरिवंश	वायु० (जरासन्ध के बाद भविष्य कालीन मागधेय राजा)	विष्णु० (बृहद्रथ की भावी सन्तति)	भागवत
जरासन्ध	जरासन्ध	जरासन्ध	जरासन्ध
सहदेव	सहदेव	सहदेव	सहदेव
उदायु	सोमाधि	सोमप	सोमापि
श्रुतधर्मा[3]	श्रुतश्रवा[4]	श्रुतिश्रवा[5]	श्रुतश्रवा[6]

1. Pargiter JRAS 1914 p 288–The eldest Bārhadratha obtained Magadha, built Girivraja his capital (Hariv 65 68 117, Mbh II 20 798-900) and founded the famous Bārhadratha Dynasty
2. Vishnu 4 19 83-84, भाग० 9 22, 3-9 A D, Pusalkar Vedic Age p 323 After Sahadeva his son Somādhi became king of Girivraja at the foot of which Rājagraha the ancient capital of Magadha grew up
3. हरि० १. ३२. ९७–१००
4. वायु० २ अनु० ३७ २२०–२२२
5. विष्णु० ४. १९ ८३–८४
6. भाग० ९ २२ ३–९

बार्हद्रथ राजवश के प्रारम्भिक दो राजा जरासन्ध तथा सहदेव ने महाभारत युद्ध में भाग लिया, किन्तु विरुद्धपक्ष में। सहदेव का पाण्डवो की ओर से युद्ध करने का उल्लेख है।[1] अत जरासन्ध तथा सहदेव को भारत-युद्ध तथा कृष्ण का समकालीन मानना पडेगा। सहदेव के महाभारत-युद्ध कालीन होने पर उसके पुत्र उदायु को महाभारत युद्ध के कुछ वर्ष बाद तथा श्रुतधर्मा को भारतयुद्ध से पचास से सौ वर्ष के बीच के लगभग बाद का मानना चाहिए।

कृष्ण वृत्तान्त के साथ वर्णित जरासन्ध और कृष्ण के वैर में एतिहासिक तथ्य मिलता है। बार्हद्रथ राजाओ की राज्यसीमा मगध मानी गई है। हरिवश में जरासन्ध और कस का निकट सबध कस की पत्नियो के जरासन्ध से पुत्रीत्व के कारण स्थापित ज्ञात होता है।[2] जरासन्ध का कस की ओर से कृष्ण के विरुद्ध युद्ध कस और जरासन्ध के परस्पर मैत्री भाव का सूचक है।

जरासन्ध का साम्राज्य मगध से आर्यावर्त्त के समस्त भाग में फैला ज्ञात होता है। केवल मथुरा जरासन्ध के बाहर थी। जरासन्ध ने मगध साम्राज्य के विस्तार की नीति अपनायी थी। सम्भवत उसका उद्देश्य मथुरा को छीन कर अपनी राज्यसीमा को दक्षिण पश्चिम की ओर बढ़ाने का था। किन्तु मथुरा में वृष्णियो की बलवती सेना ने कदाचित् जरासन्ध की शक्ति का सुदृढ प्रतीकार किया। इसी कारण बहुत प्रयत्न करने पर भी मगध राज्यसीमा मथुरा से दक्षिण पश्चिम की ओर न बढ सकी।

तुर्वसुवश—पूरुवश

ययाति के पुत्रो में हरिवश के अन्तर्गत तुर्वसु का वश ध्यान देने योग्य है। इस वश में करन्धम का पुत्र मरुत्त अथवा आवीक्षित सबसे महत्त्वपूर्ण राजा है। महाभारत के अन्तर्गत प्राचीन काल के प्रसिद्ध राजाओ की सूची में मरत्त का नामोल्लेख है।[3] सन्तानहीन होन के कारण मरत्त न पौरव दुष्यन्त को गोद लिया। इस प्रकार

1 A D Pusalkar Vedic age p 323—Jarāsandha, the first great emperor of Magadha before that war, was succeeded by his son Sahadeva, who became an ally of the Pāndavas, and was killed in the war

२. हरि० २ ३४ ३–६ ३ महा० ११ २०९–२१३

तुर्वसु की शाखा पुरु की शाखा में मिश्रित होकर एक हो गयी। दुष्यन्त के पौत्र आक्रीड से चार पुत्र—पाड्य, केरल, कोल तथा चोल की उत्पत्ति बतलायी गयी है। इन राजाओं के नाम पर चार जनपदो का उल्लेख है। यह वशक्रम यही पर समाप्त हो जाता है।[1]

तुर्वसु का यह वश वायु० में भी इन चार जनपदों के नामोल्लेख के बाद समाप्त हो जाता है।[2] भागवत में यह वश केवल मरुत्त के बाद समाप्त दिखलाया गया है।[3] अत: भागवत ने आन्ध्र राजाओं के आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अश को छोड दिया है।

यदुवंश

ययाति के पुत्र दुह्यु का वश कोई विशेषता नही रखता। यदुवश अवश्य महत्त्वपूर्ण है। यदु के पाँच पुत्रो में सहस्रद के ज्येष्ठ पुत्र हेहय से इस राजवश का विस्तार होता है। कार्त का पुत्र साहज इस वश का सर्वप्रथम नगर-निर्माता है।[4] साहज के पुत्र महिष्मान् को माहिष्मती नामक अन्य नगरी का सस्थापक कहा गया है।[5] महिष्मान् का पुत्र भद्रश्रेण्य वाराणसी का अधिपति कहा गया है।[6] यह भद्रश्रेण्य वाराणसी का अधिपति वही भद्रश्रेण्य है, जिसको पराजित करके काशी के राजा दिवोदास ने वाराणसी को हस्तगत कर लिया था। काशिराज दिवोदास के वशक्रम के वर्णन में भद्रश्रेण्य तथा उसके उत्तराधिकारी दुर्दम का केवल उल्लेख किया गया है।[7] सम्भवत. दिवोदास के चरित्रवर्णन के लिए प्रसगवश उसके उत्तराधिकारी भद्रश्रेण्य का नामोल्लेख आवश्यक समझा गया है।[8]

हरिवश में कृतवीर्य के पुत्र कार्तवीर्य अर्जुन का राज्यकाल ८५,००० वर्ष दिया गया है, जो पौराणिक कल्पना प्रतीत होती है।[9] किन्तु यह कल्पना पूर्ण निराधार

१. हरि० १. ३२. ११९–१२३
२. वायु० २. अनु० ३७. १–६ ३. भाग० ९. २३. १७
४. हरि० १. ३३. २–४— साहंजनी नाम पुरी येन राज्ञा निवेशिता।
५. हरि० १. ३३. ४–५— माहिष्मती नाम पुरी येन राज्ञा निवेशिता।
६. हरि० १. ३३. ५–६ ७. हरि० १. २९. ३३–३४, ६९–७१
८. यदुवंश की वशानुगत सूची पृ०—३१२
९. हरि० १. ३३. २३—पचाशीति सहस्राणि वर्षाणां वै नराधिपः।

हरिवंश में अग्नि द्वारा वसिष्ठ के आश्रम के भस्म करने का उल्लेख है। एक समय अग्नि ने कार्तवीर्य की याचना की। कार्तवीर्य ने सप्तद्वीपा पृथ्वी अग्नि को दान के रूप में दी। अग्नि ने कार्तवीर्य के वन तथा पर्वतों के साथ वसिष्ठ का आश्रम भी जला दिया। अग्नि के इस कार्य से रुष्ट होकर ही वसिष्ठ ने कार्तवीर्य को जामदग्न्य के द्वारा भस्मीभूत होने का शाप दिया।[1] हरिवंश का यही वृत्तान्त सम्भवत उत्तरकाल में जटिल हो गया। इस वृत्तान्त के पीछे ब्रह्मद्वेष तथा ब्राह्मणों के क्षत्रिय-प्रतीकार की भावना बढ़ती गयी ज्ञात होती है। इसी कारण अन्य पुराणों में कार्तवीर्य का यह वृत्तान्त अतिशयोक्ति के द्वारा कार्तवीर्य को क्रूरकर्मा राजा के रूप में चित्रित करता है। प्रतापी राजा होने पर भी महाभारत के अन्तर्गत प्रसिद्ध राजाओं की सूची में कार्तवीर्य के नामोल्लेख का अभाव इस बात का प्रमाण है।[2] पुराणों के निर्माण में अर्द्धशिक्षित ब्राह्मणों का पर्याप्त सहयोग कार्तवीर्य के चरित्रपरिवर्तन में एक कारण हो सकता है। यद्यपि वसिष्ठ के आश्रम को भस्म करने का कार्य नृशंस सिद्ध करने के लिए कदाचित् इन ब्राह्मणों ने कार्तवीर्य के चरित्र को निकृष्ट रूप में चित्रित किया है।

भागवत के वृत्तान्त में कार्तवीर्य विषयक गाथा का कोई उल्लेख नहीं है। कार्तवीर्य को यहाँ किसी प्रसिद्ध प्रतापी राजा के रूप में चित्रित नहीं किया है। हरिवंश के अन्तर्गत कार्तवीर्य के मूल वृत्तान्त के साथ तुलना करने पर कार्तवीर्य-विषयक पौराणिक विचारधारा में महान् परिवर्तन भागवत के इस स्थल में देखा जा सकता है। ब्राह्मण परम्परा से अधिक प्रभावित पुराण होने के कारण भागवत में इस प्रवृत्ति की सम्भावना स्वाभाविक है।

हरिवंश में कार्तवीर्य का राज्य नर्मदा नदी के तटवर्ती प्रदेश में बतलाया गया है। नर्मदा नदी के साथ कार्तवीर्य को समुद्र का वेग रोकते कहा गया है।[3] वायु० और ब्रह्माण्ड० भी इसी प्रकार का प्रमाण देते हैं।[4] सम्भवत नर्मदा के किनारे समुद्र के दोनों

१. हरि० १. ३३ ३८–४५
२. महा० १. १. २०९–२१३, १. १. २१५–२२२
३. हरि० १. ३३. २७–२८–स वै वेगं समुद्रस्य प्रावृट्कालेऽम्बुजेक्षण।
क्रीडन्निव भुजोद्भिन्न प्रतिस्रोतश्चकार ह॥
लुठिता वीडिता तेन फेनस्रग्दाममालिनी।
चलदूर्मिसहस्रेण शङ्किताभ्येति नर्मदा॥
४. वायु० २. ३२. २७–३२; ब्रह्माण्ड० उपो० ६९. २७–२८

तटो पर कार्तवीर्य का राज्य विस्तृत था। कार्तवीर्य के द्वारा कर्कोटक नागो को जीतकर उन्हें माहिष्मती पुरी मे स्थापित करने का उल्लेख है।[1] माहिष्मती के स्थापक को माहिष्मान् कहा गया है, जो कार्तवीर्य का ही पूर्वज है। ज्ञात होता है, पूर्वजो से शासित इस नगरी को कार्तवीर्य ने अनुग्रहवश कर्कोटक नागो को समर्पित कर दिया।

हरिवंश में माहिष्मती से कर्कोटक नागो का सम्बन्ध एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक विषय है। श्री जायसवाल ने वायु० तथा ब्रह्माण्ड० के आधार पर नागवंशी राजाओं की पश्चिमी राज्य सीमा को विदिशा, पद्मावती तथा पश्चिमी मालवा के आसपास माना है।[2] नाग राजाओ की पूर्वी सीमा को उन्होने आधुनिक उत्तरप्रदेश तथा पूर्वी पश्चिमी बिहार बतलाया है।[3] श्री जायसवाल ने कर्कोटक नागो का प्रभाव भारशिव तथा वाकाटक साम्राज्यो में प्रमाणित किया है।[4]

हरिवंश में वर्णित कर्कोट नागो की राजधानी माहिष्मती जायसवाल के द्वारा निश्चित नागो की राजधानी से भिन्न है। उनके अनुसार माहिष्मती नर्मदा नदी और इन्दौर के आसपास है।[5] श्री जायसवाल के द्वारा निर्धारित माहिष्मती की यह स्थिति समीचीन है। कारण यह है कि हरिवंश में भी माहिष्मती के साथ नर्मदा के तटवर्ती

१. हरि० १. ३३. २६—स हि नागान् मनुष्येषु माहिष्मत्या महाद्युतिः।
कर्कोटकसुतान् जित्वा पुर्यां तस्यां न्यवेशयत्॥

वायु. २. ३२. २४.

2. Jayaswal · His. of Ind p. 55—In Bihar Campāvati is noted by the Vāyu & the Brahmānda, as a capital of the Nava Nāgas. The Nāgas extended their sway into the Madhya Pradesh, a fact borne out by the subsequent Vākātaka history & the place-names like Nāga Vardhana, Nandi Vardhan & Nāgpur.
3. Jayaswal . His of Ind p. 32
4. Jayaswal : His. of Ind. p. 33
5. Jayaswal: His of Ind. p 83—Mahisi is the Māhismati on the Narmadā between the British distt. of Nimar of Indore. It was the capital of the western Mālwā.

प्रदेश का उल्लेख हुआ है।[1] श्री जायसवाल ने वायु० तथा ब्रह्माण्ड० के आधार पर चम्पावती को कर्कोटो की राजधानी माना है। उनके अनुसार चम्पावती की स्थिति बिहार में है।[2] वायु० तथा ब्रह्माण्ड० में माहिष्मती नगरी को कर्कोटों की राजधानी माना गया है।[3] अत श्री जायसवाल का कथन कि कर्कोटो की राजधानी चम्पावती है, कुछ अविश्वसनीय प्रतीत होता है।

तालजघो की ऐतिहासिक स्थिति की ओर सकेत करते हुए पार्जिटर ने उन्हें मध्य भारत से क्रमश उत्तरी भारत की ओर आधिपत्य स्थापित करते हुए कहा है। उत्तर में कदाचित् इनके आक्रमणो से पीडित होकर जामदग्न्य ने इनका विनाश किया।[4]

तालजघो की वशपरम्परा में मधु से यादवो की उत्पत्ति बतलायी गयी है। यादवो के पूर्वज मधु तथा मधुवन के निर्माता दैत्य मधु में भ्रम हो जाता है।[5] हरिवश के अन्तर्गत मधु और शत्रुघ्न के वृत्तान्त में ऐतिहासिक परम्परा की खोज के लिए यथेष्ट सामग्री है। यह वृत्तान्त मथुरा की प्राचीनता पर प्रकाश डालता है। ज्ञात होता है, अयोध्या में रामराज्य के अन्तिम दिनो में शत्रुघ्न ने मधुवन में अधिष्ठित किसी दैत्य को मारकर यहाँ पर मथुरा नामक नगरी बसायी। अपने द्वारा बसायी गयी मथुरा नगरी के शासक के रूप में शत्रुघ्न ने अपने पुत्रो को उत्तराधिकारी बनाया।[6] हरिवश शत्रुघ्न के उत्तराधिकारियो के विषय में मौन है। कालक्रम से अयोध्या के सूर्यवशी राजाओ का यह राज्य सोमवशी कस तथा उग्रसेन को मिल गया ज्ञात होता

१. हरि० १.३३.२७–२८
2 Jayaswal His Ind p 55
३. वायु० २ ३२.२४, ब्रह्माण्ड० उपो० ६९.२६.
4 Pargiter JRAS 1910 p 37—Rāma Jāmadagnya did not exterminate the Haihayas and the Tālajanghas, but they were rising into great power at the close of his life Rāma had no cause of enmity against Kṣatriyas, but the Talajangha Haihayas being warlike Kṣatriyas bent on conquest would have attacked every kingdom i e all Kṣatriyas
५. हरि० १.५४.२१–२२; विष्णु० ४.४.१०१.
६. हरि० १.५४.५५–६३.

है। चन्द्रवंशियों की राजधानी मथुरा का प्रारम्भिक इतिहास सूर्यवंशी राजाओं को इस नगरी के आदि निर्माता के रूप में प्रस्तुत करता है।

पार्जिटर ने हरिवंश के अन्तर्गत मधु और शत्रुघ्न के वृत्तान्त को एक ऐतिहासिक तथ्य माना है।[1] किन्तु यादवों की वंशावली में मधु के नामोल्लेख को उन्होंने काल्पनिक माना है।[2] यादववंश में मधु तथा उसके उत्तराधिकारी यादवों का वंशक्रम अवश्य भ्रमात्मक है। कारण यह है कि ययाति के पुत्र यदु के प्रधान वंश में कार्तवीर्य के पुत्र शूरसेन और शूर, तालजंघ के पुत्र भोज, और वृष यादव के पुत्र मधु के नामों के अनुसार यादवों की अनेक संज्ञाएँ हो गयी हैं। यदु, शूर, भोज, और मधु की सन्तान होने के कारण ये क्रमश: 'यादव', 'शौरि', 'भोज' और 'माधव' माने गये हैं। शूरसेन नामक कार्तवीर्य के ज्येष्ठ पुत्र के नाम के आधार पर मथुरा को शूरसेन से सम्बद्ध किया गया है। यदुवंश के उत्तराधिकारियों का भ्रमात्मक स्वरूप इस वंश की काल्पनिकता का कारण नहीं माना जा सकता। हरिवंश में मधु दैत्य[3] तथा मधु नामक यादवों के पूर्वज[4] का पृथक् व्यक्तित्व स्पष्ट है। केवल विभिन्न संज्ञाओं के मिश्रण के कारण यदुवंश की वंशपरम्परा को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

1. Pargiter : JRAS. 1910. p. 47—The story explains how the capital Mathurā was called 'Sūrasena and how it was that Kansa, a Yādava and a descendent of Andhanka reigned there in Pandava's time—a collocation of facts of which there is no other explanation. The story appears to contain historical truth.
2. Pargiter. AIHT p. 122.
३. हरि० १.५४.२२–मधुर्नाम महानासीद्दानवो युधि दुर्जयः।
त्रासनः सर्वभूतानां बलेन महतान्वितः॥
४. हरि० १.३३.५४–५६–वृषो वंशधरस्तत्र तस्य पुत्रोऽभवन्मधुः
मधोः पुत्रशतं त्वासीद्वृषणस्तस्य वंशभाक्॥
वृषणात् वृष्णयः सर्वे मधोस्तु माधवाः स्मृताः।
यादवा यदुना चाग्रे निरुच्यन्ते च हैहयाः॥
शूराश्च शूरवीराश्च शूरसेनास्तथानघ।
शूरसेन इति ख्यातस्तस्य देशो महात्मनः॥

अत माधव-लवण का पिता मधु नामक दैत्य तथा तालजघ के उत्तराधिकारी वृषयादव का पुत्र मधु अलग-अलग होने के कारण काल्पनिक नही कहे जा सकते।

वृष्णिवश

यदु के तृतीय पुत्र क्रोष्टा अथवा क्रोष्टु से राजवश की विभिन्न शाखा प्रारम्भ होती है। क्रोष्टु की पत्नी माद्री से युधाजित् नामक पुत्र का वश वृष्णिवश कहलाता है।[1] देवमीढुष के पुत्र शूर से वसुदेव तथा उनसे कृष्ण का जन्म होता है। यदुवश कार्तवीर्य तथा तालजघो के वश, अन्धकवश तथा वृष्णिवश के रूप में विभाजित हो गया है। यदुवश की ये शाखाएँ अनेक होने पर भी स्पष्ट हैं।[2]

हरिवश में पौरव तथा यादव कुलो के मिश्रण तथा उससे उत्पन्न सन्देह का उल्लेख, श्री किरफेल ने किया है। उनके अनुसार यादव तथा पौरव वशपरम्पराओ का मिश्रण इसी रूप में ब्रह्म० में देखा जा सकता है। ब्रह्म की विषय-सामग्री हरिवश से समानता रखती है। दोनो पुराणो की वशावलियो के मिश्रित रूप के प्रदर्शन के द्वारा पौराणिक मूल स्रोत के अशुद्ध पाठ का ज्ञान होता है।[3] हरिवश में धन्वन्तरि के वश की आवृत्ति[4] का कारण भी किरफेल ने इस पुराण के मूल स्रोत की दो प्रतियाँ कहा है। हरिवश न इन दोनो प्रतियो से प्रेरणा ग्रहण की तथा ब्रह्म० में इन दोनो प्रतियो के प्रभाव की अनुपस्थिति है।[5] इसी कारण हरिवश में धन्वन्तरि के वश की आवृत्ति के होने पर भी ब्रह्म० में इस वश का पूर्ण अभाव है।

१ हरि० १ ३४. १–२
२. वृष्णि वश की वशानुगत सूची, पृ० ३१६।
3 Ramanujswami JVOI Vol 8 No 1 p 24-25—In both the texts the genealogy of the Yādavas and the Pauravas have been mixed with each other in several places in consequence of which the sense of the text has been injured and has become completely unintelligible sometimes Such an alteration of the order of the verses can rest not on international manuscript disorder or destruction
४. हरि० १. २९. १०–२७, १ ३२ २१
५ Ramanuja JVOI Vol 8 No 1 p 24-26

वृष्णिवश हरिवश की भाँति सभी पुराणो में भिन्न वशपरम्परा के रूप में नही दिया गया है। विष्णु० में यदु के वश के अन्त में सौ वृष्णियो की उत्पत्ति के कारण इसी वश को वृष्णिवश मान लिया गया है।[1]

सात्वत वंश

सात्वत वश क्रोष्टु के वश से निकली हुई एक शाखा है। क्रोष्टु के उत्तराधिकारी विदर्भ नामक राजा के वश का अन्तिम राजा सत्वान् है।[2] यही वह सत्वन है, जिसके उत्तराधिकारियो को सात्वत कहा गया है। विदर्भ से प्रारम्भ माने जाने पर भी सम्भवत सत्वत के प्रसिद्ध राजा होने के कारण यह वश सात्वत वश कहा गया है।[3]

सात्वत वश के वर्णन में देवावृध के पुत्र बभ्रु की सन्तान के लिए प्रयुक्त 'मार्तिकावत भोज' शब्द सात्वत वश के तालजघ के पुत्र भोज से सम्बन्ध स्थापित करता है।[4] यह भोज सौ तालजघो में से एक ज्ञात होता है। तालजघो के वर्णन के प्रसग में यहाँ पर भोज का केवल उल्लेख हुआ है। सम्भवत इसी भोज के किसी उत्तराधिकारी से सात्वत वश सम्बद्ध रहा होगा।

सात्वतवशी बभ्रु के उत्तराधिकारी भोजो को 'मार्तिकावत' कहा गया है। मार्तिकावत से अर्थ मृत्तिकावती नामक स्थान के निवासी से है। मृत्तिकावती नगरी का उल्लेख हरिवश के अन्य स्थल में भी हुआ है। यहाँ पर मृत्तिकावती नगरी को नर्मदा के तट पर बतलाया गया है। इसी वर्णन के साथ ऋक्षवन्त पर्वत तथा शुक्तिमती नगरी का उल्लेख है।[5] सम्भवत मृत्तिकावती नर्मदा के तटवर्ती प्रदेश में माहिष्मती के आसपास थी। सत्वत के पूर्वज भोज का सम्बन्ध इसी मृत्तिकावती नामक नगरी से ज्ञात होता है।

१. विष्णु ४. ११. २६–२८–वृषस्य पुत्रो मधुरभवत्। तस्यापि वृष्णिप्रमुख पुत्रशतमासीत्। यतो वृष्णिसज्ञामेतद्गोत्रमवाप ॥
२. हरि० १. ३६. १९–३०–सत्वान् सर्वगुणोपेत सात्वता कीर्तिवर्द्धन ॥
३. सात्वतवश का वशानुगत क्रम पृ०–३१८।
४. हरि० १. ३३. ५२–वीतिहोत्रा सुजाताश्च भोजाश्चावन्तय स्मृता ।
५. हरि० १. ३६ १५–नर्मदाकूलमेकाकी नगरीं मृत्तिकावतीम्।
ऋक्षवन्त गिरिं जित्वा शुक्तिमत्यामुवास स ॥

देवावृध तथा वभ्रु के उत्तराधिकारी मार्तिकावत भोजो का अमरत्व उनके गौरव का प्रतीक है। उनके विषय में गायी गयी गाथा उनके इस गौरव को प्रमाणित करती है। इस गाथा में वभ्रु और देवावृध को देवता और मनुष्यो में श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। वभ्रु और देवावृध के साथ ७०६६ पुरुषो के अमरत्व-पद प्राप्त करने का उल्लेख है।[1] हरिवश की टीका में अमरत्व का अर्थ युद्ध में वीरगति प्राप्त करके ब्रह्मलोक-गमन बतलाया गया है।[2] ज्ञात होता है, मृत्तिकावती नगरी की रक्षा के लिए किसी शत्रु से लडते लडते देवावृध, वभ्रु तथा उनके ७०६६ योधाओ ने वीरगति पायी। देवावृध के भाई अन्धक की नवी पीढी में देवकी आदि देवक की सात कन्याओ का उल्लेख हुआ है।[3] कृष्ण का जन्म देवकी से हुआ। भारत-युद्ध के कृष्ण के जीवन-काल में होने के कारण देवकी के पूर्वज देवावृध तथा वभ्रु के इस युद्ध का काल महाभारत-युद्ध के बहुत पूर्व रहा होगा। भोजो को इस वीरता का इच्छित फल मिला ज्ञात होता है। मृत्तिकावती नगरी उनके अधिकार में रही तथा उनके उत्तराधिकारियो ने उसमें राज्य किया। सम्भवत वभ्रु के यही उत्तराधिकारी मार्तिकावत भोज कहलाये।

हरिवश के अन्तर्गत बभ्रु के उत्तराधिकारी सात्वतवशी राजाओ के प्रति 'मार्तिकावता' विशेषण का प्रयोग ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। देवावृध के भाई अन्धक की नवी पीढी की देवकी, कस तथा कस के पिता उग्रसेन का निवासस्थल मथुरा है। मृत्तिकावती नगरी की स्थिति हरिवश में नर्मदा के तट पर तथा शुक्तिमती के आस-पास बतलायी गयी है।[4] अत मध्यभारत मे माहिष्मती नगरी के समीपवर्ती प्रदेश में मृत्तिकावती नगरी की स्थिति लगभग निश्चित हो जाती है। ज्ञात होता है, कस से नौ पीढी पूर्व सात्वतवशी राजाओ की राजधानी मथुरा में न होकर मध्यभारत में स्थित मृत्तिकावती नगरी थी। सात्वतवशी राजाओ के उत्तराभिमुख प्रयाण में

१. हरि० १. ३७. १३–१५–गुणान्देवावृधस्याथ कीर्तयन्तो महात्मनः।
यथैवाग्रे समं दूरात् पश्याम च तथान्तिकं॥
बभ्रुश्रेष्ठो मनुष्याणा देवैर्देवावृधः समः।
षष्ठिश्च षट् च पुरुषाः सहस्राणि च सप्त च॥
एतेऽमृतत्व सप्राप्ता बभ्रु–र्देवावृधावपि।

२. हरि० १. ३७ टीका–षट्षष्ट्याधिकानि सप्तसहस्राणि पुरुषाः अमृतत्वं युद्धेन मृत्युमासाद्य ब्रह्मलोकं गता इत्यर्थः।

३. हरि० १. ३७. २७–२९ ४. हरि० १. ३६. १५

सम्भवत वही कारण रहा होगा, जो नाग राजाओ के दक्षिणाभिमुख प्रयाण मे था। कदाचित् मध्यभारत से मथुरा के बीच के अनेक राज्यो को जीतते हुए इन राजाओं ने मथुरा को चिरकाल तक अपनी राजधानी बनाया।

मत्स्य० के अन्तर्गत सात्वत वश हरिवश से बहुत कुछ समानता रखते हुए भी भिन्न है। यहाँ पर बभ्रु के भीषण युद्ध तथा उसमें निहत योद्धाओ का कोई उल्लेख नही है।[1] भोज मार्तिकावत के विषय में मत्स्य० मौन है। किन्तु मत्स्य० में सुरक्षित ऐतिहासिक परम्परा क्रोष्टु, विदर्भ और सात्वत वश को शृखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत करती है।

भागवत में देवावृध के बाद वश का विस्तार रुक गया है। अत भागवत का पाठ देवावृध के उत्तरवश के विषय मे कोई भी प्रकाश नही डालता। भागवत के अनुसार सात्वतो के पूर्वज क्रोष्टा तथा क्रोष्टा के वशधारी राजा है। भागवत[2] और मत्स्य०[3] में सात्वत वश की शृखलाबद्ध वशावली हरिवश की अस्तव्यस्त सात्वत वशावली की शुद्धरूप ज्ञात होती है। हरिवश में सात्वतवश अस्पष्ट पाठ प्रस्तुत करता है।

हरिवश में वर्णित सात्वत वशपरपरा की अन्य पुराणो से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि पुराणो में सात्वत वशक्रम के दो रूप प्रचलित थे। एक रूप हरिवश मे मिलता है तथा दूसरा अन्य पुराणो में। क्रोष्टु से बभ्रु तक की वशपरम्परा हरिवश में अस्तव्यस्त रुप में मिलती है। इस वश के स्पष्ट न होने का कारण हरिवश के पाठ में बाह्य प्रभाव ज्ञात होता है। किन्तु भोज-मार्तिकावतो के विषय में हरिवश के अन्तर्गत स्पष्ट सामग्री अन्य पुराणो में अनुपस्थित है। हरिवश का देवावृधविषयक वृत्तान्त अन्य सभी पुराणो से शुद्ध ज्ञात होता है।

अश्वमेध का प्रत्याहर्त्ता—औद्भिज्ज सेनानी

हरिवश में भविष्यपर्व के अन्तर्गत व्यास तथा जनमेजय का सवाद महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर व्यास के द्वारा भविष्य में अश्वमेध यज्ञ की अप्रसिद्धि का कथन तथा कलियुग में 'औद्भिज्ज सेनानी' के द्वारा इस यज्ञ के पुन प्रचार का उल्लेख है।[4] 'औद्भिज्ज सेनानी' शब्द के सार्थक प्रयोग तथा ऐतिहासिक तत्त्व का विवरण श्री

१. मत्स्य० ४४.५८–५९
२. भाग० ९.२३ ३. मत्स्य० ४४.४४–८४.
४. हरि० ३.२.३६–४०–औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानी. काश्यपो द्विज.।
अश्वमेधं कलियुगे पुनः प्रत्याहरिष्यति ॥४०॥

रायचौधरी ने दिया है। उनके अनुसार सेनानी शब्द निस्सन्देह शुगवशी पुष्यमित्र का सूचक है, जिसने अश्वमेध यज्ञ की लम्बी अप्रसिद्धि के बाद इस यज्ञ का पुन प्रचार किया था।[1]

श्री रायचौधरी हरिवंश में मिलने वाले 'औद्भिज्ज सेनानी' शब्दो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता ही नही सिद्ध करते वरन् इस विषय के द्वारा शुगवश के इतिहास में नवीन सामग्री के योग को स्वीकार करते हैं। 'औद्भिज्ज' शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार 'वनस्पति से उत्पन्न' अर्थ रखता है। दक्षिण भारत में वनवासी के 'कदम्ब' तथा कांची के 'पल्लव' राजवशो की भाँति औद्भिज्ज शब्द वृक्षो से गोत्रनाम अथवा उपाधि को धारण करने वाली प्राचीन भारतीय परम्परा की सूचना देता है।[2] ज्ञात होता है, पुष्यमित्र शुग के वश का सम्बन्ध कदम्ब तथा पल्लव राजकुलो की भाँति वृक्ष से रहा था।

हरिवश की नीलकण्ठी टीका में 'औद्भिज्ज' शब्द नितान्त भिन्न अर्थ प्रस्तुत करता है। इस शब्द का अर्थ यहाँ पर भूमि के बिल से प्रकट होने वाला योगी कहा गया है।[3] नीलकण्ठ के द्वारा औद्भिज्ज' शब्द की व्युत्पत्ति समीचीन मानी जा सकती है, किन्तु इस व्युत्पत्ति के आधार पर निश्चित किया गया अर्थ इस प्रसग के प्रतिकूल हो जाता है। इस स्थल के अन्य श्लोको के द्वारा पुष्यमित्र और उसके उत्तराधिकारी राजाओ की ओर स्पष्ट सकेत है। इन राजाओ को शुगवशी राजा मानने पर औद्भिज्ज शब्द की 'बिल से प्रकट होने वाला' व्युत्पत्ति असगत तथा हास्यजनक प्रतीत होती है। अत श्री चौधरी के द्वारा की गयी औद्भिज्ज की व्युत्पत्ति अधिक विश्वसनीय है।

1 Ray Ch Ind Cul Vol 4 p 364—The suggestion has been made that the Senānı ıs ıdentıcal wıth Senānı Pusyamıtra whose name appears ın the lıst of the Sunga Kıngs ın the Purānas, and who ıs known from lıterary, and epıgraphıc evıdence to have performed the Aśvamedha sacrıfice

2 Ray Ch Ind Cul Vol 4 p 366

३. हरि० ३ २ ४०—टीका—उद्भिद्य जायत इत्योद्भिज्ज' भूबिलस्यो योगी सयमानायां भुवि प्रकटीभविष्यतीत्यर्थ ।

हरिवंश का यह प्रसग पुष्यमित्र शुग के जीवन पर ही प्रकाश नही डालता । इस स्थल में शुगवशी अन्य राजाओ के शासनसम्बन्धी कार्यों की सूचना मिलती है । औद्भिज्ज सेनानी के युग तथा वश में किसी राज्य के द्वारा राजसूय यज्ञ की स्थापना करने का उल्लेख है।[1] इस समय समाज की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में भ्रान्ति का, तथा थोडे से पुण्य के अधिक फल का कथन है।[2]

भविष्यपर्व के इस प्रसग से पुष्यमित्र सेनानी के वश में किसी शुग राजा के द्वारा राजसूय यज्ञ के विधान की सूचना मिलती है। पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी दस राजाओ का उल्लेख विष्णु० में है।[3] किन्तु पुष्यमित्र के अतिरिक्त अन्य राजाओ के द्वारा किसी यज्ञ के विधान का प्रसग इन प्रमाणो में नही मिलता। हरिवंश के इस प्रसग में शुगवशी किसी राजा के द्वारा राजसूय की समाप्ति के उत्तरकाल को अत्यन्त अशान्तिपूर्ण बतलाया गया है। राजसूय यज्ञ को करने वाला शुगवशी यह राजा शुगकाल के अन्तिम उत्तराधिकारियो में से कोई ज्ञात होता है। इस राजा के राज्यकाल के बाद के वर्णन तथा कलिवर्णन के द्वारा तत्कालीन समाज में बौद्ध धर्म के प्रचार का परिचय मिलता है। ज्ञात होता है, पुष्यमित्र की बौद्ध धर्म के प्रति कठोर नीति[4] के कारण इस राजवश के अन्तिम काल में दलित बौद्ध धर्म पुन: पनप उठा था। इस राज्यकाल के बाद जिस बौद्ध समाज का चित्र मिलता है, वह अत्यन्त ह्रासोन्मुख ज्ञात होता है। सम्भवत: अशोककालीन बौद्ध धर्म का पुनीत रूप इस काल तक विकृत हो चुका था।

कलिवर्णन में बौद्धधर्म-प्रधान समाज का जो चित्र हरिवंश में मिलता है, लगभग वही चित्र अनेक पुराणो के कलिवर्णन में मिलता है।[5] अत इन अनेक पुराणो में कलिवर्णन का प्रसग शुग तथा उसके बाद के काल की सूचना देता है।

१. हरि० ३. २. ४१–तद्युगे तत्कुलीनश्च राजसूयमपि क्रतुम् ।
आहरिष्यति राजेंद्र श्वेतग्रहमिवान्तकः ॥

२ हरि० ३. २. ४४–४५–चातुराश्रम्यशिथिलो धर्मः प्रविचलिष्यति ।
तदा ह्यल्पेन तपसा सिद्धिं प्राप्स्यन्ति मानवाः ॥

३. विष्णु० ४. २४.

४. Camb. His. Ind. Vol. I p. 518—
योमे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि ।

५. वायु० अनुषंग० ३७.४१९–श्रौतस्मार्ते प्रशिथिले धर्मे वर्णाश्रमे तदा ।
सङ्करं दुर्बलात्मानः प्रतिपत्स्यन्ति मोहिताः ॥

हरिवश में यह प्रसग पुष्यमित्र के साथ ही शुगवशी राजाओ के विषय में नवीन सामग्री प्रस्तुत करने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस प्रसग के द्वारा शुगवशी किसी राजा के राजसूय यज्ञ का अज्ञात वृत्तान्त ज्ञात होता है।

ब्राह्मण ऐतिहासिक परम्पराएँ

पुराणो के अन्तर्गत क्षत्रिय वशपरम्परा के साथ ही ब्राह्मण वश-परम्पराए मिलती है। ब्राह्मणवशो की प्रामाणिकता का निराकरण श्री पार्जिटर ने किया है।[1] किन्तु वे प्रत्येक ब्राह्मणवश को निराधार नही मानते। हरिवश के अन्तर्गत अनेक ब्राह्मणवश शृखलाबद्ध रूप में कुछ वशानुगत घटनाओ पर प्रकाश डालते हैं। अन्य ब्राह्मणवश *ब्रह्मक्षत्रो के परस्पर सम्बन्ध की ओर सकेत करते है। इनसे भिन्न ऋषिवश किन्ही* राजवशो से सुदीर्घ काल तक सम्बन्ध रहने के कारण क्षत्रियवश-परम्परा के अन्तरग भाग हो गये है।

वसिष्ठ

कुछ ऋषि राजाओ के राजनीतिक अथवा अन्य सार्वजनिक कार्यों में प्रमुख भाग लेते हुए दिखलाई देते है। वसिष्ठ तथा विश्वामित्र का सम्बन्ध बहुत-से राजाओ से स्थापित किया गया है। पार्जिटर ने अनेक राजाओ से एक वसिष्ठ के सम्बन्ध को असभव मानकर एक से अधिक वसिष्ठो की कल्पना की है।[2] वसिष्ठ तथा विश्वामित्र के परस्पर सघर्ष को दिखाते हुए श्री घोष ने भी अनेक वसिष्ठो की स्थिति को स्वीकार किया है।[3] पार्जिटर का यह मत उचित ज्ञात होता है। हरिवश के अन्तर्गत सप्तर्षियो की गणना के प्रसग में वसिष्ठ का नामोल्लेख दो बार हुआ है। वसिष्ठ का पहला नामोल्लेख प्रथम मन्वन्तर की गणना में तथा दूसरा नामोल्लेख सप्तम मन्वन्तर की गणना

1. Pargiter : Com Essays by Bhandārkar p. 111-112.
2. ,, JRAS. 1910 p. 15
3. B. K. Ghosh. Vedic age p. 245—Viśvāmitra, however was dismissed later by Sudās, who appointed Vasiṣtha as his priest, probably on account of the superior Brahmanical knowledge of the Vasiṣthas.

में हुआ है।[1] हरिवंश के आधार पर ज्ञात होता है कि वसिष्ठों की संख्या कम से कम एक से अधिक थी।

विश्वामित्र

पार्जिटर ने वसिष्ठ की भाँति एक से अधिक विश्वामित्रों की कल्पना की है। उनके अनुसार विश्वामित्रों में प्राचीनतम तथा महत्तम गाधि के पुत्र विश्वामित्र हैं। इसी प्रसंग में पार्जिटर ने हरिवंश में वर्णित विश्वामित्र के क्षत्रिय नाम विश्वरथ की ओर संकेत किया है[2]। शकुन्तला के पिता विश्वामित्र को पार्जिटर ने गाधिपुत्र विश्वामित्र का उत्तराधिकारी माना है। गाधिपुत्र विश्वामित्र कान्यकुब्ज राजवंश में उत्पन्न हुए थे। शकुन्तला के पिता मुनि विश्वामित्र का अस्तित्व महाप्रतापी राजा भरत के काल के आधार पर निश्चित किया जाता है। पार्जिटर ने भरत को विदर्भ से तीन अथवा चार पीढ़ी बाद में निश्चित किया है[3]। गाधि तथा भरत के राज्यकाल में लम्बा व्यवधान दो विश्वामित्रों की विभिन्नता का परिचायक है।

हरिवंश के अन्तर्गत मन्वन्तर वर्णन में विश्वामित्र का नाम दो बार आया है। पहली बार विश्वामित्र का नामोल्लेख अतीत के सप्तम मन्वन्तर की गणना में हुआ है[4]।

१. हरि० १ ७ ८– मरीचिरत्रिर्भगवानागिरा पुलह क्रतु ।
पुलस्त्यश्च वसिष्ठश्च सप्तैते ब्रह्मण सुता ॥
हरि० १.७ ११–एतत् ते प्रथम राजन्मन्वन्तरमुदाहृतम् ।
हरि० १ ७ ३४–ऽत्रिर्वसिष्ठो भगवान् कश्यपश्च महानृषि ।
गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रस्तथैव च ॥

2 Pargiter JRAS 1910 p 33—The earliest and the greatest Viśvāmitra was the son of Gādhi or Gāthim, king of Kānya-kubja and his kṣatriya name was Viśvaratha (Hariv 27 1459, 32 1766) He was connected with the solar dynasty

3 Pargiter JRAS 1910 p 43—The reasonable inferences are that Bhumanyu married Daśārtha's daughter, that Bharata must be placed three or four generations after Vidarbha and that Śakuntala's father was a near descendent of the great Viśvāmitra

४. हरि० १. ७. ३४–गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रस्तथैव च।

दूसरा नामोल्लेख अनागत काल के प्रथम मन्वन्तर में हुआ है। यहाँ पर विश्वामित्र को 'कौशिक' कहा गया है[१]। अतीत और अनागत के ये दो विश्वामित्र एक दूसरे से पूर्णत. भिन्न ज्ञात होते है।

अत्रि

हरिवंश में अत्रि ऋषि का नामोल्लेख दो बार हुआ है। पहला उल्लेख अतीत के प्रथम मन्वन्तर में हुआ है[२]। दूसरा उल्लेख अतीत के सप्तम मन्वन्तर में है[३]। अत. विभिन्न काल मे दो अत्रियो की उपस्थिति ज्ञात होती है।

भार्गव

भविष्यकालीन मन्वन्तरगणना के प्रसग में भार्गव का उल्लेख छ बार हुआ है। भावी प्रथम मन्वन्तर के प्रथम पर्याय में 'ज्योतिष्मान् भार्गव' का उल्लेख है। ज्योतिष्मान् यहाँ पर भार्गव का विशेषण है[४]। दसवें पर्याय के द्वितीय मन्वन्तर में 'सुकृति भार्गव' का उल्लेख है[५]। एकादश पर्याय के तृतीय मन्वन्तर में 'हविष्मान् भार्गव' का वर्णन है[६]। भावी मन्वन्तर के द्वादश पर्याय में भार्गव का चौथा उल्लेख है[७]। भावी मन्वन्तर के त्रयोदश पर्याय में 'भार्गव' का पाँचवाँ नामोल्लेख है। यहाँ पर भार्गव को 'निरुत्सुक' कहा गया है[८]। 'भार्गव' का छठा उल्लेख भौत्य मनु के चौदहवें पर्याय में हुआ है[९]। भार्गवो का छ. बार उल्लेख छ. भार्गवो का बोधक नही माना जा सकता। भार्गव शब्द भृगुवशी ब्राह्मण का बोधक होने के कारण व्यापक अर्थ रखता है। अत मन्वन्तरगणना के अन्तर्गत भार्गव का अनेक बार उल्लेख भृगु वशी छ. विभिन्न ऋषियो का सूचक है, केवल एक भार्गव का नही।

१. हरि० १. ७. ४८—कौशिको गालवश्चैव रुरुः कश्यप एव च।
२. हरि० १. ७. ८; ३. हरि० १. ७. ३४
४. हरि० १. ७. ६१—ज्योतिष्मान् भार्गवश्चैव
५. हरि० १. ७. ६५—सुकृतिश्चैव भार्गवः।
६. हरि० १. ७. ७०—हविष्मान्यश्च भार्गवः।
७. हरि० १. ७. ७६—भार्गवः सप्तमस्तेषाम्।
८. हरि० १. ७. ७९—भार्गवश्च निरुत्सुकः।
९. हरि० १. ७. ८३—भार्गवो ह्यतिबाहुश्च।

वसिष्ठ, विश्वामित्र

त्र्य्यारुण और सत्यव्रत त्रिशकु का वृत्तान्त वसिष्ठ और विश्वामित्र को एक साथ प्रस्तुत करता है। वसिष्ठ, सत्यव्रत (त्रिशकु) तथा विश्वामित्र का सम्बन्ध ऋषियो के ऐतिहासिक महत्त्व का परिचायक है। वसिष्ठ यहाँ पर त्र्य्यारुण के पुरोहित के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। वसिष्ठ के पौरोहित्य में त्र्य्यारुण ने विवाह सम्बन्धी अपराध के वश सत्यव्रत को राज्य से निकाल दिया। पिता के इस कार्य में वसिष्ठ को सहायक समझकर सत्यव्रत ने वसिष्ठ की गाय खा ली। अत वैवाहिक अपराध, गोहत्या तथा गोमक्षण के तीन अपराधो के फलस्वरूप सत्यव्रत 'त्रिशकु' कहलाया[1]। त्रिशकु ने विश्वामित्र का अनुग्रह पाने के लिए विश्वामित्र के अकालपीडित पुत्र का पालन किया[1]। त्रिशकु के इस कार्य से प्रसन्न होकर विश्वामित्र ने उसको सदेह स्वर्ग जाने का वर दिया तथा राज्य में पुन प्रतिष्ठित किया[1]। त्रिशकु के इस वृत्तान्त में वसिष्ठ त्रिशकु के विरोधी होने के कारण विश्वामित्र के भी विरोधी है। ज्ञात होता है, त्रिशकु ने अपने राज्य का पौरोहित्यपद कुलपुरोहित वसिष्ठ को न देकर विश्वामित्र को दिया। त्रिशकु के यज्ञ को कराने वाले पुरोहित के रूप में विश्वामित्र का उल्लेख है।[4] अत विश्वामित्र के अनुग्रह से कृतज्ञ होकर त्रिशकु ने उन्हें ही पुरोहित बनाया होगा।

हरिवश में त्रिशकु के पिता त्र्य्यारुण की राज्यसीमा अयोध्या मानी गयी है[5]। अयोध्या सूर्यवशी राजाओ की प्राचीन राजधानी थी। राम के काल तक सूर्यवशियो की परम्परागत राजधानी अयोध्या रही। त्रिशकु ने कदाचित् अयोध्या में ही राज्य किया। त्रिशकु के पुत्र हरिश्चन्द्र के प्रसग में राज्यसम्बन्धी किसी भी परिवर्तन का उल्लेख नही हुआ है। हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित को रोहितपुर नामक एक नवीन नगर बसाते हुए कहा गया है। वैरागी रोहित ने यह रोहितपुर ब्राह्मणो को दे दिया।[6] रोहितपुर की स्थिति के विषय में हरिवश में कोई विशेष प्रकाश नही डाला गया है। सम्भवत. रोहितपुर अयोध्या के सन्निकट कोई नगर होगा।

१. हरि० १. १३. १९ २. हरि० १. १३. २३
३. हरि० १. १३. २०—२३
४. हरि० १. १३ २२—राज्येऽभिषिच्य पित्र्ये तु याजयामास त मुनि ।
५. हरि० १. १३. ४ ६ हरि० १. १३. २६
हरि० १. १३. २७—ससारासारतां ज्ञात्वा द्विजेभ्यस्तत्पुर ददौ।

इक्ष्वाकुवंश में रोहित के बाद सगर के प्रसंग में वसिष्ठ का पुनः उल्लेख हुआ है। वसिष्ठ यहाँ पर सगर के कुलपुरोहित के रूप में नही माने गये है। विपत्ति काल में सगर की माता की रक्षा करने वाले तथा बाल्यावस्था में सगर को शस्त्रास्त्र की शिक्षा देने वाले और्व भार्गव को यहाँ विशेष आदर दिया गया है।[1] और्व सगर की दो रानियों को सन्तानप्राप्ति कर वर देते है।[2] ज्ञात होता है, और्व भार्गव का स्थान सगर के राज्य में वही था, जो राम के राज्य में वाल्मीकि का था। और्व भार्गव पुरोहित के रूप में कही भी नही माने गये है। किन्तु पूज्य गुरु का स्थान उनको सर्वत्र मिलता दिखलाई देता है।

और्व और सगर का यह सम्बन्ध हरिवंश के अतिरिक्त अन्य पुराणो में भी मिलता है[3]। सगर के राज्यकाल में और्व का महत्त्वपूर्ण स्थान सभी पुराणो की इस घटना की ऐतिहासिकता का सूचक है।

सगर के द्वारा हैहय तथा तालजघो के विनाश का वृत्तान्त वसिष्ठ से सम्बद्ध है। सगर के पराक्रम से त्रस्त होकर शरणार्थी तालजंघ और हैहय वसिष्ठ के आश्रम में जाते है। वसिष्ठ के द्वारा हैहय और तालजघो को अभयदान मिलता है।[4] यहाँ पर वसिष्ठ का व्यक्तित्व पौरोहित्य की सूचना नही देता। सगर के संस्कार, शिक्षण तथा वरप्रदान आदि महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन और्व भार्गव के द्वारा होता है। किन्तु सगर को वसिष्ठ के प्रति गुरु के रूप में सम्बोधित करते कहा गया है।[5] ज्ञात होता है,

१. हरि० १. १४. ७— और्वस्तं भार्गवस्तात कारुण्यात्समवारयत्।
हरि० १. १४. ९— और्वस्तु जातकर्मादि तस्य कृत्वा महात्मनः।
अध्याप्य वेदशास्त्राणि ततोऽस्त्रं प्रत्यपादयत्॥
२. हरि० १. १५. ४— और्वस्ताभ्यां वरं प्रादात्तन्निबोध जनाधिप॥
३. ब्रह्माण्ड० उपो० ४७. ८७; वायु० २, अनु० २६. १२९–१३३
४. हरि० १. १४. १३–१४— ते वध्यमाना वीरेण सगरेण महात्मना।
वसिष्ठं शरणं गत्वा प्रणिपेतुर्मनीषिणम्॥
वसिष्ठस्त्वथ तान् दृष्ट्वा समयेन महाद्युतिः।
सगरं वारयामास तेषां दत्त्वाऽभयं तदा॥
५. हरि० १. १४. १५— सगरः स्वां प्रतिज्ञां च गुरोर्वाक्यं निशम्य च।
धर्मं जघान तेषां वै वेषान्यत्वं चकार ह॥

सगर के पौरोहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान और्व भार्गव को मिला था, किन्तु वसिष्ठ का पारम्परिक गुरुपद अक्षुण्ण था।

सगर के राज्यकाल में जिस वसिष्ठ का उल्लेख है, वे त्रय्यारुणकालीन वसिष्ठ ज्ञात होते हैं। इक्ष्वाकुवश में वसिष्ठ के समकालीन त्रय्यारुण, त्रिशकु, हरिश्चन्द्र तथा रोहित, ये चारो राजा प्रतापी माने गये हैं। रोहित ने वैराग्य के कारण अपने राज्य का दान कर दिया। अत. रोहित का राज्यकाल नही के बराबर है। त्रय्यारुण, त्रिशकु और हरिश्चन्द्र का राज्यकाल अवश्य लम्बा होगा। इन राजाओ के बाद सगर तक के राजाओ का राज्यकाल इनके अप्रसिद्ध होने के कारण छोटा ज्ञात होता है। सगर के काल तक त्रय्यारुणकालीन वसिष्ठ का जीवित रहना असम्भव नही है। सगरकालीन वसिष्ठ का उल्लेख उनके वार्धक्य और एकान्तजीवन का प्रतीक है। सगरकालीन वसिष्ठ तथा त्रय्यारुणकालीन वसिष्ठ एक ही ज्ञात होते हैं।

इक्ष्वाकुवश में सुदास के पुत्र सौदास कल्माषपाद (मित्रसह) के वृत्तान्त में भी वसिष्ठ का नामोल्लेख है[१]। हरिवश में सौदास कल्माषपाद का उल्लेखमात्र हुआ है, सौदास के कल्माषपाद नाम के विवेचन के लिए हरिवश में कोई वृत्तान्त नही है। भूल के कारण राजा सौदास द्वारा दिये गये मास के भक्षण से क्रुद्ध होकर वसिष्ठ ने उसे राक्षस हो जाने का शाप दिया। प्रतिशाप देने के लिए उद्यत सौदास को उसकी स्त्री ने रोक दिया। शाप को व्यर्थ न कर सकने के कारण सौदास ने शाप के जल को अपने पैरो मे डाल दिया। शापजल से उसके पैरो के कृष्णवर्ण होने के कारण सौदास 'कल्माषपाद' कहलाया। राक्षसरूपधारी सौदास ने वसिष्ठ के पुत्र शक्ति को कवलित कर लिया। निराश वसिष्ठ ने आत्महत्या करके ससार से मुक्ति पाने का विचार किया। इसी समय अदृश्यन्ती नामक उनकी पुत्रवधू के आश्वासन से वसिष्ठ को अपने विचार का परित्याग करना पडा।[२] सौदास कल्माषपाद का यह वृत्तान्त सम्भवतः त्र्य्यारुण के समकालीन वसिष्ठ से भिन्न वसिष्ठ को प्रस्तुत करता है। सौदास के लिए यज्ञ कराने वाले वसिष्ठ यहाँ पर ऋत्विज पद पर अभिषिक्त दिखलाई देते हैं। राज्य मे पुरोहित के समान उच्च स्थान मिलने पर ही वसिष्ठ को ऋत्विज पद की प्राप्ति

१. भाग० ९. ९. १८–३६
 वायु० २ अनु० २६. १७५–१७६; महा० १. १७४–१७६
२. महा० १. १७४–१७६

हो सकती है। अतः यह वशिष्ठ त्रय्यारुण के समकालीन तथा त्रिशंकु से तिरस्कृत वसिष्ठ से भिन्न ज्ञात होते हैं। भिन्न वसिष्ठ होने के कारण पूर्वज वसिष्ठ का खोया हुआ सम्मान इन वशिष्ठ को मिलता दिखलाई देता है।

इक्ष्वाकुवंशी राम के राज्य में वसिष्ठ का पौरोहित्य सर्वमान्य विषय है। राम के पूर्वज दिलीप के कुलपुरोहित के रूप में वसिष्ठ का वर्णन रघुवश में है।[1] यहाँ पर वसिष्ठ को 'अथर्वनिधि' कहा गया है।[2] अतः यह वसिष्ठ दिलीप से राम तक के पौरोहित्य पद पर सम्मान के साथ अधिष्ठित ज्ञात होते हैं। दिलीप से राम तक के पौरोहित्य पद में अभिषिक्त वसिष्ठ एक ही ज्ञात होते हैं। रामायण में वसिष्ठ को एक वयस्क ऋषि के रूप में चित्रित किया गया है।[3] अतः दिलीप के समकालीन वसिष्ठ का राम के काल तक नितान्त वृद्ध हो जाना स्वाभाविक है। यह वसिष्ठ त्रय्यारुण के समकालीन तथा सौदास कल्मापपाद के समकालीन वसिष्ठ से भिन्न व्यक्ति ज्ञात होते हैं। सौदास कल्मापपाद के समकालीन वसिष्ठ के लिए सौदास के बाद पाँच पीढी तक के राजाओं के काल का अतिक्रमण करके दिलीप, रघु, अज, दशरथ, और राम के पौरोहित्य को सम्पादित करना सम्भव नही है। दिलीप से रामराज्य तक के राजाओ के प्रतापी होने के कारण उनका राज्यकाल पर्याप्त लम्बा रहा होगा। अत. प्रतापी इक्ष्वाकु राजाओ के समकालीन वसिष्ठ, त्रय्यारुण तथा कल्मापपाद के समकालीन वसिष्ठ से पूर्णतः भिन्न तृतीय वसिष्ठ ज्ञात होते हैं।

पुराणों में वसिष्ठ तथा विश्वामित्र का अनेक राजवशो से सन्निकट सम्बन्ध दिखलाया गया है। विविध राज्यों में से वसिष्ठ के साहचर्य के द्योतक कुछ वृत्तान्त हरिवश में मिलते हैं। किन्तु त्रिशकु के वृत्तान्त को छोडकर अन्य कोई भी वृत्तान्त विश्वामित्र को प्रस्तुत नही करता। वसिष्ठ सम्बन्धी वृत्तान्तो की हरिवश में उपस्थिति होने पर भी वसिष्ठ के वशक्रम का अभाव है। किन्तु विश्वामित्र के वशक्रम का वर्णन एक से अधिक बार विभिन्न रूपो में हुआ है।

१. रघु० १.७२— तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि।
इक्ष्वाकूणां दुरापेर्थ्ये त्वदधीना हि सिद्धयः॥

२. रघु० १.५९— अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरस्सरः।
अर्घ्यामर्घ्यपतिर्वाचमाददे वदतां वरः॥

३. रामा० २.३१.३७; २.३२.१–१०; २.३८.३; ३.३.४

विश्वामित्र-वंश

विश्वामित्र की वंशपरम्परा में उनके पुत्रों की बहुत बड़ी संख्या मिलती है। विश्वामित्र के अनेक पुत्रों में गुरु की गौ का भक्षण करके झूठ बोलने वाले कुछ पुत्रों का उल्लेख हुआ है। पितरों को अर्पित गोमांस के भक्षण से, दुष्ट योनि में प्राप्त होने पर भी उनकी धर्म की ओर उन्मुख बुद्धि तथा पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही।[1] विश्वामित्र के पुत्रों का यह वृत्तान्त श्राद्ध के माहात्म्य के कथन के लिए वर्णित किया गया है। अत इस स्थल में श्राद्ध के माहात्म्य का कथन ही मुख्य विषय है। विश्वामित्र के पुत्रों की वंशपरम्परा को केवल गौण विषय के रूप में प्रस्तुत करने के कारण विश्वामित्र के इन पुत्रों का वर्णन ऐतिहासिक महत्व नहीं रखता।

विश्वामित्र की अन्य सन्तान के रूप में कात्यायन, शालकायन, बाष्कल, लोहित, यामदूत, कारीषव, सौश्रुत, कौशिक तथा सैन्धवायन आदि ऋषियों का उल्लेख है।[2] विश्वामित्र के वंश से सम्बद्ध इन ऋषियों का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है। मौद्गलायन, शालकायन, बाष्कल आदि ऋषियों के गोत्रनाम ज्ञात होते हैं।

मौद्गलायन ऋषि हरिवंश में वर्णित विश्वामित्र के वंशज ऋषियों में महत्त्वपूर्ण हैं। मुद्गल, मौद्गल्य तथा मौद्गलायन नाम अनेक ऋषि, विद्वान् तथा प्रचारकों से सम्बद्ध हैं। मुद्गल इसी नाम के किसी ऋषि का वाचक ज्ञात होता है। मौद्गल्य मुद्गल नामक किसी ऋषि की सन्तान का बोधक प्रतीत होता है, जो आगे चलकर जाति नाम में सक्रान्त दिखलाई देता है।

मुद्गल और मौद्गल्य नाम उत्तरपांचाल राजवंश में भी मिलते हैं। मुद्गल यहाँ पर बाह्याश्व (भाग० ९ २१ ३१–३२ भर्म्याश्व) का पुत्र है। मुद्गल का पुत्र मौद्गल्य कहा गया है।[3] उत्तरपांचालवंशी मुद्गल और मौद्गल्य राजाओं के विषय में पार्जिटर ने वेदों के आधार पर बहुत-सी सामग्री प्रस्तुत की है। उनके अनुसार यह मुद्गल और मौद्गल्य राजा वेदों के मुद्गल और मौद्गल्य राजाओं से समानता रखते हैं।[4] वैदिक मुद्गल और मौद्गल्यों से उत्तरपांचाल राजवंश के मुद्गल और मौद्-

१. हरि० १. २१. १७–१८, २. हरि० १. २७ ४६–५२; १. ३२ ५५–५८ विश्वामित्र वंश पृ०-३२३

३. हरि० १. ३२ ६५–६८, ६७—मुद्गलस्य तु दायादो मौद्गल्यः सुमहायशाः।

4 Pargiter JRAS 1918 p 235—Many of the kings are mentioned in RV Mudgalya is mentioned in hymn 10 102, 5

गल्यो का सम्बन्ध इन राजाओ की प्राचीनता का सूचक है। किन्तु ऋषिवंश के अन्तर्गत वर्णित किये गये मौद्गल्य राजाओ के बोधक न होकर ऋषियो के गोत्रनाम अथवा जातिनाम प्रतीत होते हैं। अत उत्तरपाचाल राजवंश के मुद्गल और मौद्गल्य ऋषिवंशी मुद्गल और मौद्गल्य से भिन्न हैं।

मौद्गल्य नाम बौद्ध जातको के 'मोग्गलायन' से सम्बन्ध सूचित करता है। 'मोग्गलायन' उच्च बौद्ध विचारको में एक माने जाते हैं। सम्भवत पौराणिक मौद्गलायन और बौद्ध मोग्गलायन का गोत्र अथवा जातिनाम समान स्रोत से सगृहीत हुआ है। मौद्गलायन ऋषियो के साथ वर्णित सालकायन, वाष्कल, लोहित, कारीषव तथा सैन्धवायन सुदूर वैदिक ऋषियो के गोत्र से सम्बद्ध ज्ञात होते हैं। शालकायन सम्भवत वैदिक शाकल शाखा और बाष्कल वैदिक वाष्कल शाखा के बोधक गोत्रनाम हैं। इन गोत्र अथवा जातिनामो की वैदिक गोत्रो से एकता इनकी प्राचीनता सिद्ध करती है।

राजवंशवर्णन में प्रसगवश ऋषियो का जो उल्लेख हुआ है, वह कभी कभी दोहरा ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। पहला एतिहासिक महत्त्व किसी राजा के राज्य-सम्बन्धी विषयो पर आश्रित है। दूसरा महत्त्व किसी राजा के राज्यकाल में इन ऋषियो के उच्च स्थान का परिचायक है। वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा भार्गव ऋषि अपने आश्रयदाता राजाओ के काल की विशेषताओ का ही परिचय नही देते, वरन् स्वय पूर्ण ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं। यह सभी ऋषि पुरोहितो के रूप में इक्ष्वाकुवंश से सम्बद्ध हैं।

हरिवंश के अन्तर्गत मन्वन्तरगणना में प्रत्येक अतीत, वर्तमान तथा अनागत मन्वन्तर में सप्तर्षियो का उल्लेख है। प्रत्येक मन्वन्तर के पर्याय के साथ यह मण्डल परिवर्तित होता है। मन्वन्तरगणना के प्रसग में कुछ ऋषियो का उल्लेख नामगणना के अतिरिक्त कोई महत्त्व नही रखता। अत्रि[1] और कश्यप[2] इसी प्रकार के ऋषि हैं। अत्रि का

9, p 239—The genealogy says (1) that Mudgals's son was *Brahmiṣtha or Brahmarsi which indicates that he became* Brahma and Rṣi and (2) that from Mudgala sprang the Maudgalyas who were क्षत्रोपेता द्विजातय (Viṣnu, IV. 19l 16)

१. हरि० १.७ ८, ३४– अत्रिर्वसिष्ठो भगवान्।

२ हरि० १.७ १२.३४ कश्यपश्च महानृषि ।

सम्बन्ध सोमवश के प्रवर्तक ऋषि के रूप में है। अत्रि से सोम की उत्पत्ति के प्रसग में जिस वृत्तान्त का उल्लेख हुआ है, वह अत्यन्त काल्पनिक होने के कारण अत्रि के व्यक्तित्व को पूर्ण पौराणिक बना देता है। कश्यप को स्थावर जगमात्मक जगत् के पिता के रूप मे माना है। दिति और अदिति नामक उनकी दो पत्नियो से क्रमश दैत्य, आदित्य तथा देवता सन्तानो की उत्पत्ति होती है। मारिषा आदि अन्य पत्नियो से वनस्पतियो का जन्म होता है। सृष्टिनिर्माण के असभाव्य वृत्तान्तो से आवृत कश्यप का स्वरूप भी पौराणिक होने के कारण विशेष महत्त्व नही रखता।

हरिवश का ऐतिहासिक महत्त्व

पुराणो की ऐतिहासिक उपादेयता को विद्वानो ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया है। वायु०, ब्रह्माण्ड० मत्स्य०, विष्णु० तथा भागवत की वशविषयक सामग्री को विद्वान् ऐतिहासिक प्रमाणो के रूप में प्रस्तुत करते है। किन्तु हरिवश के ऐतिहासिक महत्त्व की ओर कम विद्वानो का ध्यान गया है। कारण यह है कि हरिवश महापुराणो तथा उपपुराणो की गणना में न आने के कारण विद्वानो के पुराणविषयक अध्ययन से वचित रह गया। महाभारत का खिल होने के कारण हरिवश महाभारत का अध्ययन करने वाले विद्वानो की दृष्टि से भी बचा रहा।

पार्जिटर के तर्कों के अनुसार वश-परम्पराओ की दृष्टि से ब्रह्म-हरिवश का वायु के बाद दूसरा स्थान अवश्य विवाद का विषय है। कुछ वशो के शुद्ध अथवा अशुद्ध पाठ के आधार पर ही पुराणो के विषय को प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक नही ठहराया जा सकता। इस अध्ययन के लिए समस्त पुराण की सामान्य प्रवृत्ति का परीक्षण आवश्यक है। हरिवश की ऐतिहासिक परम्पराओ की प्राचीनता और प्रामाणिकता पर विवेचन इस अध्याय में किया जा चुका है। इस पुराण में वायु०, ब्रह्माण्ड, विष्णु० मत्स्य० तथा भागवत की भाँति कलियुग के राजाओ की लम्बी वशावली नही है। किन्तु प्राचीन राजाओ के वृत्तो का विशुद्ध रूप इस पुराण के वशवर्णन की विशेषता है।

पुराणो से समानता रखते हुए भी हरिवश की ऐतिहासिक परम्पराएँ अपनी विशेषता रखती है। हरिवश के वशक्रमो में वायु०, ब्रह्म०, मत्स्य, तथा विष्णु० के वशक्रमो से भिन्न प्रवृत्तियाँ मिलती है। वायु०, ब्रह्म०, मत्स्य० तथा विष्णु० में अतीतकालीन राजाओ के अतिरिक्त वर्तमान तथा भविष्य काल के राजाओ का लम्बा वशक्रम भी मिलता है।[1]

1. ब्रह्म० १३. १२३–१३८; वायु० अनु० ३७ २४८–२५२; मत्स्य० ५०. ६३–८०; विष्णु० ४. २१. १–८

परीक्षित के आगे की भविष्यकालीन वशावली भारतीय सुव्यवस्थित इतिहास के प्राचीन राजाओं की निकटवर्ती होने के कारण अधिक महत्त्व रखती है। किन्तु हरिवश में परीक्षित के उत्तराधिकारी राजाओं का बहुत छोटा और अन्य पुराणो से भिन्न वशक्रम मिलता है। हरिवश में परीक्षित के बाद के पाचवी पीढी के राजा अजपार्श्व से इस वश की समाप्ति हो जाती है।[1]

हरिवश के अन्तर्गत काशी राजवंश अन्य सभी पुराणो से भिन्न रूप मे दिखलाई देता है। वायु०, ब्रह्माण्ड०, विष्णु० तथा भागवत प्रवर्तन के दो पुत्रो (वत्स भार्ग) के विषय में अस्पष्ट दिखलाई देते हैं।[2] हरिवश में प्रतर्दन के दो पुत्र—वत्स तथा भार्ग से चलने वाला वशक्रम स्पष्ट रूप से मिलता है। प्रतर्दन के पहले पुत्र वत्स के दो पुत्रो से अलग अलग वशक्रम चलता है। वत्स का प्रथम पुत्र वत्सभूमि है। वत्स के द्वितीय पुत्र अलर्क से यह वश आगे बढता है। भर्ग इस वश का अन्तिम राजा है। प्रतर्दन के द्वितीय पुत्र भार्ग के पुत्र भृगुभूमि से वश समाप्त हो जाता है।[3] यह वश सभी पुराणो के वशो से अधिक सुसम्बद्ध होने के कारण सबसे अधिक प्रामाणिक ज्ञात होता है।

किरफेल ने अपने अध्ययन में हरिवश के वशविषयक तत्त्वो की मौलिकता सप्रमाण सिद्ध की है। हरिवश की मौलिकता की सूचना देने के लिए उन्होंने ययाति के वृत्तान्त को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ययाति का वृत्तान्त ब्रह्म और हरिवश में मूल रूप में मिलता है। इन दोनो पुराणो में ययाति का चरित्र अत्यन्त सक्षिप्त है।[4] ययाति का यही चरित्र वायु० तथा ब्रह्माण्ड० में कुछ विस्तृत हो गया है।[5] मत्स्य० में यह चरित्र सबसे अधिक विस्तृत रूप में मिलता है (मत्स्य २४–४२)। है।[6] इस चरित्र का पूर्ण विकसित रूप महाभारत में है। ययाति के चरित्र के द्वारा किरफेल ने ऐतिहासिक मूल तत्त्व में बाद में जोडे गये भागो की जो क्रमागत रूपरेखा प्रस्तुत की है उससे इन सभी पुराणो की ऐतिहासिक विषयसामग्री की स्थिति का ज्ञान होता है।

१. हरि० ३. १. ३–१६
२. वायु० उत्तर० ३०. ६४–७५; ब्रह्माण्ड० उपो० ६७.६७–७९; विष्णु० ४. ८ १२–२१; भाग० ९. १७. २–९.
३. हरि० १. २९. २९–३४, ७२–८२
४. हरि० १. ३०. ४–४६, ब्रह्म १२. १८–४७.
५. वायु० ९३. १५–१०२, ब्रह्माण्ड० उपो० ६७
६. महा० १. ६०, ६२, ६५–७७

हरिवंश में ययाति के चरित्र की प्राचीनता का संकेत विण्टरनित्स ने किया है। उनके अनुसार हरिवंश में ययाति-चरित्र की संक्षिप्तता ही इस पाठ की मौलिकता का कारण नहीं है। इस वृत्तान्त के अन्तर्गत ययाति के नैराश्यजन्य कुछ श्लोक लगभग प्रत्यय पुराण के ययातिचरित्र में मिलते हैं। पुराणों में अक्षरश समानता रखने वाले ये श्लोक निस्सन्देह पुराणों की प्राचीनतम प्रति से संगृहीत हैं। श्री विण्टरनित्स ने ययाति के इस वृत्तान्त का सम्बन्ध सुदूर बौद्ध जातकों से स्थापित किया है।[1]

1 Wint His Ind Lit Vol I p 380—Only the first verse recurs literally in all the other places where the Yayati legend is related (It also occurs in Manu II 94) The remaining verses are found again with variations in I 85 12-16 Hariv 30 1639—1645, Viṣnu Purāna 4 10, Bhāgvata Purāna 9 19 13-15 But only in I 75 51-52 and Hariv 30 1642 is there any talk of union with the Brahman in the sense of the Vedānta philosophy In all other places the corresponding verses only talk of the curbing of desires as the worthy aim of the morality of asceticism, and this morality is the same for Buddhists and Jainas as for the Brahmanical and the Viṣnuite ascetics

आठवाँ अध्याय

दार्शनिक तत्त्व

पुराणो में दार्शनिक विचारधारा दर्शनग्रन्थो से अलग अपना अस्तित्व बनाये रखने के कारण एक स्वतन्त्र स्थान रखती है। यह पुराण समय समय पर जोडी गयी सामग्री के कारण प्रत्येक काल की दार्शनिक विचारधाराओ को प्रस्तुत करते है। दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत कही पर सृष्टि के आदि-स्वरूप की ओर प्रकाश डाला गया है, कही ब्रह्म का चिन्तन है और अन्य स्थलो में जीव, जगत् और माया के सिद्धान्तो का उल्लेख है। पुराणो के अन्तर्गत सृष्टि के विकासक्रम पर विवेचन ब्रह्माण्ड[1] और हिरण्यगर्भ[2] नामक प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तो पर आश्रित है। अत सृष्टि सम्बन्धी पौराणिक प्रसगो का बीज प्राचीनतम दार्शनिक सिद्धान्तो में देखा जा सकता है। प्रकृति-पुरुषात्मक दर्शन साख्य के विशुद्ध रूप को प्रस्तुत करता है। पौराणिक ब्रह्म में वेदान्त के ब्रह्मतत्त्व और साख्य के पुरुष-तत्त्व का समन्वय हुआ है। जीव, जगत् और माया सम्बन्धी पौराणिक स्थल भारतीय दर्शन की साधारण परम्परा को प्रस्तुत करते हैं। यह विभिन्न दार्शनिक विचार पुराणो के वैष्णव अथवा शैव मतो के साथ मिलकर नवीन दार्शनिक तथा धार्मिक विचारधारा को जन्म देते है। भागवत, पाचरात्र तथा श्रीवैष्णव के सिद्धान्त इस प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते है।

दार्शनिक तत्त्व पुराणो का एक अनिवार्य अग है। पौराणिक दार्शनिक तत्त्व के महत्त्व का ज्ञान पचलक्षण तथा दशलक्षण के 'सर्ग' तथा 'प्रतिसर्ग' से हो जाता है।[3]

१. विष्णु० १. २. २८–७०; ब्रह्म० १. २१–५५; वायु० ४. ७७–७८

२. छान्दोग्य० ३. १५. १; विष्णु० १. २. २–२७,

३. विष्णु० ६. ८. २०; मत्स्य० ५३. ६४; कूर्म० १. १. १२; वायु० १. ४. १०; भाग० ११. ७. ९–१०– सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वशो वश्यानुचरित सस्था हेतुरपाश्रयः॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्त पुराण तद्विदो विदु।
केचित् पचविध ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया॥

सर्ग और प्रतिसर्ग में सृष्टि और कल्पान्त के विषयों के अन्तर्गत दर्शन सम्बन्धी अनेक विकसित तथा अविकसित विचार मिलते हैं।

पुराणों के सृष्टिविकास सम्बन्धी स्थलों में अध्ययन के लिए प्रभूत सामग्री है। किन्तु इस सामग्री की ओर बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है। हापकिन्स ने अपने ग्रन्थ में महाभारत के दार्शनिक महत्त्व पर विवेचन एक सम्पूर्ण अध्याय में किया है।[1]

श्री उह्लमऊ और ड्यूसेन ने महाभारत के साख्य को सुव्यवस्थित साख्यदर्शन का पूर्वरूप माना है।[2] इन दोनों का यह सिद्धान्त महाभारतीय और पौराणिक साख्य तथा विकसित साख्यदर्शन में एक सम्बन्ध स्थापित करता है।

दर्शन के क्षेत्र में दासगुप्त का अध्ययन यथेष्ट महत्त्व रखता है। दासगुप्त के ग्रन्थ में गीता पर अध्ययन पौराणिक दर्शन के लिए पथप्रदर्शन करता है।[3] उन्होंने पुराणों के स्वतन्त्र दार्शनिक महत्त्व को स्वीकार किया है। अपने ग्रन्थ में उन्होंने विष्णु०,वायु०, नारदीय० तथा कूर्म्म० पुराणों के दार्शनिक तत्त्व पर सक्षिप्त प्रकाश डाला है।[4]

श्री हिरियाना ने अपने ग्रन्थ में पुराणों के दार्शनिक तत्त्व पर प्रकाश डाला है। उनका पुराणसम्बन्धी दार्शनिक अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने उत्तरवैदिक काल के अन्तर्गत उपनिषदों से चली आने वाली दार्शनिक परम्परा को पौराणिक दर्शन का स्रोत स्वीकार किया है। उनके अनुसार उपनिषदों के सृष्टिसम्बन्धी सिद्धान्त महाभारत में अपरिवर्तित रूप में मिलते हैं। सम्पूर्ण महाभारत में आदि से अन्त तक ये सिद्धान्त बिखरे हुए हैं।[5]

1 Hopkins GEI—"Epic Philosophy" p 85-190
2 Mahābhārata Studies II "Die Sāmkhya Philosophie" Berlin, 1902, Deussen, Op cit Vol 1 pt 3 p 18 (श्री पुसालकर की "Studies in Epics and Purāṇas of India' p 15
3 S Das Gupta Indian Idealism p 59-62
4 Das Gupta His Ind Phil p 496-511
5 Hiriyana Out Ind Phil p 92—As regards the epic, the influence of the Ups is distinctly traceable both in its thought and in its expression, A monism is a prominent feature of its teaching To judge from the popular charac-

पौराणिक दर्शन का सक्षिप्त किन्तु गवेषणात्मक अध्ययन श्री पुसालकर ने किया है। इस अध्ययन में श्री पुसालकर ने कुछ महापुराणो के दार्शनिक स्वरूप की ओर सकेत किया है। किन्तु सक्षिप्त होने के कारण उनका अध्ययन तुलनात्मक विश्लेषण से वचित है। श्री पुसालकर ने विष्णु० के साख्यदर्शन पर बहुत कुछ लिखा है।[1] अन्य पुराणो के दर्शनविशेष पर भी उन्होने पर्याप्त प्रकाश डाला है, किन्तु हरिवश के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक तत्त्व के लिए वे मौन हैं।

पौराणिक दर्शन के क्षेत्र में केवल इतना अध्ययन पर्याप्त नही है। इस अध्ययन के द्वारा पौराणिक दर्शन के विवेचन का मार्ग अवश्य प्रशस्त हो जाता है, किन्तु पुराणो के समस्त दार्शनिक तत्त्व पर यथेष्ट प्रकाश नही पडता। विष्णु०, कूर्म०, वराह तथा हरिवश में साख्य प्रमुख स्थान रखता है। विष्णु० के अतिरिक्त अन्य पुराणो के दार्शनिक तत्त्वो का विस्तृत अध्यन नही हुआ है।

हरिवश में दार्शनिक तत्त्व की विशेषताएँ

हरिवश का दार्शनिक तत्त्व पौराणिक दर्शन के क्षेत्र में महत्त्व रखता है। इस पुराण में भविष्यपर्व के अन्तर्गत सात से बत्तीसवें अध्याय तक आदि सृष्टि का और प्रकृति-पुरुषात्मक विष्णु के स्वरूप का चिन्तन है। इस स्थल में साख्य और योग के विषयो पर अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इस अध्ययन के अन्तर्गत हरिवश के सर्ग और प्रतिसर्ग नामक पचलक्षणो के दर्शन सम्बन्धी तत्त्वो से समानता रखने वाले गीता, महाभारत तथा अन्य पुराणो के इन्ही विषयो की तुलना की गयी है। अनेक पुराणो में मिलने वाले लगभग समान विषयो में कुछ-न-कुछ भिन्नता स्वाभाविक है। देश और काल पुराणो के इन समान विषयों में असमानता के एक कारण हैं। हरिवश के दार्शनिक तत्त्वों से इन पुराणो के दार्शनिक तत्त्व की समानताओ तथा भेदो के द्वारा पुराणो की दार्शनिक प्रवृत्ति में हरिवश के स्थान का निर्धारण हो जाता है।

ter of the original epic, the cosmic conception should be the earlier. Though the same as the Upanisadic account it is set fourth with added detail for like other epic accounts, it also appears in a mythological setting reminding us of early Vedic thought

1. Pusalkar : *Studies in Epics & Purāṇas* p. 19-22.

हरिवंश में दार्शनिक प्रसंग प्रलय के एकार्णव के वर्णन से प्रारम्भ होता है। प्रलय-काल में जलमग्न पृथ्वी को एकार्णव कहा गया है।[1] अव्यक्त विष्णु योगावस्था में स्थित होकर सुदीर्घ काल तक उस एकार्णव में निवास करते हैं।[2] एकार्णव में मार्कण्डेय का आख्यान अन्य पुराणों की भाँति हरिवंश में भी है। अतः एकार्णव और मार्कण्डेय का वृत्तान्त पुराणों का सामान्य प्रसंग होने के कारण हरिवंश में कोई विशेषता नहीं नहीं रखता।

सांख्य

हरिवंश में सांख्यविषयक विचार अनेक स्थलों में मिलते हैं। इस पुराण में विष्णु-पर्व के अन्तर्गत अर्जुन के प्रति कृष्ण की उक्ति में सांख्य प्रकृति का विवेचन हुआ है। प्रकृति को व्यक्ताव्यक्त और सनातन कहा गया है। इसमें प्रवेश करके योगविद् मुक्तावस्था को प्राप्त होते हैं।[3] प्रकृति के इसी स्वरूप का विवेचन गीता[4] में हुआ है। हरिवंश में इस प्रकृति को परम ब्रह्म[5] कहा गया है। गीता में प्रकृति को सांख्य पुरुष की सहचरी बताकर अनादि कहा गया है। जगत् के विकार प्रकृति से ही उद्भूत माने गये हैं।[6]

हरिवंश में प्रकृति को 'विकृतात्मिका' कहा गया है। विष्णुपर्व[7] में वरुण कृष्ण को विकृतात्मिका प्रकृति का स्रष्टा बतलाते हैं। इसी प्रसंग में कृष्ण को 'प्रकृति के

१. हरि० ३.९.१६— ते नगा जलसंछन्नाः पयसः सर्वतोपराः ।
एकार्णवजला भूत्वा सर्वसत्वविवर्जिताः ॥

२. हरि० ३.९.१९— एकार्णवजले योगी ह्यासीद्योगमुपागतः ।
अयुतानां सहस्राणि गतान्येकार्णवेऽम्भसि ॥
न चैनं कश्चिदप्यव्यक्त व्यक्तं वेदितुमर्हति ।

३. हरि० २.११४.१० प्रकृति सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी ।
यां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः ॥

४. गीता० ९.१३— महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

५. हरि० २.११४.११

६. गीता १३.१९— प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

७. हरि० २.१२७.७६— पूर्वं हि या त्वया सृष्टा प्रकृतिर्विकृतात्मिका ।

विकारो के विकार का शमयिता' कहा गया है[1]। प्रकृति का विकार दृश्य जगत् है। इस जगत् के विकार दुष्ट जन हैं। इनके शमन के लिए कृष्ण का बार-बार अवतार ग्रहण ही प्रकृति के विकारो के विकार का शमन है।

हरिवश भविष्यपर्व में[2] प्रकृति को कारण कहा गया है, जिससे महत् की उत्पत्ति हुई। कृष्ण को उस प्रकृति का 'कारणात्मक प्रधान पुरुष' कहा गया है। महत् से अन्धकार की उत्पत्ति होती है। अहकार से पचतन्मात्राएँ तथा पचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। पुरुषरूप कृष्ण को इन कारणो का परिणाम कहा गया है।[3]

हरिवश मे कृष्ण का साख्य पुरुष से एकीभाव विशुद्ध साख्यमत का पोषण नही करता। इस पुराण के साख्य पुरुषरूप कृष्ण में वेदान्त के परब्रह्म का समन्वय हुआ है। कृष्ण को प्रकृति का स्रष्टा कहने के साथ ही प्रकृति के विकारो के विकार का शमयिता कहा है।[4] इस भाव को प्रकट करने के लिए कृष्ण और विश्व की सत्ता खिलौनो के साथ खेलने में मग्न बालक से की गयी है।[5] जिस प्रकार बालक खिलौनो से क्रीडा करते हुए उसको स्वय तोड डालता है, उसी प्रकार पुरुषरूप कृष्ण जगत् में विविध क्रीडाएँ करते हुए स्वय इसका सहार कर लेते हैं। अत हरिवश के कृष्णचरित्र में पुराणो के सेश्वर साख्य के दर्शन होते हैं।

गीता में भी पुरुषरूप कृष्ण में परब्रह्म का एकीभाव दृष्टिगोचर होता है। अज और अव्यय होने पर भी प्रकृति को अधिष्ठित करके जगत् का निर्माण करने वाले कृष्ण को साख्य का विशुद्ध पुरुष नही कहा जा सकता।[6]

सेश्वर साख्य हरिवश का कोई नया सिद्धान्त नही है। महाभारत, विष्णु०, ब्रह्म० तथा कूर्म्म० में सेश्वर साख्य पर ही विवेचन हुआ है। इसी कारण उत्तरकालीन निरीश्वर साख्य तथा महाभारत और पुराणो का साख्य बहुत अश मे भिन्नता रखता है। हरिवश और महाभारत का सेश्वर साख्य पौराणिक साख्य परम्परा से समानता रखता

१. हरि० २.१२७.८ — प्रकृतिर्या विकारेषु वर्तते पुरुषर्षभ ।
तस्या विकारशमने वर्तसे त्व महाद्युते ॥
२. हरि० ३.८८.१८.२० ३. हरि० ३.८८.१८–२३
४. हरि० २.१२७.७६, ८१–८२
५. हरि० २.१२७.८०—विक्रीडसि महादेव बाल क्रीडनकैरिव ।
६. गीता ४.६— अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सभवाम्यात्ममायया ॥

है। साख्य पुरुप के साथ यहाँ पर नारायण और ब्रह्म का समन्वय हुआ है। इसी कारण यह साख्य सेश्वर साख्य का व्यापक स्वरूप प्रस्तुत करता है ।

वरुण के द्वारा कृष्ण के स्वरूप-कथन के प्रसग में साख्य पुरुप और कृष्ण में एकता स्थापित की गयी है। यहाँ पर पुरुप के विभिन्न क्रियाकलापो के साथ पुरपरूप विष्णु के अवतार की सूचना दी गयी है। दुप्ट लोगो के कामक्रोधादि विकारो को शान्त करने के लिए पुरुप-रूप विष्णु समय समय में प्रादुर्भूत होते है।[1] हरिवश में सेश्वर साख्य का यह अन्य प्रमाण है ।

योग

साख्य के सक्षिप्त विवेचन के बाद हरिवश में योग का विस्तृत प्रसग आता है। प्रारम्भ में योगोपसर्ग का वर्णन है। ब्रह्म के चिन्तन से सनातन ब्रह्मयज्ञ का प्रवर्तन होता है। यह ब्रह्मयज्ञ नव द्वारो से युक्त पचेन्द्रिय ग्राम में होता है। मस्तिष्क मे तेज से धूम का सचार होता है। यह धूम अनेक वर्णो से युक्त है।[3] धूम के समूह से अग्नि की ज्वालाएँ और चिनगारियाँ प्रस्फुटित होती है। अग्नि की लपटो के साथ ही अनेको जलधाराएँ बह जाती है। जल तथा अग्नि के श्वेत तथा लोहित वर्ण के सम्मिश्रण से वायु की उत्पत्ति होती है। यह वायु 'सूक्ष्म' प्राण' कहा गया है। वेगमयी गति और शब्द इसका परम गुण है। सहस्रो विभिन्न रूपो को धारण करके अग्नि, वायु, जल और भूमि चित् के प्रवेश से सघातावस्था के बाद समवायत्व को प्राप्त होते है। चक्षुओ के बीच में ब्रह्म, सूक्ष्म और विराट् पुरुप है। पुरुषोत्तम ने उनसे भिन्न अनेक सूक्ष्म और विराट् पुरुपो को उत्पन्न किया। इसी सूक्ष्म और विराट् स्वरूप पुरप को व्यक्ताव्यक्त और सनातन नारायण कहा गया है।[2]

हरिवश के अन्तर्गत साख्य की भाँति योग में भी ब्रह्म को जगत् की आदि शक्ति माना गया है। योगदर्शन के विकास का मूल प्रेरक यह ब्रह्म ही है। ब्रह्म के चिन्तन के कारण मस्तिष्क में अग्निज्वाला और जलधाराओं के सघर्ष से क्रमश वायु और भूमि की उत्पत्ति बतलायी गयी है। यहाँ पर सृष्टि के आदि तत्त्वो के रूप में केवल चार वस्तुएँ मिलती है। साख्य के आकाशतत्त्व का इस स्थल में अभाव है। इन चार तत्त्वो का निर्माण करने के बाद 'व्यक्ताव्यक्त सनातन विष्णु' अनेको सूक्ष्म और विराट् पुरुपो की उत्पत्ति

१. हरि० २.१२७.८१-८२. २. हरि० ३.१८.५-१०
३. हरि० ३.१९ ३

करते हैं। योगसम्बन्धी सृष्टिविकास का यह क्रम सांख्य और वेदान्त के सृष्टिविकास सम्बन्धी क्रम से बहुत अंश में भिन्न है।

योग के अन्य विवेचन में युगधर्म का वर्णन है। योगात्मा ब्रह्मसभूत भगवान् अनेक प्राणियो को उत्पन्न करते हैं।[1] सृष्टि के पूर्व ब्रह्मा रजोगुण अधिक होने के कारण क्षुब्ध होते हैं।[2] ब्रह्मा के योग और वेदात्मक ब्रह्मयज्ञ के द्वारा ब्रह्मसम्बन्धी विपुल ज्ञान तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।[3] ब्रह्मज्ञान में क्रमश चरम शिखर पर आरूढ होने वाले योगी को सर्वप्रथम 'आकाश ऐश्वर्य' की प्राप्ति होती है।[4] आकाश ऐश्वर्य को 'अव्याकृत (निर्विघ्न) ऐश्वर्य' माना गया है।[5] आकाश ऐश्वर्य को प्राप्त योगी क्रमश वायुभूत ऐश्वर्य को पाता है। योगी के ऐश्वर्य का चरम रूप 'ध्रुव ऐश्वर्य' की प्राप्ति पर पूर्ण होता है।[6] ध्रुव ऐश्वर्य को 'निर्मल-ब्रह्म' कहा गया है।[7] ध्रुव ऐश्वर्य की प्राप्ति योग की वह अन्तिम अवस्था है जब योगी शारीरिक बन्धन से मुक्त होकर उन्मुक्त रूप से आकाश मार्ग में विहार करने लगता है। आकाश में भ्रमण करने वाले इस योगी को इन्द्र के अनेको नेत्र भी नही देख सकते।[8] सिद्ध योगी के दर्शन मानसिक रूप से ओंकार का चिन्तन करने वाले ब्रह्मवादियो को होता है। ओंकार को प्राणिजगत् की चेतना से युक्त मनीषियो का परब्रह्म माना गया है। यह ओंकार ब्रह्मसभूत महानाद है और ब्राह्मण इस ओंकार को वायुरूप से अक्षरत्व को प्राप्त होने वाला कहते हैं।[9] नीलकण्ठ ने वायु को मध्यमारूप तथा अक्षरो को मातृकामय वैखरी रूप माना है।[10] रूपरहित यह प्रणव धातुओ से युक्त होकर स्वतन्त्र और असग अवस्था में प्राणियो में

१ हरि० ३ १८ १३–१९ २ हरि० ३ १९ ४
३ हरि० ३ १९ ६–७
४ हरि० ३ १९ ८ नीलकण्ठ टीका—तदा आकाशमव्याकृतमैश्वर्यं प्रवर्तते न तु व्याकृत विक्षेपकम्।
५ हरि० ३ १९ ८ ६ हरि० ३ १९ ११
७ हरि० ३ १९ ११–ध्रुवमैश्वर्यं पूर्वोक्त निर्मल ब्रह्म।
८ हरि० ३ १९ ७ –१३ ९ हरि० ३ १९ १४–१६
१० हरि० ३ १९ १६—ओम् इति शब्द महानाद सर्ववर्णानामभिव्यजक पुराणो नित्य ब्रह्मण सभव एकीभावो येनालभ्भितस्तेन स तथा। अयमेव परापश्यन्ती–सज्ञकशुद्धशबलब्रह्मात्मा सन् वायुभूतो मध्यमारूप अक्षर अक्षरत्व प्राप्त मातृकामयवैखरीरूपो भवतीत्याहुर्ब्राह्मणा।

संचरण करता है।[1] योग का यह प्रसंग योगसाधना में व्यस्त योगी के क्रमिक विकास की स्थिति का प्रदर्शन करता है। सिद्ध योगी के लक्षण के साथ प्रणवरूप ब्रह्म की अवस्था का वर्णन है।

योग का प्रसंग योगमार्ग से भ्रष्ट योगी की मानसिक अवस्था को भी प्रस्तुत करता है। महासागर में उत्ताल तरंगों की भाँति अनेक विघ्न योगी के चित्त को क्षुब्ध करते हैं।[2] क्षुब्ध योगी चेतनाहीन होकर आसन से भ्रष्ट हो जाता है[3]। शुक्ल और पीत विद्युत की ज्योति विघ्न-रूप में योगी के मार्ग में बाधा पहुँचाती है। किन्तु इन विकारों से मन पर नियन्त्रण रखने वाला योगी 'निर्मल ब्रह्म' या उन्मुक्त अवस्था की प्राप्ति से सिद्ध हो जाता है। रसात्मक वह ब्रह्म सहस्ररूपी होकर भी मेघ रूप में बदल जाता है। प्राणिजगत् में भोग के लिए ये मेघ अनेकों रसों की सृष्टि करते हैं।[4] सिद्ध योगी जिस ब्रह्म की प्राप्ति करता है, वह ब्रह्म रसस्वरूप है। यह रसस्वरूप ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि का कारण है।

'तेजरूप ऐश्वर्य' को विकारों का सहकारी कहा गया है, तेजरूप ऐश्वर्य उग्ररूप, दण्डधारी तथा कोलाहलपूर्ण मानवशरीरों के द्वारा योगी के चित्त के क्षोभ का कारण होता है।[5] वायुरूपधारी यह ऐश्वर्य स्त्रियों का वेष धारण करके नृत्य और संगीत के द्वारा योगी के मन को चंचल बनाता है।[6] इन विकारों से मन को नियन्त्रित करके सिद्ध होने वाला योगी 'ध्रुव ऐश्वर्य' अथवा 'निर्मलब्रह्म' को पाकर सिद्ध हो जाता है।[7] आकाश में देदीप्यमान नक्षत्र और ग्रहमण्डल यह सिद्ध होगी है, तथा चन्द्र और सूर्य की गतियों का अनुसरण करते हैं।[8] काल का विभाजन और उसकी गति ये दोनों ही इन ग्रहों का अनुसरण करते हैं।[9] अतः समाधि की अवस्था को पाने वाले योगी मुक्तियों का स्थान पाते हैं।[10]

१. हरि० ३. १९. १७   २. हरि० ३. १९. २६   ३. हरि० ३. १९. २८
४. हरि० ३. १९. २५–३२
५. हरि० ३. १९. ३४–३६   ६. हरि० ३. १९. ३७–३८
७. हरि० ३. १९. ४१– एतैर्विकारैः सवृत्तैनिरुद्धैश्चैव सर्वदा ।
ध्रुवमैश्वर्यमासाद्य सिद्धो भवति ब्राह्मण. ॥
८. हरि० ३. १९. ४३   ९. हरि० ३. १९. ४५–४६
१०. हरि० ३. १९. ५४–५५

पूर्वोक्त स्थल में योग का विवेचन हुआ है। ब्रह्म, योगी के लक्षण तथा उनका स्वरूप, योगी की साधना तथा सिद्धि ही इस स्थल का मुख्य विषय है। योग के इन लक्षणों के अतिरिक्त उसका लाक्षणिक विवेचन मधुकैटभ तथा विष्णु के वृत्तान्त से किया गया है। यहाँ पर मधु और कैटभ को मोह तथा विष्णु को विवेक का प्रतीक माना गया है। मधु-कैटभ का विष्णु से युद्ध और विष्णु के द्वारा उनका वध मोह पर विवेक की विजय को सूचित करता है।

मधुकैटभ-युद्ध में विवेकरूप विष्णु को मानस-शरीर के द्वारा तीनों लोकों में सचरणशील बतलाया गया है। ब्रह्मरूप यह विष्णु सूक्ष्म, योगमय नागरूप में पृथ्वी का वहन करते हैं।[1] यही विष्णु सनातन, दिव्य, शाश्वत तथा ब्रह्मसभव माने गये हैं।[2] अन्य स्थल में उन्हें पुराणपुरुष, विराट्, अक्षय, अप्रमेय, कर्मशील तथा जितेन्द्रिय कहा गया है।[3]

विष्णु के द्वारा मधु तथा कैटभ के वध का प्रसग 'आत्मोपासना' के रूप में प्रसिद्ध है। सुन्दर रूप वाली माया स्वर्णमय ब्रह्म के व्यक्तित्व को छिपा देती है। पचमात्राओ से अहकारपर्वत का जन्म होता है। गुरु इसका द्वार है तथा गुण प्राण। सिद्ध सदैव इसकी सेवा में तत्पर रहते हैं।[4] यह अहकारपर्वत 'पचधातु' तथा 'चेतना' से युक्त है। इस पर्वत ने मानसी सृष्टि के निर्माण की इच्छा की[5]। यह पर्वत जन-साधारण के द्वारा अप्राप्य है। विष्णु की विविध सगुण मूर्तियो के पूजक ही नष्टपाप होकर अव्यक्त अहकारपर्वत को देखने में समर्थ होते हैं। विष्णुभक्तो के अतिरिक्त धर्म के पथ में चलनेवाले महात्मा भी इस पर्वत के दर्शन कर सकते हैं[6]। इस मार्ग का अनुसरण करने वाले प्राणी सिद्धि को प्राप्त करके इहलोक तथा परलोक में सुख पाते हैं।[7] इस स्थल में योग के सृष्टिसम्बन्धी सिद्धान्तो से भिन्न अहकारपर्वत के महत्व का कथन हुआ है। यह अहकारपर्वत महत् अथवा अहकारतत्त्व है, जिसकी प्रचुरता से सृष्टि का विकास होता है।[8]

१. हरि० ३. २६. २७–२८
२. हरि० ३. २६. ३५–त्वमेव पंच ताध्यर्मास्त्वमेवाएंच तान्विभो ।
सनातनमयो दिव्यः शाश्वतो ब्रह्मसंभवः ॥
३. हरि० ३. २६. ४५; ४. हरि० ३. २७. २८; ५. हरि० ३. २७. ३१–३२
६. हरि० ३. २७. ३५–३७ ७. हरि० ३. २७. ४१
८. हरि० ३. २७. ३२–करिष्याम्यहमप्येतन्मनसा धर्मचारिणम् ।

विष्णु के तप तथा परमैश्वर्यलाभ-सम्बन्धी विचार योगसम्बन्धी सृष्टिक्रम के अन्य सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। विष्णु ने उत्तर दिशा में एक पैर से खडे होकर दस हजार वर्षों तक तप किया।[१] नौ सहस्र वर्षों तक भस्म से आच्छादित होकर तप किया।[२] विष्णु के साथ अन्य अनेक देवता भी तप में लीन हो गये। ये देवता सोम और वृषरूपधारी महेश्वर थे। आठ सहस्र वर्षों तक महेश्वर के तप के फलस्वरूप वायु घनीभूत होकर उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गया। यह वायु उद्गार के द्वारा फेनरूप में बाहर निकला।[३] वायु के ससर्ग से वह फेन निराधार आकाश मे बादल बन गया। ये बादल परस्पर सघर्ष से भूमि में जलवर्षा करते हैं।[४] सृष्टि की इस प्रक्रिया के बाद वायु, अग्नि, वासुकि और पृथ्वी ने तप किया।[५] इन देवताओ के अतिरिक्त आदित्य, वसु, मरुत्, अश्विन, गन्धर्व, किन्नर नाग और वरुण ने तप किया।[६]

इस प्रसग में तपोशील शेष को कालकूट विष का कारण बतलाया गया है। वासुकि ने वृक्ष से उलटे लटक कर एक सहस्र वर्षों तक निराहार रूप में तप किया। तब कालकूट विष की उत्पत्ति से समस्त लोक ग्रस्त हो गये। ब्रह्मा ने विष के प्रभाव को मिटाने के लिए अहिंसक ब्रह्माक्षर मन्त्र की सृष्टि की।[७] इस मन्त्र के द्वारा विष का पूर्ण प्रतीकार हो गया।

पृथ्वी के तप का फल भी शेष के तप की भाँति सृष्टि में परिवर्तन का कारण बतलाया गया है। सूर्य ने अपनी किरणो के द्वारा तपोशील पृथ्वी के रस का ग्रहण किया। यह रस बादलो के द्वारा मेघजल के रूप में पुन वापस आया तथा इससे नदियो की सृष्टि हुई। सूर्य की किरणो से समन्वित स्वर्णमय धातुओं वाली नदियाँ स्फटिक मणि की भाँति शोभित हुई।[८] यहाँ पर पृथ्वी के साथ जल तथा सूर्य का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

देवताओ के तप को प्रोत्साहन देने वाले प्रमुख देवता विष्णु माने गये हैं। समस्त सृष्टि के विकास का एकमात्र कारण तप विष्णु से प्रेरणा ग्रहण करता है। विष्णु सभी

१. हरि० ३.२८.१–३
२. हरि० ३.२८.४
३. हरि० ३ २८.९–१०
४. हरि० ३ २८.१३–१४
५. हरि० ३.२८.१५–४३
६. हरि० ३.२८.६७–६९
७. हरि० ३.२८.३२–३७
८. हरि० ३.२८.५१–५३

देवताओं की तपस्या के अध्यक्ष हैं।[1] अन्य स्थल में विष्णु को अपने सहचारियों की सरक्षा में तत्पर कहा गया है।[2] अत. योग के क्षेत्र में विष्णु तप के अग्रणी हैं।

तप के उच्चतम प्रतीक के रूप में विष्णु का उल्लेख हरिवश के अन्य स्थल में भी हुआ है। यहाँ पर रुक्मिणी की प्रार्थना के अनुसार कृष्ण वदरिकाश्रम में तप करने के लिए जाते हुए बताये गये हैं। वदरिकाश्रम में समाधिमग्न कृष्ण को देखकर समस्त देवता तथा ऋषि अपने नेत्रों को सफल करते हैं।[3] अत. तपस्या से कृष्ण-विष्णु का सम्बन्ध केवल योगसम्बन्धी स्थलों में ही नहीं है। वह कृष्ण-चरित्र में भी मिलता है।

नर और नारायण का तप विष्णु के तपोशील चरित्र का अन्य प्रमाण है। देवी भागवत में नर और नारायण को सुदीर्घ काल तक तप करते हुए चित्रित किया गया है। उनके तप में विघ्न डालने के लिए इन्द्र ने अप्सराएँ भेजी किन्तु सफल नहीं हो पाये।[4] *अन्य स्थलों में अर्जुन नर के तथा नारायण विष्णु के अवतार माने गये हैं।*[5] हरिवश के अन्तर्गत ब्राह्मणपुत्र को वचाकर अर्जुन के साथ सप्तसागर, सप्तपर्वत, और लोका-लोक को पार करके अन्धकार-विवर से लौटने वाले कृष्ण नारायण के स्वरूप हैं। यहाँ पर नर से नारायण के उत्कर्ष का स्पष्ट कथन हुआ है। कृष्ण अर्जुन को अपनी व्यापकता का स्वरूप बतलाते हुए समस्त सृष्टि में अपने विराट् सूक्ष्म तत्त्व की उपस्थिति बतलाते हैं[6]।

१. हरि० ३. २८. २८–३०– विष्णुरेव तपोऽध्यक्षस्तेजसोऽन्ते विजृम्भति।
न हि कश्चित् पुमानस्ति य एवं तप आचरेत्।
त्रिषु लोकेषु राजेन्द्र ऋते विष्णुं सनातनम्॥

२. हरि० ३. २८. ७१

३. हरि० ३. ७७. १–२०

४. देवी भा० ४. ५

५. देवी भा० ४. १

६. हरि० २. ११३. २०; २. ११४. ९–१५, १२–१३–
मामेव तद्घनं तेजोज्ञातुर्महसि भारत।
समुद्रः स्तब्धतोयोऽहमहं स्तम्भयित जलम्॥
अहं ते पर्वताः सप्त ये दृष्टा विविधास्त्वया।
पंकभूतं हि तिमिरं दृष्टवानसि यद्धि तत्॥
अहं तमो घनीभूतस्त्वहमेव च पाटकः।

हरि० ३. १०. ४९–६२

हरिवंश का यह स्थल गीता के अन्तर्गत कृष्ण के विराट् स्वरूप के प्रदर्शन से पूर्ण समानता रखता है।[1]

महाभारत में नारायणीय भाग के अन्तर्गत पाचरात्र में विष्णु के तपोशील स्वरूप को प्रमुख स्थान दिया गया है। नारायण रूप विष्णु यहाँ पर बदर्याश्रम में तप में लीन कहे गये हैं। उनके तप का कारण गम्भीर है। नारद उनकी इस कठोर साधना का कारण पूछते हैं। नारद के प्रश्न के उत्तर स्वरूप नारायण कहते हैं कि वे सर्वगामी और निर्गुण 'क्षेत्रज्ञ' के दर्शन ज्ञानयोग से करना चाहते हैं।[2] नारायण का तप सृष्टि के पूर्व निश्चित नियम के अनुसार स्वयभूत है। उनके तप के फलस्वरूप सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध नामक उनकी अन्य विभूतियाँ अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं। चतुर्व्यूह की इन चारो विभूतियो के अपने अपने कार्यों में व्यस्त होने पर ही सासारिक नियमो का सचालन होता है।[3]

हरिवंश के अन्तर्गत तारकामय सग्राम में असुरो के वध के बाद विष्णु को नारायणाश्रम में विश्राम करते हुए कहा गया है। यहाँ पर विष्णु निद्रामय योग में मग्न रहते हैं। निद्रायोग में सोये हुए विष्णु को *ब्रह्मर्षि और ब्रह्मा भी नही जान पाते।*[4] योगनिद्रा से विष्णु का उद्बोधन किसी सकटकाल के आने पर ब्रह्मा तथा देवताओ के द्वारा होता है।[5] यहाँ पर निद्रा को योगनिद्रा का नाम देकर विष्णु की शयनक्रिया में भी तप का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

हरिवंश के अन्तर्गत योग का प्रसग यही कही पर साधारण अर्थ के अतिरिक्त गम्भीर अर्थ भी रखता है। योगसम्बन्धी विवेचन के अन्त में पृथु के राज्याभिषेक,

१. गीता १०. २०–४१

२. महा० १२. ३२१. ८–४६   ३. महा० १२. ३२६. १–४०

४. हरि० १. ५०. १५–१६– न तं वेद स्वयं ब्रह्मा नापि ब्रह्मर्षयोऽव्ययाः।
विष्णोर्निद्रामयं योगं प्रविष्टं तमसावृतम्॥
ते तु ब्रह्मर्षयः सर्वे पितामहपुरोगमाः।
न विदुस्तं क्वचित्सुप्तं क्वचिदासीनमासने॥

५. हरि० १. ५७. ३६–३७– तस्य वर्षसहस्राणि शयानस्य महात्मनः।
जग्मुः कृतयुगं चैव त्रेता चैव युगोत्तमम्॥
स तु द्वापरपर्यन्ते ज्ञात्वा लोकान्सुदुःखितान्।
प्राबुध्यत महातेजाः स्तूयमानो महर्षिभिः॥

उनके समृद्धिशाली राज्य में देवता तथा दानवो की सागरमन्थन की अभिलाषा और अनेक रत्नो के आविर्भाव का वर्णन है। अमृत की प्राप्ति के लिए इच्छुक राहु को विष्णु चक्र से नष्ट कर देते हैं। इन्द्र के पास से पृथ्वी अमृत का हरण करती है।[1] यह वृत्तान्त अधिकाश स्थलो में साधारण अर्थ की अभिव्यक्ति करते हुए भी कुछ स्थलो में विशेष अर्थ रखता है। नीलकण्ठ ने इन स्थलों की व्याख्या हठयोग के पारिभाषिक शब्दो के आधार पर की है। लवणसागर में देव तथा दानवो के द्वारा मन्दर को मथानी तथा वासुकि को नेत्र बनाने का साधारण अर्थ हठयोग के पारिभाषिक शब्दो के द्वारा व्यक्त किया गया है। पुष्कर यहाँ पर देह का प्रतीक माना गया है तथा मन सागर का। औषधियाँ वासना है तथा वासुकि मन के अन्तर्गत सर्पाकार कुण्डली। नेत्र योगमार्ग में प्रवृत्त होने की क्षमता है, जिसके द्वारा कुण्डलिनी-मूल का बन्धन खुल जाता है।[2]

नीलकण्ठ ने देवता तथा दानवो के प्रयत्नो के फलस्वरूप सागर से निकलने वाले रत्न—धन्वन्तरि, मद्य, लक्ष्मी, कौस्तुभ, चन्द्रमा, उच्चैः श्रवा और अमृत की भी यौगिक परिभाषा दी है। धन्वन्तरि यहाँ पर योग के लघुत्वादिगुण के प्रतीक हैं।[3] मद्य से योगी के चित्त को उद्विग्न करने वाली मधुमती आदि भूमि के अर्थ की अभिव्यक्ति हुई है। लक्ष्मी ऋगादि वेदविद्या की प्रतीक हैं। कौस्तुभ देह की दीप्ति का वाचक है। चन्द्रमा आह्लादकत्व को व्यक्त करता है। उच्चैः श्रवा से दूरदर्शन और श्रवण की शक्ति की प्रतीति होती है। पारिजात सुगन्ध का प्रतीक है। अमृत निर्विशेष कैवल्य का वाचक है।[4] हठयोग के क्षेत्र में इन पारिभाषिक शब्दो का विशेष स्थान है।

समुद्रमन्थन से आविर्भूत रत्नो में अन्तिम तथा उत्कृष्टतम रत्न—अमृत, तथा राहु के द्वारा उसके ग्रहण की अभिलाषा के पौराणिक वृत्तान्त की योगसम्बन्धी व्याख्या भिन्न रूप में की गयी है। अमृत यहाँ पर ज्ञान का वाचक है। राहु उस ज्ञान का आहरण

१. हरि० ३ ३०. २–३२
२. हरि० ३. ३०. २६—नीलकण्ठ टीका—पुष्कर' सनालविलसत्कमलसादृश्यान्मन्थनदण्ड। पुष्कर तत्स्थाने देह कृत्वा मन' समुद्रे वासनौषधीः सहृत्य तत्र त देह विक्षिप्य वासुकिं सर्पाकारा कुण्डलिनीं नेत्र योगमार्गनयनक्षम सहाय कृत्वा कुण्डलिनीमूल बन्धेनोद्बोधयेत्।
३. नीलकण्ठ—अत्र धन्वन्तरिशब्देन—'लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठव च' इति स्मृतिप्रसिद्धा लघुत्वादयो लक्ष्यन्ते। हरि० ३. ३०. २६
४. हरि० ३. ३०. २८–२९—नीलकण्ठ टीका।

करनेवाला कपटविद्यार्थी है। निर्विशेप कैवल्य ज्ञान के अनधिकारी राहु का विनाश करके विष्णु उस ज्ञान को देवताओ के लिए सुलभ बनाते हैं। इन्द्र के पास से पृथ्वी उस अमृतरूपी ज्ञान का हरण करती है तथा उसी से शिष्यपरम्परा के द्वारा मानवजाति उस ज्ञान की अधिकारिणी होती है।[1]

हरिवश के अन्तर्गत योग का विस्तृत विवेचन अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। इस विवेचन के प्रारम्भ में योग के पारिभाषिक शब्दो का लगभग अभाव है। अष्टाग-योग के यमनियम, प्राणायाम आदि का इस स्थल में उल्लेख नही है। हरिवश में योग का यह स्वरूप इस दर्शन की प्रारम्भिक अवस्था को सूचित करता है।

हरिवश में योगसम्बन्धी विवेचन के अन्तिम स्थलो में हठयोग का निरूपण हुआ है। यह प्रसग योग के प्रारम्भिक प्रसग से अधिक अर्वाचीन ज्ञात होता है। इसका पहला कारण है कि हठयोग स्वय योग की विकसित अवस्था का प्रतीक है। दूसरा कारण हठयोग के पारिभाषिक शब्द—कुण्डलिनी और कुण्डलिनीमूल तभी प्रचलित हो सकते हैं, जब हठयोग के सिद्धान्तो का समुचित विकास हो चुका होगा। अतः हरिवश के योग-निरूपण में प्रारम्भिक स्थल प्राचीन है तथा अन्तिम स्थल अर्वाचीन।

हरिवंश में पाञ्चरात्र का अभाव

हरिवश में वैष्णव भक्ति का अत्यन्त सरल रूप मिलता है। इसमें वैष्णव भक्ति के पाचरात्र के लिए विशेष स्थान नही है। केवल एक स्थल पर पाचरात्र का प्रभाव लक्षित होता है। अनिरुद्ध को मुक्त करने के लिए प्रस्थित कृष्ण गरुड का आह्वान करते हैं। इसी समय गरुड की स्तुति में कृष्ण को 'चतुर्मूर्ति' कहा गया है। नीलकण्ठ ने टीका में चतुर्मूर्ति का अर्थ वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध दिया है।[2] गरुड के द्वारा इस स्तुति में कृष्ण के लिए चार विभूतियो के स्वामी के रूप में अनेक विशेषण दिये गये है। कृष्ण को 'चतुर्भुज', 'चतुर्मूर्ति', 'चातुर्होत्रप्रवर्तक', 'चातुराश्रम्यहोता', और 'चतुर्नेता' कहा गया है।[3] इन अनेक विशेपणो में 'चतुर्मूर्ति' अवश्य पाचरात्र

१. हरि० ३. ३०. ३१–३२—नीलकण्ठ टीका।

२. हरि० २. १२१. ६ टीका—चतुर्मूर्तिः वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाख्याश्चतस्रो मूर्तयो यस्य स तथा।

३. हरि० २. १२१. १५– चतुर्भुजश्चतुर्मूर्तिश्चातुर्होत्रप्रवर्तकः।
चातुराश्रम्यहोता च चतुर्नेता महाकविः॥

के चतुर्व्यूह का वाचक ज्ञात होता है। किन्तु पाचरात्र के किसी भी अंग का उल्लेख इस पुराण के अन्य भाग में नही मिलता।

हरिवंश के भविष्यपर्व में कृष्ण के द्वारा कैलास पर्वत पर तप करने के प्रसंग में पाचरात्र के प्रभाव की आशंका होती है। यहाँ पर घण्टाकर्ण नामक पिशाच की स्तुति का वर्णन है। घण्टाकर्ण विष्णु के अनेक पराक्रमो का नामोच्चारण करते हुए कृष्ण के एकान्ततत्वस्वरूप की ओर संकेत करता है[1]। कृष्ण के लिए प्रयुक्त इस 'एकान्ततत्व' शब्द के द्वारा पाचरात्र के 'एकान्तिक' का बोध हो सकता है। पाद्मतन्त्र में पाचरात्र के अनन्त समानार्थक शब्दो में एकान्तिक का उल्लेख हुआ है[2]। ईश्वरसंहिता में इसको 'एकायन' कहा गया है। मोक्ष के लिए पाचरात्र के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है। अत इसे एकायन कहते हे[3]। महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय भाग में चार प्रकार के नारायण के भक्तो में एकान्तिको को सर्वोत्तम माना गया है[4]।

हरिवंश में विष्णु के लिए 'एकान्ततत्त्व' शब्द पाचरात्र के एकान्तिक का बोधक नही मानना चाहिए। यह शब्द कृष्ण के परमतत्त्व का बोधक ज्ञात होता है। नारायणीय और पाचरात्रसंहिता में पाचरात्र के लिए 'एकान्तिक' और 'एकायन' शब्दो का ही प्रयोग हुआ है। अत 'एकान्ततत्त्व' शब्द को पाचरात्र के सिद्धान्तविशेष का बोधक मानने का कोई प्रमाण नही है।

हरिवंश में वज्रनाभ की विजय के बाद वज्रनाभपुर को चार भागो में विभक्त करने का उल्लेख है[5]। ये चार भाग क्रमश इन्द्र के पुत्र जयन्त, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध[6]

१. हरि० ३ ८० ८१– य प्राहुरीड्य वरद वरेण्य—
मेकान्ततत्त्व मुनय पुरातना ।
य सर्वग देवमज जनार्दन
द्रष्टु हरिं सप्रति सयता स्म ॥

२ पद्म० ४ २ ८८– सूरिस्सुहृद्भागवतस्सात्वत पचकालवित ।
ऐकान्तिकस्तन्मयश्च पाचरात्रिक इत्यपि ॥

३ ईश्वर० १ १८ मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते ।
तस्मादेकायन नाम प्रवदन्ति मनीषिण ॥

४ महा० १२ (नारायणीय) ३२९ १४० ५ हरि० २ ९७ २५–२६

६ हरि० २ ९७ २६—नीलकण्ठ ने अपनी टीका में 'रौक्मिणेय' से साम्ब तथा 'रौक्मिणेयसुत' से साम्ब का पुत्र अर्थ लिया है—'रौक्मिणेयोऽत्र साम्बस्तत्सु-

तथा गद के पुत्र चन्द्रप्रभ को मिलते हैं। इस स्थल में प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का उल्लेख है, किन्तु वासुदेव तथा संकर्षण का संकेत भी नहीं है।

हरिवंश में वैष्णव परम्परा के विविध स्वरूपों के द्वारा विष्णुभक्ति के प्रारम्भिक रूप का परिचय मिलता है। इस पुराण में कुछ स्थलों पर प्रसिद्ध भागवत मन्त्र का उल्लेख हुआ है[1]। किन्तु इस आधार पर हरिवंश में किसी भी निश्चित विष्णुभक्ति के रूप को नहीं देखा जा सकता। कृष्ण के बदरिकाश्रमगमन के प्रसंग में शिव की महिमा का वर्णन स्वयं कृष्ण के मुख से हुआ है। किन्तु पुराण के अन्त में सभी देवताओं के गौरव को विष्णु में निमज्जित कर दिया गया है। ब्रह्मसदृश ऋषिगण, शिव, देवता और शूरवीर विस्मित होकर महायोगी विष्णु का नित्य स्तवन करते हैं[2]। यह स्थल हरिवंश के नानाविध वृत्तान्तों में वैष्णव धर्म की प्रमुखता को सूचित करता है।

हरिवंश के अन्तर्गत नृसिंह की स्तुति में ब्रह्मा उन्हें व्यक्ताव्यक्त, शाश्वत, तथा चतुरात्मा कहते हैं[3]। 'चतुरात्मा' और 'चतुर्विभक्तमूर्ति' के विशेषणों से पाचरात्र के चतुर्व्यूह का भ्रम हो सकता है। नृसिंह के लिये ये दो विशेषण वेदान्त के विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और तुरीय वाचक हैं[4]। अत: इस विशेषण में भी पाचरात्र के चतुर्व्यूह की सम्भावना नहीं हो सकती।

विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और तुरीय—इन चार अवस्थाओं का विवरण नृसिंहोत्तर-तापनीय उपनिषद् में मिलता है[5]। हरिवंश में नृसिंहोत्तरतापनीय से मिलते जुलते

तस्य परिशेषः'। किन्तु नीलकण्ठ का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। प्रद्युम्न का प्रसंग होने के कारण 'रौक्मिणेयसुत' के लिए यहाँ पर अनिरुद्ध कहना ही उचित होगा।

१. हरि० ३.८०.५९– नमो भगवते तस्मै वासुदेवाय चक्रिणे।
नमस्ते गदिने तुभ्य वासुदेवाय धीमते॥
हरि० ३.९०.२७– नमो विष्णो नमो विष्णो नमो विष्णो नमो हरे।
नमस्ते वासुदेवाय वासुदेवाय धीमते॥

२. हरि० ३.१३३.८३–विष्णुरेव महायोगी योगेन प्रसमयन्निव।
स्तूयते ब्रह्मतुल्यैश्च ऋषिभिः शङ्करेण च॥
ब्रह्मणा सहितैर्देवैः संप्रयत्नैरथोर्जितैः।

३. हरि० ३.४७.२३–२४

४. हरि० ३.४७.२३–२४ टीका।

५. हरि० ३.४७.२३–२४

विचारो का विषय अवश्य एक दूसरे की प्रेरणा का कारण रहा होगा। हरिवश में नृसिहावतार के अन्तर्गत विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और तुरीय के जिन सिद्धान्तो को सक्षिप्त रूप में देखा जाता है, वही सिद्धान्त नृसिहतापनीय उपनिषद् में विस्तार के साथ मिलते हैं। अत. हरिवश में 'चतुर्विभवतमूर्त्ति' विश्व, तैजस्' प्राज्ञ और तुरीय का वाचक है, चतुर्व्यूह का नही।

हरिवश तथा अन्य पुराण

साख्य

हरिवश में साख्य का प्रसग इस दर्शन के जिन स्थूल सिद्धान्तो को प्रस्तुत करता है, वे बहुत अश में गीता, महाभारत तथा अन्य पुराणो में भी मिलते हैं। हरिवश में ब्रह्म से पुरुष की उत्पत्ति बतलायी गयी है[1]। इस पुरुष को सभी ओर से बाहु तथा पादयुक्त, सर्वत्र नेत्र सिर तथा मुखवाला, सर्वज्ञाता तथा सर्वव्याप्त कहा गया है[2]। साख्यपुरुष के लिए हरिवश में प्रयुक्त यह विशेपण अनेक ग्रन्थो में अक्षरश. इसी रूप में देखे जा सकते हैं। हरिवश के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो में इस श्लोक की पूर्ण समानता आश्चर्यजनक है।

गीता के अन्तर्गत ब्रह्म के लक्षणो के कथन में उन्ही विशेपणो का प्रयोग हुआ जो हरिवश में साख्य पुरूष के लिए प्रयुक्त किये गये हैं[3]। वायु० के अन्तर्गत ब्रह्म के लिए पूर्णत इन्ही विशेषणो का प्रयोग हुआ है[4]। कूर्म० में ब्रह्म की व्याख्या के लिए भी यह श्लोक अक्षरश मिलता है[5]। ब्रह्म के अन्तर्गत ज्ञानातीत परम सत्ता को सर्वव्यापी दिखलाते हुए इसी श्लोक का आश्रय लिया गया है[6]। ब्रह्म के अन्य स्थल में हिरण्यगर्भ की सर्वव्यापक सत्ता का वर्णन इसी श्लोक के द्वारा हुआ है[7]। हरिवश के अतिरिक्त अन्य पुराणो में मिलने वाला यह श्लोक समान स्रोत से गृहीत ज्ञात होता है।

१. हरि० ३.१६.२-३

२. हरि० ३.१६.६- सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

३ गीता १३.१३- सर्वतः पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

४. वायु० पूर्व० १४.१२

५. कूर्म० २.३.२

६. ब्रह्म० २३५.३०

७. ब्रह्म० २४०.१५-१६

हरिवंश के इस श्लोक की सीमा पुराण तथा गीता तक ही नहीं है। पौराणिक ग्रन्थों से बाहर पाचरात्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ अहिर्बुध्न्य० और जयाख्य संहिता में भी यह श्लोक इसी रूप में देखा जाता सकता है। ब्रह्म के सर्वशक्तिमान्, सर्वव्याप्त और सर्वज्ञातृ-स्वरूप पर विवेचन अहिर्बुध्न्य० में हरिवंश के इस श्लोक से कुछ भिन्न शब्दों में मिलता है[1]। यह प्रसंग ब्रह्म तथा नारायणी शक्ति में समन्वय प्रस्तुत करता है[2]। अतः ब्रह्म ही इस प्रसंग का मुख्य वर्ण्य विषय है। किन्तु श्लोक में ब्रह्म के स्थान पर पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है। सम्भवतः अहिर्बुध्न्य० का पुरुष हरिवंश के पुरुष का बाधक है। कारण यह है कि हरिवंश को छोड़कर अन्य किसी भी पुराण अथवा गीता में इस स्थल का मुख्य विषय पुरुष नहीं है।

श्री दासगुप्त अहिर्बुध्न्य० को पर्याप्त प्राचीन तथा मौलिक पाचरात्र ग्रन्थ मानते हैं[3]। अहिर्बुध्न्य० में पुरुषविषयक यह श्लोक संक्षिप्त है। यह हरिवंश की परम्परा का अनुसरण करता दिखलाई देता है। जयाख्य० में इस श्लोक के प्रधान विषय को ब्रह्म माना गया है तथा इस विचार की विशद व्याख्या हुई है। किन्तु हरिवंश तथा अहिर्बुध्न्य में इस श्लोक को एक दूसरे से प्राचीन अथवा अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता।

जयाख्य० में परब्रह्म के निरूपण के प्रसंग में यह श्लोक (सर्वत्र करवाक्पाद) मिलता है[4]। पाचरात्र का ग्रन्थ होने के कारण जयाख्य० का यह श्लोक हरिवंश और अन्य पुराणों में उपलब्ध परम्परा से भिन्न दिशा की ओर अग्रसर हुआ है। जयाख्य०

१. अहिर्बुध्न्य० ४ ५६– सर्वात्मा सर्वतः शक्तिः पुरुषः सर्वतोमुखः।
सर्वज्ञः सर्वगः सर्वं सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

२. अहिर्बुध्न्य० ४ ७७– महाभाव प्रजत्येव सा शक्तिर्वैष्णवी परा।
नारायण परं ब्रह्म शक्तिर्नारायणी च सा॥

3. Das Gupta Ind Idealism p 60—according to अहिर्बुध्न्य which seems pretty old and quite uninfluenced by the later philosophical speculations, God is conceived of as being and next to *Him* is the category of the unchangeable, the Brahaman consisting of the sum total of the Purusas the Prakriti as equlibrium of the Gunes and time (काल)

४. जयाख्य० ४ ६३–६४– सर्वतः करपादं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

के अन्तर्गत दो चरण वाले इस सक्षिप्त भाव की विशद व्याख्या हुई है। नारद के द्वारा परब्रह्म के लिए प्रयुक्त इन विशेषणो के अर्थ के पूछने पर नारायण उनका अलग-अलग महत्त्व बतलाते हैं। देश और काल से पृथक् न होने के कारण परब्रह्म को 'सर्वपाणिपाद युक्त' कहा गया है। सूर्य की भाँति प्रकाशरूप होने के कारण वह 'सर्वचक्षु' कहा गया है। समत्व और पावनत्वरूप होने के कारण वह 'सर्वशिरा' है। विश्व के अनन्तरस उस परब्रह्म के सम्मुख विद्यमान है। इसी कारण वह 'सर्वमुख' कहा गया है। शब्दराशिमय होने के कारण परमेश्वर 'सर्वत' श्रुतिमत्' है। काष्ठखण्ड में वह्नि जिस प्रकार भिन्न होते हुए भी अभिन्न की भाँति रहती है, उसी प्रकार जगत् में स्थित होने के कारण परब्रह्म सबको आवृत्त करके अधिष्ठित रहता है[1]। अपने सर्वव्याप्तिरूप गुणो से ही वह ब्रह्म जगत् को आवृत करके स्थित बतलाया गया है।

परब्रह्म और साख्य पुरुष के विषय में हरिवश और पुराणो में मिलने वाला यह सक्षिप्त लक्षण जयाख्य० में अनेक उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ज्ञात होता है, पुरुष और ब्रह्म के विषय में पुराणो का मौलिक श्लोक जयाख्य० के काल तक गौरवपूर्ण स्थान ग्रहण करने लगा था। इसी कारण इस श्लोक की उदाहरणो सहित विस्तृत व्याख्या नारायण के मुख से करवायी गयी है।

जयाख्य० के काल का निर्णय हो जाने पर जयाख्य० के अन्तर्गत ब्रह्मविषयक इस श्लोक की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता का प्रमाण मिल जाता है। श्री भट्टाचार्य ने *जयाख्य० का काल तृतीय शताब्दी के बाद का माना है[2]। जयाख्य० के काल को* तृतीय शताब्दी के उत्तरकाल का मानने पर स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय शताब्दी से बहुत पूर्व यह मूल पौराणिक श्लोक लगभग सभी ग्रन्थो के दार्शनिक स्थलो में समान रूप से स्वीकृत हो चुका था। हरिवश तथा गीता में इस श्लोक की उपस्थिति इस श्लोक की प्राचीनता की परिचायक है। ज्ञात होता है, हरिवश तथा गीता के इस मूल श्लोक को अन्य पुराणो ने उत्तरकाल में अपनाया है।

१. जयाख्य० ४. ७७–८३

२. जयाख्य० Foreword p 28—The Jayākhya is much more advanced than the Guhya Samāja, in its presentation of ideas, & therefore, considerably later than the time assigned to it, viz. 3rd cen A. D.

श्वेताश्वतर० में पुरुषविषयक भाव की अभिव्यक्ति हरिवंश के पुरुष का स्वरूप स्पष्ट कर देती है। श्वेताश्वतर० में 'पुरुष' संज्ञा साख्यपुरुष की वाचक नही है। 'पुरुष'के द्वारा पुरुष सूक्त के पुरुष की अभिव्यक्ति हुई है[1]। इसी पुरुष को चारों ओर से पाणिपाद, नेत्र तथा मस्तको से युक्त, सर्वश्रुतिमान् तथा सर्वव्याप्त माना गया है[2]।

हरिवंश में 'पुरुष' श्वेताश्वर० की भाँति पुरुषसूक्त के पुरुष का वाचक है। पुरुष का कारण ब्रह्म माना गया है। साख्य पुरुष अजन्मा होने के कारण स्वय कारण और कार्य है। अत यह पुरुष साख्य पुरुष से भिन्न तथा ब्रह्म से उत्पन्न है। किन्तु अध्याय के शीर्षक 'साख्ययोगविचार' के द्वारा यहाँ पर साख्यपुरुष पर ही विचार किया गया है। ज्ञात होता है, साख्यसम्बन्धी इस अध्याय में पुरुष-विषयक ये विचार श्वेताश्वतर० से प्रत्यक्ष रूप में लिये गये हैं।

मनुस्मृति में कारणरूप सदसदात्मक ब्रह्म से प्रकृति एव पुरुष की उत्पत्ति बतलायी गयी है[3]। मनुस्मृति की यह विचारधारा हरिवंश से पूर्णत समानता रखती है। किन्तु मनुस्मृति का पुरुष निश्चय ही साख्य पुरुष का वाचक है। हरिवंश का पुरुष सदसदात्मक ब्रह्म से उत्पन्न होने पर भी साख्य पुरुष से भिन्न पुरुष है। ज्ञात होता है, पुरुष-सूक्त के पुरुष को अपनाने की परम्परा का परित्याग करके मनुस्मृति ने साख्य पुरुष की किसी दूसरी परम्परा का आश्रय लिया है।

हरिवंश, गीता, पुराण तथा अन्य ग्रन्थो के अन्तर्गत पाये जाने वाले इस श्लोक में समानता होने पर भी भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से कुछ भिन्नता है। हरिवंश में यह श्लोक पुरुषसूक्त के पुरुष का वाचक है। गीता में यह श्लोक ब्रह्म के लिए है। हरिवंश को छोडकर अन्य सभी पुराणो और जयाख्य० में यह श्लोक परब्रह्म के लिए प्रयुक्त

१. श्वेताश्वतर० ३. १४–सहस्रशीर्षा पुरुष. सहस्राक्ष. सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

२. श्वेताश्वतर० ३. १६–सर्वत पाणिपाद सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

श्वेताश्वतर० ३. ११–सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवास्तस्मात् सर्वगत शिवः ॥

३. मनु० १. ११– यत्तत्कारणमव्यक्त नित्य सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥

हुआ है[1]। किन्तु हरिवंश में पुरुष के लिए प्रयुक्त यह श्लोक अन्य पुराणों में पाये गये इसी श्लोक का पूर्ण विरोध नही करता। कारण यह है कि हरिवंश का साख्य-पुरुष कारणात्मक ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है। कारणात्मक ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण यह पुरुष परब्रह्म का परिवर्तित स्वरूप है। अत हरिवंश का साख्य पुरुष तथा अन्य पुराणो और जयाख्य० का परब्रह्म एक ही सत्ता के वाचक शब्द ज्ञात होते हैं।

साख्यपुरुष तथा परब्रह्मविषयक यह श्लोक हरिभद्रसूरिकृत 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' मे भी इसी रूप में मिलता है। शास्त्रवार्तासमुच्चय प्राचीन निबन्धो में माना जाता है। मुनि जिनविजय जी ने शास्त्रवार्ता-समुच्चय के रचयिता हरिभद्रसूरि के काल को छठी शताब्दी माना है। श्री जैकोबी जिनविजय जी के इस कालनिर्णय से सहमत हैं[2]। शास्त्रवार्तासमुच्चय के काल को छठी शताब्दी मान लेने पर इस काल तक के निबन्ध-ग्रन्थो में इस श्लोक की मान्यता का ज्ञान होता है। किन्तु शास्त्रवार्तासमुच्चय के बाद अन्य निबन्धो में इस श्लोक की पूर्ण अनुपस्थिति है। ज्ञात होता है, छठी शताब्दी के बाद के निबन्धो में इस श्लोक को प्रस्तुत करने की परम्परा मिट चली थी।

हरिवंश तथा अन्य पुराणो के दार्शनिक तत्त्वो में साख्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। श्री मुखोपाध्याय साख्य को पुराणो का प्रधान दर्शन मानते हैं[3]। श्री मुखोपाध्याय का

१. वायु० १४.१२; कूर्म० २ ३.२; जयाख्य० ४.६३–६४; शास्त्रवार्ता० ५२ (folio 99)

2 ABORI Vol XX p 189-190 According to Muni Jina Vijayaji Haribhadra flourished in the middle of the 6th cen A D Prof Jacobi (Brahma Sutra Kāhā vol I Intr p 2) accepts this date & the evidence on which it is based & observes that Muni Jina Vijayaji "puts his case in the clearest light"

3 Kūrma Purāna Preface p XIII—Among the different schools of philosophy, the Sāmkhya supplies the cardinal doctrine which pervades the Purānas The duality of Prakrti & Purusa, by which the followers of Kapila understand nature & soul, or matter & mind, has been eargerly ceased upon by the Purānas which have interpreted them into the

कथन उचित प्रतीत होता है। उपपुराण तथा अर्वाचीन पुराणों में मिलने वाला साख्य-दर्शन साख्य के मुख्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है। किन्तु कुछ पुराणविशेष साख्य का विशद और विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। विष्णु० में विवेचित साख्य इस पुराण में साख्य के प्रमुख स्थान की ओर सकेत करता है।

विष्णु० के अन्तर्गत साख्य का प्रारम्भ साख्य के चौबीस तत्त्वों से होता है। साख्य के पुरुष से विष्णु का एकीभाव विष्णु० के सेश्वर साख्य की सूचना देता है[1]। यह सेश्वर साख्य विष्णु० की ही विशेषता नहीं है। हरिवंश, कूर्म्म० तथा गीता भी साख्य के सेश्वर स्वरूप पर विवेचन करते हैं[2]। अत. हरिवंश, अन्य पुराण तथा महाभारत में मिलने वाली साख्यपरम्परा पूर्णतः सेश्वर साख्यपरम्परा है।

श्री शर्मा ने अपने एक लेख में भारतीय साख्यदर्शन को दो विभिन्न परम्पराओं में विभाजित किया है। साख्य की प्रथम परम्परा सेश्वर साख्यमत का पालन करती है। श्री शर्मा ने इस परम्परा के अन्तर्गत कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों से चले आते हुए साख्यमत को माना है। महाभारत, हरिवंश, अन्य पुराण, तथा गीता का साख्य उपनिषदों की इस सेश्वर साख्य परम्परा का उत्तररूप है। साख्य की दूसरी परम्परा निरीश्वर साख्य-सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है। साख्यकारिका निरीश्वर साख्य का प्रमुख ग्रन्थ है[3]।

creative principle (शक्ति) & the Supreme Spirit (परमात्मन्)

१. विष्णु० १.१२– सर्वमसौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

२. हरि० ३.८८.१९–२०– त्रिधाभूतं जगद्योनि प्रधानं कारणात्मकम् ।
सत्त्वं रजस्तमो विष्णो जगदण्डं जनार्दनः ॥
तस्य कारणमाहुस्त्वां सांख्यप्रकृति-संज्ञकम् ।
तद्रूपेण भमान्विष्णो परिणम्याधितिष्ठति ॥

कूर्म्म० १.४.६–; विष्णु० १.२.१२; गीता १३.२१–२४

3. ABORI Vol. XIX. p. 204—From the historical point of view also, there are two types of सांख्य —the Upaniṣadic & Epic सांख्य which was mainly theistic & the later सांख्य system which was practically atheistic.

श्री शर्मा के द्वारा साख्यमत का यह विभाजन समीचीन है। उपनिषदो से चली आने वाली साख्यपरम्परा पुराणो तक अपने अविच्छिन्न रूप में दिखलाई देती है। पद्म० के अन्तर्गत एक श्लोक स्पष्ट ही आरण्यक तथा उपनिषदो से दर्शनसम्बन्धी ऋण की सूचना देता है[1]। हरिवश की सेश्वर साख्यपरम्परा साख्यपुरुष में ब्रह्म का समन्वय करती है। यहाँ पर पुरुष को कारणभूत ब्रह्म से उत्पन्न बतलाया गया है। ब्रह्म और पुरुष मे निकट सम्बन्ध दिखलाकर साख्य तथा अन्य दर्शनो के मौलिक भेद का परिहार किया गया है[2]। साख्य के पुरुष को हरिवश में अनेक सज्ञाओ से सम्बोधित किया गया है। यह अव्यक्त, अरूपी, अचिन्त्य रूप से सचरणशील, परमेष्ठी, प्रजापति, नारायण तथा अव्यक्त से व्यक्ति को प्राप्त कहा गया है[3]। कारणभूत ब्रह्म से उत्पन्न पुरुष के लिए ये विशेषण सेश्वर साख्यपरम्परा को स्पष्ट रूप प्रदान करते हैं।

विष्णु में मिलने वाला साख्यदर्शन हरिवश की भाँति सेश्वर होने के साथ ही अन्य दृष्टियो से भी समानता रखता है। हरिवश के अन्तर्गत ब्रह्मरूप पुरुष की समानता खिलौने खेलने में व्यस्त बालक से की गयी है[4]। यही उपमा बहुत कुछ अश में विष्णु० में मिलती है। यहाँ पर विष्णु० को व्यक्ताव्यक्त, पुरुष और काल कहा गया है और उसकी चेष्टाओ की समानता क्रीडाशील बालक से की गयी है[5]।

साख्य सिद्धान्तो को प्रमुखता देने वाले पुराणो में भागवत को नही माना जा सकता। किन्तु पुराणो के व्यापक दर्शन होने के कारण साख्य-सिद्धान्तो का उल्लेख भागवत में भी हुआ है। भागवत में प्रकृति को कारणरूप तथा पुरुष को कार्यरूप माना है। कार्यरूप होने के कारण सुख तथा दु ख के भोग का दायित्व पुरुष पर है[6]।

ब्रह्म में साख्य दर्शन योग-मत की भाँति एक व्यापक दर्शन के रूप में मिलता है। ब्रह्म० में साख्य और योग के पोषको को अपने-अपने सिद्धान्तो की उत्कृष्टता सिद्ध करते

१. पद्म० सृष्टि ३६. ८० यथातथ्यं परं ज्ञानं भूतये ब्रह्मणो मतम् ।
रहस्यारण्यतो दृष्टं यथोपनिषदं स्मृतम् ॥

२. हरि० ३. १६. २–३ ३. हरि० ३. १६. ८–१०

४. हरि० ३. १२७. ७९–८०

५. विष्णु० १. २. १८– व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुष. काल एव च ।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टा तस्य निशामय ॥

६. भाग० ३. २६. ८– कार्यकारणकर्त्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदु:खाना पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥

हुए वर्णित किया गया है[1]। यहाँ पर वेद को साख्य का कारण बताकर सेश्वर साख्यमत का पोषण हुआ है[2]। ब्रह्म में साख्य और योग के मतानुयायियो का यह अहभाव साख्य और योग के उत्तरकालीन रूप को सूचित करता है। ज्ञात होता है, ब्रह्म के काल तक साख्य और योग के सिद्धान्त पूर्ण विकसित हो चुके थे, तथा उनमें प्रतिस्पर्धा का भाव स्थान ग्रहण कर चुका था।

हरिवश के साख्यविवेचन के प्रसग मे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का उल्लेख है। ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि का प्रारम्भ ब्रह्मयज्ञ माना गया है। यही ब्रह्मयज्ञ, योग और साख्य, विज्ञान, स्वभाव, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, काल, कालक्षय, ज्ञेय और विज्ञान माना गया है[3]। 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' का उल्लेख यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है। क्षेत्र से प्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ से पुरुष के अर्थ की प्रतीति होती है। नीलकण्ठ ने क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के आधार पर इसे निरीश्वर साख्य का सिद्धान्त माना है[4]।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ साख्य के प्रकृति और पुरुष के बोधक नामविशेष ज्ञात होते है। गीता में शरीर को क्षेत्र तथा उसको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ कहा गया है[5]। सृष्टि में समस्त प्राणी क्षेत्र है तथा उनमें रमण करनेवाला ईश्वर ही क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व का ज्ञान ही परम ज्ञान है[6]। क्षेत्र के लिए प्रयुक्त हरिवश के 'प्रकृति' तथा गीता के 'शरीर' में कोई भेद नही है। शरीर के जड़ होने के कारण उसे प्रकृति कहा जा सकता है। इसी प्रकार जड शरीर को जाननेवाली चेतन सत्ता के लिए पुरुष शब्द अत्यन्त समीचीन है। अत हरिवश के क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के लिए नीलकण्ठ का दिया हुआ प्रकृति और पुरुष विशेषण उचित है।

श्री करमरकर गीता में आये हुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ शब्दो का स्रोत बादरायणसूत्र

१. ब्रह्म० २३८. २— सांख्या. साख्यमुपासन्ति योगान्योगविदुत्तमा.।
यदन्ति कारणैः श्रेष्ठैः स्वपक्षोद्भवनाय च॥

२. ब्रह्म० २३८. ४— वदन्ति कारणं वेदं सांख्यं सम्यग् द्विजातयः।

३. हरि० ३. २०. २२–२३

४. हरि० ३. २०. २१ टीका—क्षेत्र प्रकृतिः। क्षेत्रज्ञ पुरुषः। निरीश्वरसांख्यसिद्धान्तोऽप्ययमेव।

५. गीता १३. १— इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

६. गीता १३. २

तथा योगसूत्रों से भिन्न बतलाते हैं। बादरायण तथा योगसूत्रों से भिन्न क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ शब्दों का आधारग्रन्थ अज्ञात है। कदाचित् इन सूत्रों के पूर्व किसी अन्य स्रोत से गीता ने इन शब्दो की प्रेरणा ली है[1]। उत्तरकाल में प्रकृति तथा पुरुष के लिए इन शब्दों का प्रयोग कम प्रचलित होता ज्ञात होता है।

हरिवंश में क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ शब्दों का प्रयोग केवल एक स्थल में हुआ है। क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ शब्द हरिवंश मे अन्य दार्शनिक परम्पराओं की सूची में केवल गिनाये गये हैं, उनकी व्याख्या नही की गयी है[2]। गीता में इन शब्दों की विशद व्याख्या है[3]। किसी पूर्व स्रोत से संगृहीत क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ शब्द गीता में सम्पूर्ण अध्याय के अन्तर्गत विवेचित हैं। ज्ञात होता है, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ शब्दों के प्रचलन की मिटती हुई परम्परा गीता में कुछ शेष रह गयी है। हरिवंश के काल तक यह परम्परा पर्याप्त रूप में अप्रचलित होती हुई ज्ञात होती है। इसी कारण हरिवंश में इन शब्दों का उल्लेख मात्र हुआ है।

ब्रह्म० में क्षेत्र के लिए 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है[4]। 'अव्यक्त' 'महत्' का पूर्ववर्ती स्वरूप है[5]। अतः 'अव्यक्त' महत् तत्त्व का कारणरूप होने से प्रकृति का

1. R. D. Karmarkar: ABORI Vol. 3 p. 79—The Gītā could have some authoritative Sūtra work for its guide in adopting that terminology. This phraseology seems to have fallen into disfavour. The Yoga Sūtras contain the word Kṣetra only once, while the Sāmkhya Sūtras & the Kārikā does not mention Kṣetra or Kṣetrajña at all. The reason is that the Vedānta Sūtras did not accept this terminology, because Bādarāyaṇa thought it rather awkward to designate the soul as Kṣetrajña when it was intended to speak of him as the Kṣetrajña.
२. हरि० ३. २०. २२–२३–एष ब्रह्ममयो यज्ञो योगः सांख्यश्च तत्त्वतः।
विज्ञानं च स्वभावं च क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च॥
एकत्वं च पृथक्त्वं च संभवो नियमं तथा।
कालः कालक्षयश्चैव ज्ञेयो विज्ञानमेव च॥
३. गीता १३. १. ३४
४. ब्रह्म० २४२. ८१– अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरम्।
५. ब्रह्म० २४२. ६७–६८

निकटवर्ती है। हरिवंश की 'प्रकृति'[1] तथा गीता के 'शरीर'[2] की भाँति 'अव्यक्त' भी जड़ वस्तु है। इन ग्रन्थों में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में समानता के अतिरिक्त परस्पर भेद भी दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति, शरीर, तथा अव्यक्त ये तीनों वस्तुएँ स्वरूप में समानता रखते हुए भी मूलतः भेद रखती हैं। प्रकृति सांख्य का मूल तत्त्व है। प्रकृति के बाद द्वितीय स्थान अव्यक्त का है। शरीर इन दोनों से भिन्न वस्तु है। शरीर के द्वारा पंचभूतात्मक, जड़ पदार्थ का ज्ञान होता है। महाभारत में क्षेत्र के द्वारा शरीर तथा क्षेत्रज्ञ के द्वारा उनके तत्त्व को जानने वाले योगात्मक ईश्वर के अर्थ की अभिव्यक्ति की गयी है[3]। महाभारत में क्षेत्रज्ञ की यह व्याख्या गीता से पूर्ण समानता रखती है। गीता और महाभारत में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यह स्वरूप लगभग सभी पुराणों के इसी प्रकार के वर्णन से समानता रखता है।

हरिवंश, गीता, महाभारत तथा ब्रह्म० के द्वारा क्षेत्र के लिए प्रयुक्त क्रमशः प्रकृति, शरीर और अव्यक्त शब्दों में 'प्रकृति' सबसे समीचीन ज्ञात होता है। 'प्रकृति' शब्द 'शरीर' तथा 'अव्यक्त' से अधिक व्यापक है। क्षेत्रज्ञ के लिए प्रयुक्त 'पुरुष' संज्ञा के साथ प्रकृति ही उचित प्रतीत होती है। गीता और महाभारत में 'शरीर के ज्ञाता' के कथन से पुरुष की ओर संकेत किया गया है।[4] ब्रह्म० में क्षेत्र के साथ क्षेत्रज्ञ का उल्लेख नहीं है। अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के लिए नीलकण्ठ के द्वारा दिया गया प्रकृति और पुरुष-रूप अर्थ गीता की व्याख्या से सामंजस्य रखने के साथ ही अधिक स्पष्ट है।

पद्म० में भगवान् को कर्ता, कारक, बुद्धि, मन, क्षेत्रज्ञ, प्रणव, पुरुष, शास्ता, प्राण, ध्रुव, अक्षर, काल, पाक, यज्ञ और द्रष्टा कहा गया है[5]। हरिवंश में क्षेत्रज्ञ के प्रति 'पुरुष' कथन गीता से समानता रखता है। सम्भवतः 'क्षेत्रज्ञ' के लिए 'पुरुष' विशेषण गीता से लिया गया है।

हरिवंश के सांख्यविषयक स्थलों (हरि० २. १२७. ७२–८५; ३. १६; ३. ८८.

१. हरि० ३. २०. २२   २. गीता० ३.

३. महा० १२. ३३९. ६– क्षेत्राणि सशरीराणि बीजयन्ति शुभाशुभे।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥

४. गीता० १३. १.

५. पद्म० सृष्टि० ३६. २१–यः कर्ता कारको बुद्धिर्मनः क्षेत्रज्ञ एव च।
प्रणवः पुरुषः शास्ता एकश्चेति विभाव्यते॥

१८–३०) में साख्य के प्रकृति पुरुष तथा चौबीस तत्त्वो के अतिरिक्त कोई विशिष्ट शब्दावली नहीं मिलती। हरिवश के अतिरिक्त अन्य पुराणो की साख्यविषयक विचारधारा पर्याप्त विकसित अवस्था में मिलती है। विष्णु के साख्यविषयक अध्याय में अट्ठाईस बाधाओ का उल्लेख है।[१] श्री दासगुप्त ने इन अट्ठाईस बाधाओ को 'साख्यकारिका' की अट्ठाईस बाधाएँ माना है। दासगुप्त ने मार्कण्डेय० (४४. ५ २० वेंक० सस्क०) में 'अष्टाविंशद् विधात्मिका' के उल्लेख से इस पुराण को भी साख्य की अट्ठाईस बाधाओ से परिचित माना है। उनके अनुसार साख्य की इन अट्ठाईस बाधाओ का क्रमश विकास मार्कण्डेय० से विष्णु० तक देखा जा सकता है। अतः साख्य के विकसित सिद्धान्तो के काल में इस पुराण के दार्शनिक स्थल के जोड़े जाने की सम्भावना होती है।[२] दासगुप्त के कथन के आधार पर हरिवश के साख्यविषयक विचार विष्णु० तथा मार्कण्डेय० से अपरिपक्व होने के कारण इन दोनो पुराणो के साख्यतत्त्व से पूर्ववर्ती ज्ञात होते हैं।

योग

हरिवश के अन्तर्गत सत्रह से तीस अध्यायो तक योग के रूपो का विवेचन हुआ है। हरिवश का योगवर्णन गीता तथा अन्य पुराणो के योगप्रसग से भिन्न है। हरिवश के योगवर्णन में अनेक साधारण वृत्तान्तो की व्याख्या नीलकण्ठ ने योगसम्बन्धी सिद्धान्तो के आधार पर की है। इस कारण मधुकैटभ तथा विष्णु के साधारण वृत्तान्त के द्वारा ईशभक्ति,[३] मधुकटभ मे मोह, विष्णु में विवेक[४] तथा विष्णु के द्वारा मधुकैटभ के वध पर विवेक की मोह पर विजय और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति[५] का कथन हुआ है। विष्णु और विविध देवताओ के तप के प्रदर्शन से योगदर्शन के तप और साधना के सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया गया है।[६] महायोगी विष्णु[७] के तथा देवताओ के इस तप में विघ्न करने वाले राक्षस लोग तपोशील योगी के कामादि शत्रु हैं।[८]

१. विष्णु० १. ४.
2 S Dasgupta : His Ind. Phil Vol. 3 p. 501.
३. हरि० ३. २५ ४. हरि० ३. २६ ५. हरि० ३. २७
६. हरि० ३. २८ ७. हरि० ३. २८. ७१
८. हरि० ३. २८. ८४— अथ दैत्या हस्तास्तत्र समागम्योद्यतायुधाः।
मायाप्रावृतदेहास्तु विघ्नं गरैरभिसंवृता॥

हरिवंश की भाँति गीता में भी योग को उत्कृष्ट स्थान दिया गया है। किन्तु गीता का योगमार्ग हरिवंश के योग से बहुत अंश में भिन्न है। गीता का योग योगमत के सैद्धान्तिक विचारों को प्रमुखता नहीं देता। गीता में कर्मयोग की महिमा गायी गयी है।[1] गीता के एक स्थल में निष्काम कर्मयोग के साथ भक्ति का समन्वय करके कर्मयोग और भक्तियोग में एकता की स्थापना करने का प्रयास मिलता है।[2] अन्य स्थल में वासुदेव को सर्वस्व मानने वाला व्यक्ति 'सुदुर्लभ' कहा गया है।[3] अतः गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग के समन्वय का प्रयास दिखलाई देता है। गीता में तीनों योगों के मिश्रण के साथ इनका भिन्न रूप भी मिलता है।

अन्य पुराण भी गीता की भाँति योग के अन्तर्गत कर्मयोग तथा भक्तियोग का समन्वय प्रस्तुत करते हैं। विष्णु० में योग का विवेचन कोई महत्त्व नहीं रखता। भागवत में योगसम्बन्धी विचारधारा गीता के योग से समानता रखती है। यहाँ पर योग को दो भागों में बाँट दिया गया है। ज्ञानयोग तथा भक्तियोग, ये योग के दो भाग हैं।[4] इन योगों में भक्तियोग के उत्कर्ष का प्रदर्शन भागवत की वेदान्तमिश्रित भागवत परम्परा की विशेषता है। भक्ति का महत्त्व प्रदर्शित करने के निमित्त ध्यानयोग का निरूपण हुआ है।[5] भागवत का भक्ति सम्प्रदाय गीता के भक्तियोग का विकसित रूप है।

ब्रह्म० में योगनिरूपण के अन्तर्गत योग और सांख्य में एकत्व की स्थापना महत्त्व रखती है। ब्रह्म० के दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत कुछ स्थलों में इस ओर प्रयास दिखलाई देता है।[6] ब्रह्म० में प्रस्तुत सांख्य और योग के एकत्व की विचारधारा अवश्य गीता से संगृहीत है। गीता में अनेक स्थलों में सांख्य और योग की मौलिक

१. गीता० ३ ८,
तथा ३ ७ कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।
२. गीता० ७ ४७
३. गीता० ७ १९
४. भाग० ३ २५ ४३ तथा ३. २९ ३५—
भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः ।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ॥
५. भाग० ११ १४
६ ब्रह्म० २४२ २०— [illegible] ।
[illegible] ॥

१८

एकता की ओर सकेत किया गया है। साख्य और योग में भेद मानने वाले लोगो की गणना बालको में की गयी है।[1] अन्य स्थल में परमपद की प्राप्ति के लिए साख्य और योग दोनो को ही समान रूप से महत्त्वपूर्ण सूचित किया गया है। यहाँ पर साख्य और योग को समान दृष्टि से देखने वाला ही वास्तविक द्रष्टा माना गया है।[2]

कूर्म० योगनिरूपण की दृष्टि से विशेषता रखता है। अन्य पुराण तथा गीता की भाँति योग को यहाँ पर केवल कर्म और भक्तियोग का विकसित रूप ही नही माना गया है, वरन् योग की सैद्धान्तिक विशेषताओ का भी उल्लेख किया गया है। योग के आसन, प्राणायाम, यमनियम आदि साधनो का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। अष्टाग-योग के इन साधनो के अतिरिक्त इनके अगो का भी विशद् विवेचन हुआ है।[3] इसके आगे पाशुपत योग का सूक्ष्म वर्णन है।[4] कूर्म० में प्रस्तुत योगपरम्परा गीता और अन्य पुराणो से भेद रखने के साथ ही हरिवश से भी भेद रखती है। हरिवश की योग-परम्परा सृष्टि-निर्माण, प्रलय, तथा योगी की मानसिक स्थिति से सम्बन्धित विचारो का प्रदर्शन करती है। कूर्म०, पुराणो के परम्परागत योग से भिन्न विकसित योग पर विवेचन करता है। हरिवश में योग सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण अभाव है। इसी कारण हरिवश का योग कूर्म० से बहुत अधिक प्रारम्भिक ज्ञात होता है। कूर्म० की विकसित योगपरम्परा में अर्वाचीनता स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है।

पुराणो में अवतार

अवतारगणना पुराणो के दार्शनिक तत्त्व में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। पुराणो में गिनाये गये अवतार दो श्रेणियो में विभाजित किये जा सकते हैं। पौष्कर अवतार को मानने वाले पुराण इसे ही प्रारम्भिक स्थान देते हैं। यह पौष्कर अवतार पुराणो की एकार्णवविधि और पौष्करप्रादुर्भाव के आध्यात्मिक विचारो का आधार है। प्रथम श्रेणी आदि अवतार के रूप में पौष्कर अवतार को प्रमुख स्थान देती है। दूसरी श्रेणी आदि अवतार के रूप मे वाराह को मानती है। हरिवश, ब्रह्म०, मत्स्य० तथा पद्म० पौराणिक अवतारवाद की प्रथम श्रेणी में आते हैं। विष्णु० तथा भागवत द्वितीय श्रेणी का अनुसरण करते हैं। किन्तु पौष्कर तथा वाराहवतार की इन दो श्रेणियो मे भिन्नता की कोई निश्चित सीमा नही निर्धारित की जा सकती। अवतारो की दो श्रेणियो के होने पर भी पुराणो में बहुधा विचारो का आदान-प्रदान हुआ है। फलतः

१. गीता० ५.४– साख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
२. गीता० ५.५– ३. कूर्म० २.११.३०–५६ ४. कूर्म० २.११.५९–६६

वाराहावतार को प्रमुखता देने पर भी विष्णु० में एकार्णव का प्रसग मिलता है।[1] हरिवश पौष्करावतार को प्रमुख स्थान देने पर भी वाराहावतार का वर्णन करता है।[2]

हरिवश मे विष्णु के पौष्करावतार को आदि अवतार माना गया है। पौष्कर के आदि अवतार माने जाने पर सृष्टि का विकास विषयक बहुत कुछ दार्शनिक भाग इसी अवतार के साथ प्रस्तुत किया गया है। विष्णु के नाभिकमल के प्रत्येक भाग में समस्त ब्रह्माण्ड की कल्पना पौष्करावतार के प्रतीकवाद की विशेषता है। इस नाभि-कमल के मध्य के केसर दिव्यपर्वत हैं।[3] इस कमल से बहने वाला मकरन्द तीर्थों से बहने वाली दिव्य नदियाँ हैं। कमल के केसर पृथ्वी के असख्य धातुपर्वत हैं। कमल के पत्र दुर्गम पर्वतो से युक्त म्लेच्छदेश हैं।[4] विष्णु के नाभिकमल मे समस्त ब्रह्माण्ड की कल्पना इस कमल को आध्यात्मिक महत्त्व प्रदान करती है। विष्णु इस कमल में ही विश्वपर्वत, नदी और देवताओ का विधान करते हैं।[5] अनन्तरूप विष्णु के द्वारा सान्त कमल मे विश्व का विधान सृष्टिनिर्माण का प्रथम प्रयास ज्ञात होता है।

हरिवश में कृष्णचरित्र की प्रधानता के कारण कृष्ण का व्यापक स्वरूप मिलता है। भविष्यपर्व में ब्राह्मण को जीवित करने के प्रसग में कृष्ण अपनी शक्ति के रहस्य का उद्घाटन अर्जुन के सम्मुख करते हैं। यहाँ पर सप्तद्वीप, सप्तसागर, सप्तपर्वत, और लोकालोक को पार करके मिलने वाले अन्धकार का वर्णन है। कृष्ण अपने चक्र के द्वारा उस अन्धकार का नाश करते हैं।[6] अपनी विराटता को दिखाते हुए कृष्ण सृष्टि के प्रत्येक भाग में अपनी सत्ता बतलाते हैं तथा अपनी चतुर्विधता का परिचय देते हैं।[7] यहाँ पर विष्णु के 'चतुर्विध' स्वरूप के द्वारा पाचरात्र के 'चतुर्व्यूह' का सन्देह हो सकता है। हरिवश के टीकाकार नीलकण्ठ ने 'चतुर्विध' रूप को तेज, पृथ्वी, जल और आकाश-

१. विष्णु० १ २–३ २. हरि० १. ४०. ४–६, १६
३. हरि० ३. १२ ४ ४ हरि० ३. १२. ९–११
५. हरि० ३. १२. १७– एव भगवता पद्मे विश्वस्य परमो विधिः।
पर्वताना नदीनां च देवताना च निर्मित.॥
६. हरि० २. ११३ २०– सप्तद्वीपान् ससिन्धुश्च सप्त गिरीनय।
लोकालोक तथातीत्य विवेश सुरसत्तमः॥
हरि० २. ११३. २३
७. हरि० २. ११४. १५– चन्द्रादित्यौ महाशैला सरितश्च सरांसि च।
चतस्रश्च दिश सर्वा ममैवात्मा चतुर्विध॥

मय माना है।[1] यहां पर विष्णु का 'तेज' पृथ्वीजलाकाशात्मक रूप ही चतुर्विध का अधिक युक्ति-सगत अर्थ ज्ञात होता है। अत कृष्ण के माहात्म्य का यह प्रसग पाचरात्र का पोषण न करके केवल भागवत धर्म के स्वाभाविक स्वरूप की ओर सकेत करता है।

बाणासुर के वृत्तान्त में वरुण की गायो को लेने के लिए उद्यत कृष्ण के प्रति वरुण की स्तुति में साख्य और योग की शब्दावली का प्रयोग हुआ है। यहां पर कृष्ण को 'सत्वस्थ' और 'योगीश्वर' कहा गया है। उनको 'पूर्वप्रकृति' 'अव्यक्त' बतलायी गयी है।[2] पचभूत और अहकार इसी 'सत्वस्थ योगीश्वर' से उत्पन्न होते हैं। अव्यक्त कहकर यहां पर कृष्ण की समानता साख्य पुरुष से की गयी है।

हरिवश के अनक स्थलो में साख्य, योग और वेदान्त के पुरुष और ब्रह्म से विष्णु के एकत्व की स्थापना की गयी है। भविष्यपर्व के अन्तर्गत विष्णु के पौष्कर प्रादुर्भाव के वर्णन में कर्मों से स्वतन्त्र, अव्यक्त, कारणरूप, नित्य ब्रह्म से निष्कल पुरुष की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[3] नीलकण्ठ ने 'सदसदात्मक' का अर्थ 'मूर्तामूर्तरूप' बतलाया है। हरिवश के इस श्लोक में वर्णित 'निष्कल पुरुष' को नीलकण्ठ ने साख्य पुरुष माना है।[4] निष्कल पुरुष के उत्पादक इस ब्रह्म को अहकारतत्व तथा पूर्वसस्कारो से युक्त होने पर 'नारायण' की सज्ञा दी गया है[5]। इसी स्थल में वाराहादि अवतारो को लेने वाले इस

१ टीका—तेज पृथिवीजलाकाशात्मना चतुर्विध ।

२ हरि० २ १२७ ७२-७३

३ हरि० ३ १६ २-३— ब्रह्मसम्बन्धसबद्धमबद्ध कर्मभिर्नृप ।
पुरस्ताद् ब्रह्म सपन्न ब्रह्मणो यददक्षिणम् ॥
अव्यक्त कारण यत्तन्नित्य सदसदात्मकम् ।
निष्कल पुरुष तस्मात्सबभूवात्मयोनिज ॥

४ हरि० ३ १६ २ टीका—अव्यक्त यत् नामतोऽर्थतश्च कारण जगद्धेतु सदसदात्मक मूर्तामूर्तरूप नित्य अविनाशि साख्यप्रसिद्ध तत् निष्कल पुरुष निर्विशेषचिन्मात्रादात्मनो नातिरिच्यते तत्रैवाध्यस्तमित्यर्थ ।

५ हरि० ३ १६ १०— अपदात् पदो जातस्तस्मान्नारायणोऽभवत् ।
अव्यक्तो व्यक्तिमापन्नो ब्रह्मयोगेन कामत ॥

टीका—अहकारोऽप्यपद एव सन ब्रह्मयोगेन अधिष्ठानसत्तानुवेधेन व्यक्ति-पदत्व प्राप्त । अत्र हेतु—कामत अनादिरागादिवासनावशात् भ्रम-तत्सस्कारधारानुवृत्तिरिति भाव ।

ब्रह्म से पितामह ब्रह्मा को जन्म लेते हुए कहा गया है। ब्रह्मा 'योगमय ज्ञान' तथा 'ब्रह्मसभव स्वभाव' के द्वारा 'दिव्यपुरुष' की सृष्टि करते हैं[1]। नीलकण्ठ ने 'योगमय ज्ञान' का अर्थ पूर्वजन्म के योग के प्रभाव से उत्पन्न ज्ञान तथा 'ब्रह्मसभव स्वभाव' का अर्थ ब्रह्म से उद्भूत 'पूर्ववासना' कहा है[2]। नीलकण्ठ ने अन्य श्लोक की टीका में 'स्वभाव' का अर्थ 'पूर्वसस्कार' दिया है[3]।

कैलास पर्वत पर समाधि में लीन कृष्ण के दर्शन करने विविध देवता आते हैं। यहाँ पर कृष्ण को साख्य का पुरुष कहा गया है, जिससे चौबीस तत्त्व विकसित होते हैं[4]। शिव के द्वारा की गयी स्तुति में विष्णु के पुरुष, ब्रह्म, नारायण, विष्णु, मधुसूदन आदि नामो पर विवेचन किया गया है[5]। हरिवश के इस स्थल में साख्य, वेदान्त और वैष्णव सिद्धान्तो के तत्त्वो का समन्वय हुआ है।

विष्णु अथवा कृष्ण के स्वरूप के साथ साख्य, वेदान्त और योग के सिद्धान्तो का सम्मिश्रण वैष्णव भक्ति की बढती हुई व्यापकता का परिचय देता है। कृष्ण और विष्णु से सम्बद्ध यह स्थल वैष्णव धर्म का हरिवश में प्रभाव सूचित करते हैं।

पद्म० में पौष्करावतार को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। पद्म० के सृष्टिखण्ड मे पौष्करसम्भव की ओर बहुत कुछ सकेत किया गया है। पद्म० सृष्टि० में पौष्करावतार का प्रसग हरिवश भविष्यपर्व के पौष्करप्रादुर्भाव से आश्चर्यजनक समानता रखता है। पद्म० में भी विष्णु के नाभिकमल में समस्त जगत् के सृष्टिविषयक विचार हरिवश के

१. हरि० ३. १६. ३०
२. हरि० ३. १६. ३०—टीका—योगमयात् ज्ञानात् जन्मान्तरीययोगप्रभावोद्भूतप्रकाशात् वेद तेजोभिः स्वबुद्धिबलेन वर्द्धयन्नुपर्यु हयन् वेदार्थालोचनपूर्वकं स्वभावात् पूर्ववासनात् ब्रह्मसंभवात् ब्रह्मसत्तयोद्बोधितात्।
३. हरि० ३. १६. ३५—टीका—स्वभावात् पूर्वसंस्काररूपात् क्षयं ऐश्वर्यभयं अनैश्वर्यं चाप्नोति।
४. हरि० ३. ८५. १५— यमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तं,
पुरातनं सांख्यनिबद्धदृष्टयः।
यस्यापि देवस्य गुणान्समग्रानाहु-
स्तत्त्वांश्चतुर्विंशतिमाहुरेके॥
५. हरि० ३. ८८. १८–५९.

प्रसग का ऋणी स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। पद्म० को श्री हाजरा ने उत्तरकालीन पुराण माना है[1]। हरिवंश में पौष्करप्रादुर्भाव-विषयक वृत्तान्त सुश्लिष्ट और विस्तृत रूप में मिलता है। पद्म० में यही वृत्तान्त अपूर्ण और संक्षिप्त रूप में मिलता है। ज्ञात होता है, हरिवंश में पौष्करप्रादुर्भाव-विषयक प्रारम्भिक वृत्तान्त को पद्म० ने अपनी विशेषताओं के साथ प्रस्तुत किया है।

मत्स्य० में पौष्करावतार सम्बन्धी वृत्तान्त बहुत अंश में पद्म० से समानता रखता है। पद्म० की भाँति मत्स्य० में भी पौष्करावतार[2] के साथ मधुकैटभवध[3] तारकामयसंग्राम[4] का वर्णन है। मत्स्य० के अन्तर्गत तारकामयसंग्राम के वृत्तान्त के बीच में और्व का आख्यान है। तारकामयसंग्राम में और्व का आख्यान हरिवंश के और्व के आख्यान से समानता रखता है[5]।

अवतारों की द्वितीय श्रेणी में आने वाले पुराणों में विष्णु० वाराहावतार का विस्तृत विवेचन करता है। इस प्रसंग में वाराह के धरोद्धार करने पर पराशर के द्वारा उनकी स्तुति वाराहावतार के दार्शनिक स्वरूप पर प्रकाश डालती है। वाराह-रूपी विष्णु के पैरों में वेद, दाँतों में यज्ञ, मुखमण्डल में चिति, जिह्वा में अग्नि और रोमावलि में दर्भांकुर की कल्पना करके यज्ञपुरुष का रूपक प्रस्तुत किया गया है। वाराह रूपी विष्णु के नेत्र रात्रि तथा दिवस है तथा शरीर सर्वाश्रय ब्रह्म है। सटाकलाप सूक्त है और प्राण हविष। नासिका स्रुवा और घोर-नाद साम का स्वर है। इन विशेष-

comparison between मत्स्य & पद्म० shows that the पद्म (सृ० ख०) is the borrower. In those chapters. which are common to the *वायु०, मत्स्य० & the पद्म (सृ० ख०), the पद्म०* follows more the मत्स्य० than वायु० A comparison of the chapters. common to the Hariv., मत्स्य० & पद्म० also shows that the पद्म (सृ० ख०) resembles more the मत्स्य० than the Hariv.

1. Hazra. Pur. Rec. p. 25—The date of the पद्म० (सृ० ख०) being not earlier than abou 550 A. D., the story does not affect the above date of Vis. III. 17-18 (i. e. the fourth cen. A. D).
२. मत्स्य० १६४-७१
३. मत्स्य० १७०
४. मत्स्य० १७२-१७८
५. हरि० १. ४५. २३-७७

ताओ से युक्त वाराह रूपी विष्णु को सनातनात्मन् कहा गया है[1]। पराशर की इस स्तुति के द्वारा वाराहावतार तथा वेदमय यज्ञपुरुष में एकत्व की स्थापना हुई है।

भागवत में वाराहावतार का प्रसग विष्णु० से अधिक विस्तृत रूप में मिलता है। वाराहावतार की आध्यात्मिकता भी इस पुराण में बढ गयी है। ज्ञात होता है, वाराहावतार की बढती हुई लोकप्रियता का चरमोत्कर्ष भागवत में है।

पुराणो के कुछ दार्शनिक तत्त्व हरिवश तथा अन्य पुराणो में भाव तथा भाषा की दृष्टि से पूर्ण समानता रखते हैं। *हरिवश तथा अन्य पुराणो में मिलने वाले समान* विचारो का अनुमान विभिन्न पुराणो के उन स्थलविशेषों की तुलना से होता है। हरिवश में पौष्कर-प्रादुर्भाव तथा एकार्णवविधि और साख्ययोगविचार से सम्बद्ध वृत्तान्त पुराण, महाभारत और पाचरात्रग्रन्थो में देखे जा सकते हैं—

	हरि०	ब्रह्म०	मत्स्य०	पद्म०	कूर्म०	महा०	गीता
एकार्णव-विधि	३ ९–१०	—	१६७	सृ ख ३६–८१–१२४	१ ९,६	वन० १८८–१८९। १२ ३३६ १२–९४	—
पौष्कर प्रादुर्भाव	३ ११–३२	—	१६४–१७१	सृ० ३७	१ ४	१२ १७० ७८ १८–९१	—
साख्य-विचार	३ १६	२३५ २३९	—	—	२ ३	१२ ३१७ २, १२ ३०६ १९ १२ १७०	१३
विष्णु का व्यापक स्वरूप	३ १० ४७–६२	—	—	सृ० ३६ १२५–१५९	२ ७ १–१७, २ ८ ३, ६–८, २ ८ १०–११	१२ २२६, १–३३	१०, १३, २७–२८, १४ ३-४
योगी के लक्षण	३ ११ ६–५५	२४२	—	—	२ ११ ८१–८३	—	४ १९–२१

एकार्णवविधि तथा पौष्करसभव—हरि० ३ ९–३२—जयाख्य पटल २

१. विष्णु० १ ४. ३२–३४—पादेषु वेदास्तव यूपदष्ट्र दन्तेषु यज्ञाश्चितयश्च वक्त्रे।
हुताशजिह्वोऽसि तनूरुहाणि दर्भा प्रभो यज्ञपुमांस्त्वमेव ॥
विलोचने रात्र्यहनी महात्मन् सर्वाश्रय ब्रह्म पर शिरस्ते।
सूक्तान्यशेषाणि सटाकलापो घ्राण समस्तानि हवींषि देव ॥
स्रुक्तुण्डसामस्वरधीरनाद प्राग्वशकायाखिलसत्रसन्धे।
पूर्तेष्टधर्मश्रवणोऽसि देव सनातनात्मन् भगवन् प्रसीद ॥

हरिवंश में भविष्यपर्व के अन्तर्गत साख्यपुरुष तथा ब्रह्म के व्यापकता विषयक श्लोक की अनेक ग्रन्थो तथा पुराणो में उपस्थिति पहले दिखलायी जा चुकी है।[1] हरिवंश में इस श्लोक के अतिरिक्त अन्य आध्यात्मिक श्लोक कुछ पुराणो से अक्षरशः समानता रखते हैं। इस पुराण में अव्यक्त कारणरूप, नित्य, सदसदात्मक सत्ता से आत्मयोनि तथा निष्कल पुरुष की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[2] लगभग यही भाव कुछ परिवर्तित रूप में कूर्म॰ के अन्तर्गत व्यक्त किये गये हैं।[3] कूर्म॰ में कारणरूप सदसदात्मक सत्ता में प्रकृति और पुरुष का अन्तर्भाव हुआ है किन्तु उत्पत्ति क्रम नही दिखलाया गया है। इन दो पुराणो के श्लोको के प्रथम चरणो में पूर्ण समानता ध्यान देने योग्य है। ज्ञात होता है, कूर्म॰ ने हरिवंश से इस श्लोक की प्रेरणा लेकर अव्यक्त सदसदात्मक को कारणरूप न मानकर उसमें ही प्रकृति और पुरुष का अन्तर्भाव करने की उत्तरकालीन साख्य परम्परा को अपना लिया है।

हरिवंश के अन्तर्गत अन्य विचार पुराणो से अक्षरशः समानता न रखने पर भी भाव की दृष्टि से पूर्ण समानता रखते हैं। हरिवंश में सर्वव्यापी, निराधार, जयस्वरूप, अग्राह्य, ध्रुव और ब्रह्ममय ज्योति को ही ब्रह्म कहा गया है।[4] गीता में इस ब्रह्म को ज्योतियों में भी ज्योति, तम से अतीत, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य और सबके हृदय में स्थित कहा है।[5] कूर्म॰ में ब्रह्म को ज्योतिस्वरूप तथा तम से परवर्ती कहा गया है।[6] हरिवंश गीता और कूर्म॰ में ब्रह्म के लिए प्रयुक्त समान विशेषण ब्रह्म के पूर्वनिश्चित प्रकाशमय स्वरूप से समानता रखते हैं। उपनिषदो में ब्रह्म का ज्योतिर्मय स्वरूप स्पष्ट

१. हरिवंश में दार्शनिक तत्त्व पृ॰ २६४–२७३
२. हरि॰ ३. १६. ३– अव्यक्तं कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम्।
निष्कलः पुरुषः तस्मात् संबभूवात्मयोनिजः॥
३. कूर्म १. ४. ६– अव्यक्त कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम्।
निष्कलः पुरुषः तस्मात् संबभूवात्मयोनिजः॥
४. हरि॰ ३. १६. १४– सर्वव्यापि निरालम्बो ह्यग्राह्योऽय जयो ध्रुवः।
एवं ब्रह्ममयो ज्योतिर्ब्रह्मशब्देन शब्दितः॥
५. गीता ३. १०– ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
६. कूर्म॰ २. ३. ५

दिखलाई देता है। मुण्डकोपनिषद् में ज्योतियो की भी ज्योति विरज और निष्कल इस ब्रह्म को प्रकाशरूप कोश में स्थित कहा गया है। परमज्योतिरूप ब्रह्म से ही वह कोश प्रकाशित रहता है। प्रकाश के कारणरूप सूर्य और चन्द्र के वहाँ अनुपस्थित रहने पर परमज्योतिरूप ब्रह्म से ही वह कोश प्रकाशित रहता है।[1] श्वेताश्वर० में मुण्डक० की भाँति सांख्ययोग के कारणरूप को सूर्यचन्द्रहीन लोक में अपने प्रकाश को फैलाते हुए कहा गया है।[2] ज्ञात होता है, निश्चय ही हरिवंश और कूर्म० में ब्रह्म के ज्योतिर्मय स्वरूप की प्रेरणा इन उपनिषदो से ली गयी है।

हरिवंश में ब्रह्म को 'अक्षर' की संज्ञा दी गयी है। हरिवंश की टीका में नीलकण्ठ ने भोगो के लिए क्षर तथा मोक्ष के लिए अक्षर अर्थ दिया है।[3] गीता में क्षर तथा अक्षर का अर्थ जीव तथा ब्रह्म माना गया है।[4] श्वेताश्वर० में क्षर तथा अक्षर के लिए गीता की भाँति जड जीव तथा अविनाशी जीवात्मा का अर्थ दिया है।[5] अत उपनिषद, गीता तथा हरिवंश में क्षर तथा अक्षर के लिए दी गयी व्याख्या पूर्णत समानता रखती है। ज्ञात होता है, गीता तथा हरिवंश में क्षर तथा अक्षर की व्याख्या के आधार उपनिषद् है।

सामान्य पौराणिक सृष्टि सम्बन्धी विचारो से बहुत कुछ समानता रखते हुए भी हरिवंश के सृष्टिविषयक दार्शनिक सिद्धान्त अपनी विशेषता रखते है। हरिवंश के सृष्टिविकास में विष्णु[6] की भाँति सांख्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। किन्तु सांख्य से भी महत्त्वपूर्ण स्थान योग को मिला है। योग का इतना विशद विवेचन हरिवंश और गीता के अतिरिक्त अन्य पुराणो में नही मिलता। इस क्षेत्र में हरिवंश अन्य पुराणों, महाभारत और गीता की परम्परा से भिन्न दिशा की ओर अग्रसर हुआ है।

१. मुण्डक० २.९–१०– हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

२. श्वेताश्वतर० ६ १४.

३. हरि० ३ १६ ४६ नीलकण्ठ—योगकर्म योगाख्यं कर्म अक्षरं मोक्ष क्षरं भोगं चाभिव्याप्य विद्यते।

४ गीता० १५ १६–द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

५ श्वेताश्वतर० १ १८ ६ विष्णु० १. २

हरिवंश में योग का विस्तृत विवेचन पौराणिक दार्शनिक-परम्परा में एक नवीन वस्तु है। योग का यह प्रसंग प्राचीन ज्ञात होता है। पतंजलि के योगसूत्र का इस प्रसंग में कोई भी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। कारण यह है कि उत्तरकालीन विकसित योगपरम्परा के पारिभाषिक शब्दों का इस प्रसंग में लगभग अभाव है। हरिवंश के योगविचार की अन्य पुराणों के योगसंबंधी प्रसंग से तुलना करने पर हरिवंश की भिन्न योगपरम्परा के दर्शन होते हैं। हरिवंश का योगवर्णन गीता के योग (कर्मयोग) से भी समानता नहीं रखता। हरिवंश का योगवर्णन सैद्धान्तिक है। गीता का योग योग के व्यावहारिक रूप को अधिक महत्त्व देता है। इसी कारण गीता के प्रत्येक योगप्रसंग में कर्मयोग की उत्कृष्टता का प्रदर्शन हुआ है।[1] योगसूत्र और गीता की योगपरम्परा हरिवंश में मिलने वाले योग से भिन्न मार्ग का अनुसरण करती है।

राजवंशों की सूची

इक्ष्वाकु वंश

हरि०	वायु०	मत्स्य०	देवी भा०	भागवत	विष्णु०
इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
विकुक्षि (शशाद)	विकुक्षि (शशाद)	विकुक्षि	विकुक्षि (शशाद)	विकुक्षि (शशाद)	विकुक्षि (शशाद)
ककुत्स्थ	ककुत्स्थ	ककुत्स्थ	ककुत्स्थ	पुरजय (ककुत्स्थ)	पुरजय (ककुद्)
अनेना	अनेना	पृथु	अनेना	अनेना	अनेनस्
पृथु	पृथु	विश्वग	पृथु	पृथु	पृथु
जिष्टराश्व	वृषदश्व	इन्दु	विश्वरन्धि	विश्वरधि	विष्टराश्व
आर्द्र	अन्ध्र	युवनाश्व	चन्द्र	चन्द्र	चान्द्रयुवनाश्व
युवनाश्व	यवनाश्व	श्रावस्त	युवनाश्व (१)	युवनाश्व	शावस्त
श्राव	श्राव	वत्सक	शावन्त	शावस्त (शावस्ती नगरी)	वृहदश्व
श्रावस्तक	श्रावस्तक	बृहदश्व	बृहदश्व	वृहदश्व	कुवलयाश्व
वृहदश्व	वृहदश्व	कुवलाश्व	कुवलयाश्व (धुन्धुमार)	कुवलयाश्व	दृढाश्व
कुवलाश्व	कुवलाश्व (धुन्धुमार)	दृढाश्व	दृढाश्व	दृढाश्व	हर्यश्व
दृढाश्व	दृढाश्व	प्रेमाद	हर्यश्व	हर्यश्व	निकुम्भ
हर्यश्व	हर्यश्व	हर्यश्व	निकुम्भ	निकुम्भ	अमिताश्व
निकुम्भ	निकुम्भ	निकुम्भ	बर्हणाश्व	बर्हणाश्व	कृशाश्व
सहताश्व	सहनाश्व	सहताश्व	कृशाश्व	कृशाश्व	प्रसेनजित
अकृशाश्व		रणाश्व			

बाहु
|
सगर
|
असमंजस
(पंचजन)
|
अंशुमान्
|
दिलीप
(खट्वांग)
|
भगीरथ
|
श्रुत
|
नाभाग
|
अम्बरीष
|
सिन्धुद्वीप
|
अयुताजित
|
ऋतुपर्ण
|
अतिपर्ण
|
सुदास
|
सौदास-मित्रसह
(कल्माषपाद)
|
सर्वकर्मा
|
अनरण्य
|
निघ्न
|
अनमित्र

चंचु
|
विजय सुदेव
|
रुरुक
|
घृतक
|
बाहु
|
सगर
|
असमंज
|
अंशुमान्
|
दिलीप
|
भगीरथ
|
श्रुत
|
नाभाग
|
अम्बरीष
|
सिन्धुद्वीप
|
आयुतायु
|
ऋतुपर्ण
|
सर्वकाम
|
सुदास
|
सौदास मित्र-
सह

|
नाभाग
|
अम्बरीष
|
सिन्धुद्वीप
|
अयुतायु
|
ऋतु पर्ण
|
कल्माषपाद
|
सर्वकर्मा
|
अनरण्य
|
निघ्न
|
रघु
|
दिलीप
|
अजक
|
दीर्घबाहु
|
अजपाल
|
दशरथ
|
राम
|
कुश
|
अतिथि
|

भरुक
|
वृक
|
बाहुक
|
सगर
|
असमंजस्
|
अंशुमान्
|
दिलीप
|
भगीरथ
|
श्रुत
|
नाभ
|
सिन्धुद्वीप
|
अयुतायु
|
ऋतुपर्ण
|
सर्वकाम
|
सुदास-मित्रसह
(कल्माषपाद)
|
अश्मक
|
मूलक
|
दशरथ
|

|
हरिश्चन्द्र
|
रोहिताश्व
|
हरित
|
चंचु
|
विजय वसुदेव
|
रुरुक
|
वृक
|
बाहु
|
सगर
|
असमंजस्
|
अंशुमान्
|
दिलीप
|
भगीरथ
|
सुहोत्र
|
श्रुत
|
नाभाग
|
अम्बरीष
|
सिन्धुद्वीप
|
अयुतायु
|
ऋतुपर्ण
|
सर्वकाम
|

|
दुलिदुह
|
दिलीप
|
रघु
|
अज
|
दशरथ
|
राम
|
कुश
|
अतिथि
|
निपध
|
नल
|
नभ
|
पुण्डरीक
|
क्षेमधन्वा
|
देवानीव
|
अहीनगु
|
सुधन्वा
|
अनल
|
उक्थ

(कल्मापपाद)
|
अश्मक
(वसिष्ठस्तु
अश्मक
जनयामास)
|
उरुकाम
|
मूलक
|
शतरथ
|
ऐडिविड
|
विश्वमहत्
|
दिलीप
(पडङ्गद
खट्वागद)
|
रघु
|
अज
|
दशरथ
|
राम
|
कुश
|
अतिथि
|
निपध
|

निपध
|
नल
|
नभ
|
पुण्डरीक
|
क्षेमधन्वा
|
देवानीक
|
अहीनगु
|
सहस्राश्व
|
चन्द्रावलोक
|
तारापीड
|
चन्द्रगिरि
|
भानुश्चन्द्र
|
श्रुतायु[1]

ऐडविड
|
विश्वसह
(खट्वाग)
रघु
|
अज
|
दशरथ
|
राम
|
कुश
|
अतिथि
|
निपध
|
नभ
|
पुण्डरीक
|
क्षेमधन्वा
|
देवानीक
|
अनीह
|
पारियात्र
|
बल
|
स्थल
|
वज्रनाभ

सुदास
|
मित्रसह,सौदास
(कल्मापपाद)
|
अश्मक
|
मूलक
|
दशरथ
|
अलिविल
|
विश्वसह
|
खट्वाग
|
दीर्घबाहु
|
रघु
|
अज
|
दशरथ
|
राम
|
कुश
|
अतिथि
|
निपध
|
अनल
|
नभस्
|
पुण्डरीव
|
क्षेमधन्वन्
|
देवानीव
|
अहीनव
|

१. मत्स्य० १२. २६–५७

वज्रनाभ	नल	खगण	रुरु
शख (ध्युषिताश्व)	नभ	विधृति	पारियात्रक
पुष्प	पुण्डरीक	हिरण्यनाभ-कौशल्य (जैमिनिशिष्य)	देवल
अर्थसिद्धि	क्षेमधन्वा	पुष्प	वच्चल
सुदर्शन	देवानीक	ध्रुवसन्धि	उत्क
अग्निवर्ण	अहीनगु	सुदर्शन	वज्रनाभ
शीघ्र	पारिपात्र	शीघ्र	शखण
मरु	दल	मरु	ध्युषिताश्व
बृहद्बल[1]	बल	प्रसुश्रुत	विश्वसह
	औक	सन्धि	हिरण्यनाभ
	वज्रनाभ	अमर्षण	पुष्प
	शख (ध्युषिताश्व)	महस्वान्	ध्रुवसन्धि
	विश्वसह	विश्वसाह्व	सुदर्शन
	वसिष्ठ-हिरण्यनाभ[2] (कौशल्य)	प्रसेनजित्	अग्निवर्ण
		तक्षक	शीघ्रग
		बृहद्बल[3]	मरु
			प्रसुश्रुक
			सुसन्धि
			अमर्ष
			सहस्वान्

१. हरि० २. ११. १२–२३; १२. १–१२; १३. १९–३२; १५. ६–३४
२. वायु० उत्तर० २६. ८–२०५
३. भाग० ९. ६. ४–३८, ७. १–९, ८. १–१५, ९. १–४१, १०. १–२, १२. १–८
४. विष्णु० ४. २–४.

विश्वभव
|
(चौथा फुटनोट पृ० २८८ पर देखें) बृहद्बल[1]

अजमीढ वंश

हरि०

बृहत्क्षत्र
|
सुहोत्र
|
हस्ती (हस्तिनापुर बसाया)
|
अजमीढ (धूमिनी)
|
बृहदिपु
|
बृहद्धनु
|
बृहद्धर्म
|
सत्यजित्
|
विश्वजित्
|
सेनजित्
|
रुचिर
|
पृथुसेन
|
पार
|
नीप
|
दातसत्यधुत
|
समर

वायु०

वितथ
|
बृहत्क्षत्र
|
सुहोत्र
|
हस्ती
|
अजमीढ (धूमिनी नामक स्त्री)
|
बृहद्वसु
|
बृहद्विष्णु
|
महाबल
|
बृहत्कर्मा
|
बृहद्रथ
|
विश्वजित्
|
सेनजित्
|
रुचिराश्व
|
पृथुषेण
|
पार
|
नीप
|

मत्स्य०

वितथ
|
बृहत्क्षत्र
|
हस्ती
|
अजमीढ (धूमिनी पत्नी)
|
बृहदनु
|
बृहन्त
|
बृहन्मना
|
बृहद्धनु
|
बृहदिपु
|
जयद्रथ
|
अश्वजित्
|
सेनजित्
|
रुचिराश्व
|
पृथुसेन
|
पार
|
नीप
|
दात सत्यधृत पुर

भागवत

वितथ
|
बृहत्क्षत्र
|
हस्ती (हस्तिनापुर)
|
अजमीढ
|
बृहदिपु
|
बृहद्धनु
|
जयद्रथ
|
विशद
|
सेनजित्
|
रुचिराश्व
|
पार
|— पृथुसेन
|— नीप
    |
    दात सत्यधृत
    |
    अगुह ज्येष्ठ
    |
    ब्रह्मदत्त
    |
    विष्वक्सेन
    |

|	समर	|	उदक्स्वन
पार	|	समर	|
|	पार	|	भल्लाट[४]
सुकृत	|	पार	
|	वृपु	|	
विभ्राज	|	पृथु	
|	सुकृति	|	
अणुह	|	सुकृत	
|	विभ्राज	|	
ब्रह्मदत्त	|	विभ्राज	
|	अणुह्	|	
विष्वक्सेन	|	अणुह	
|	ब्रह्मदत्त	|	
दण्डसेन	|	ब्रह्मदत्त	
|	विश्वक्सेन	|	
भल्लाट	|	विष्वक्सेन	
|	उदक्सेन	|	
दुर्बुद्धि[१]	|	उदक्सेन	
	भल्लाट	|	
	|	भल्लाट	
	जनमेजय[२]	|	
		जनमेजय[३]	

१. हरि० १. २०. १६–३४
२. वायु० अनुषंग ३७. १६०–१७०
३. मत्स्य० ४९. ४२–५९
४. भाग० ९. २१–१८–२०.

काशी राजवंश
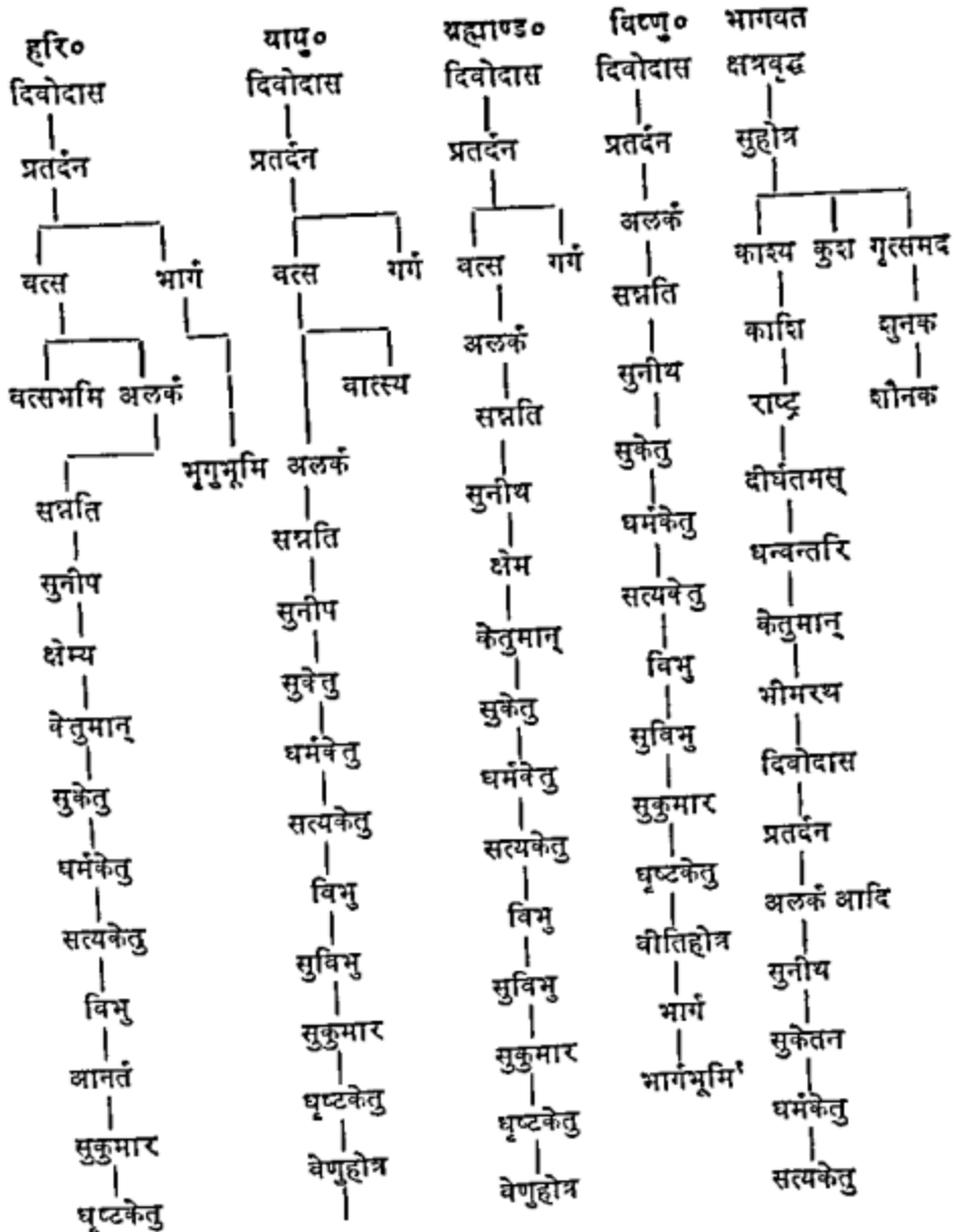
हरि०

दिवोदास → प्रतर्दन → (वत्स, भार्ग)
- वत्स → (वत्सभमि, अलर्क)
- भार्ग → भृगुभूमि
- अलर्क → सन्नति → सुनीप → क्षेम्य → केतुमान् → सुकेतु → धर्मकेतु → सत्यकेतु → विभु → आनर्त → सुकुमार → धृष्टकेतु → …

वायु०

दिवोदास → प्रतर्दन → (वत्स, गर्ग)
- वत्स → (वात्स्य, अलर्क)
- अलर्क → सन्नति → सुनीप → सुकेतु → धर्मकेतु → सत्यकेतु → विभु → सुविभु → सुकुमार → धृष्टकेतु → वेणुहोत्र → …

ब्रह्माण्ड०

दिवोदास → प्रतर्दन → (वत्स, गर्ग)
- वत्स → अलर्क → सन्नति → सुनीथ → क्षेम → केतुमान् → सुकेतु → धर्मकेतु → सत्यकेतु → विभु → सुविभु → सुकुमार → धृष्टकेतु → वेणुहोत्र

विष्णु०

दिवोदास → प्रतर्दन → अलर्क → सन्नति → सुनीथ → सुकेतु → धर्मकेतु → सत्यकेतु → विभु → सुविभु → सुकुमार → धृष्टकेतु → वीतिहोत्र → भार्ग → भार्गभूमि[1]

भागवत

क्षत्रवृद्ध → सुहोत्र → (काश्य, कुश, गृत्समद)
- काश्य → काशि → राष्ट्र → दीर्घतमस् → धन्वन्तरि → केतुमान् → भीमरथ → दिवोदास → प्रतर्दन → अलर्क आदि → सुनीथ → सुकेतन → धर्मकेतु → सत्यकेतु
- गृत्समद → शुनक → शौनक

१. विष्णु० ४. ८. १२–२१

पूरुवंश-कक्षेयुवंश (अथवा अनुवंश)-अंगवंश (१)

दस पुत्रों में
तृतीय पुत्र
कक्षेयु से वंश
चलता है ।
कक्षेयु
कक्षेयुवंश–
सभानर चाक्षुप परमन्यु
कालानल
सृजय
पुरजय
जनमेजय
महाशाल
महामनस्
उशीनर
तितिक्षु
नृग क्रमि नव सुव्रत शिवि
(नवराष्ट्र)
(यौधेय) (नवराष्ट्र) (कृमिला-पुरी) (शिवपुर नगर)
वृषदर्भ सुवीर केकय मद्रक
तितिक्षु
उपद्रथ (तितिक्षु)
हेम
सुतपा
बलि
अंगवंश–अंग वंग सुह्म पुण्ड्र कलिंग
दधिवाहन
अनपान
सृजय
पुरजय
जनमेजय
महाशाल
महामना
उशीनर
तितिक्षु
नृग कृमि नव सुव्रत शिवि (शिवयः)
वृषदर्भ सुवीर केकय मद्रक
तितिक्षु
उपद्रथ

वृषदर्भ
सुवीर
मद्रक
केकय
(सुवीर जनपद)
तितिक्षु (महामानस का पुत्र)
उषद्रथ
फेन
सुतपा
बलि
अंगवंश– अंग
वंग
सुह्म
पुण्ड्र
कलिंग
दधिवाहन
दिविरथ
धर्मरथ
चित्ररथ
दशरथ (लोमपाद)
चतुरंग (दाशरथि)
दिविरथ
धर्मरथ
चित्ररथ (लोमपाद)
चण्डिक
वारण
हर्यंग
भद्ररथ
बृहत्कर्मा
बृहद्रथ
बृहन्मना
जयद्रथ (यशोदेवी माता)
विजय
फेन
सुतपस्
बलि
अंगवंश– अंग
वंग
सुह्म
पुण्ड्र
कलिंग
दधिवाहन
दिविरथ
धर्मरथ
चित्ररथ
दशरथ (लोमपाद)
चतुरंग (दाशरथि)
पृथुलाक्ष
चम्प

पृथुलाक्ष
|
चम्प
|
हर्यंग
|
भद्ररथ
|
बृहत्कर्मा
|
बृहद्दर्भ
|
बृहन्मना—(दो पत्नियाँ)—
यशोदेवी और सत्या, इससे दो वंश

यशोदेवी से: जयद्रथ — दृढरथ — विश्वजित् — कर्ण — विकर्ण — सौ पुत्र

सत्या से: विजय — धृति — धृतव्रत — सत्यकर्मा — अधिरथ सूत — कर्ण — वृषसेन — वृष[1]

दृढरथ
|
जनमेजय
|
कर्ण
|
सुरसेन
|
द्विपज[2]

(सत्यमाता)
|
धृति
|
धृतव्रत
|
सत्यकर्मा
|
अधिरथ सूत
|
कर्ण

हर्यंग
|
भद्ररथ
|
बृहत्कर्मा
|
बृहद्दर्भ
|
बृहन्मना
|
जयद्रथ
|
दृढरथ
|
विश्वजित्
|
वैकर्ण
|
विकर्ण
|
शतसंख्यक पुत्र[3]

१. हरि० १. ३१. ५–६०

२. वायु० अनुसं० ३७. १२–१०४

३. ब्रह्म० १३. २. ४२

तितिक्षु
वृहद्रथ
फेन
गुतपस्
बलि
अगवश
अग
वग
सुह्म
पुण्ड्र
कलिग
दधिवाहन
दिविरथ
धर्मरथ
चित्ररथ
सत्यरथ
दशरथ (लोमपाद)
चतुरग (दाशरथि)
तितिक्षु
रुशद्रथ
हेम
सुतपस्
बलि
अगवश
अग
वग
कलिग
सुह्म
पुण्ड्र
अनपान
दिविरथ
धर्मरथ
चित्ररथ (गेमपाद)
चतुरग
पृथुलाक्ष
चम्प
हर्यंग
भद्ररथ
तितिक्षु
रुशद्रथ
हेम
सुतपस्
बलि
अग
वग
कलिग
सुह्म
पुण्ड्र
खनपान
दिविरथ
धर्मरथ
चित्ररथ (रोमपाद)
चतुरग
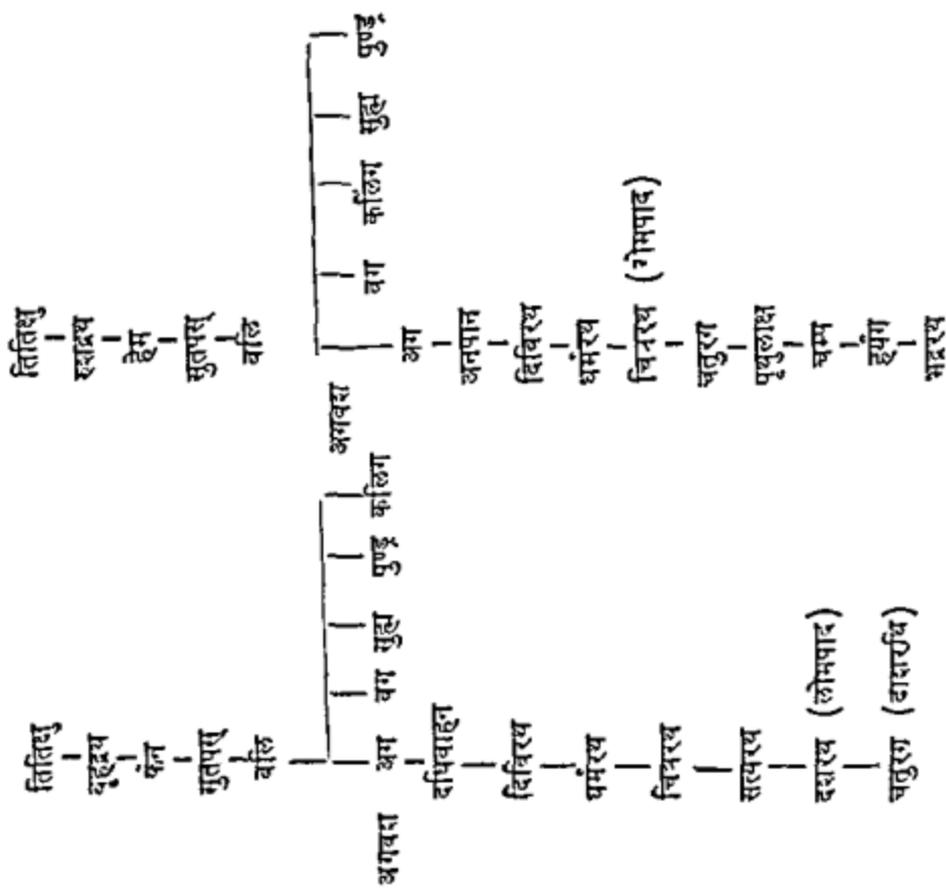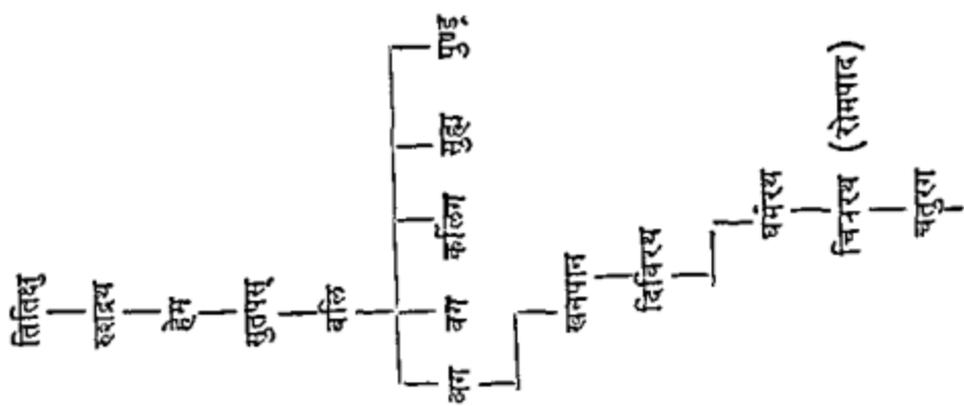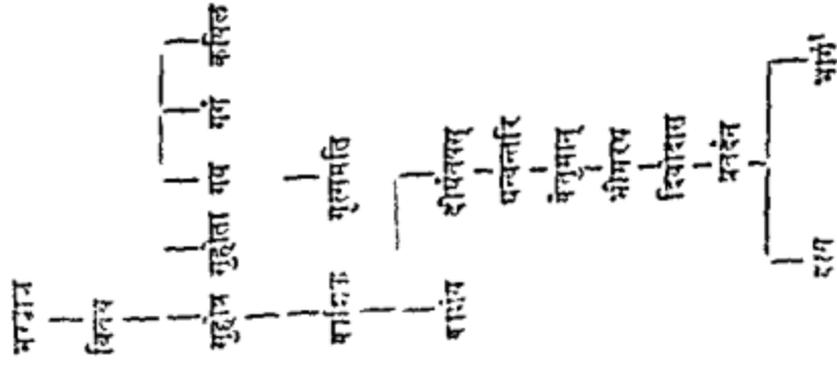
१. हरि० १. ३२. १–२८

२. मत्स्य० ४६. ४–४१

भरत वंश (२)

विष्णु०
ऋतेयु (रौद्राश्वपुत्र–रौद्राश्व, पुरू के वंश का ग्यारहवां राजा)
अन्तिनार
सुमति
अप्रतिरथ
ध्रुव
ऐलीन
कण्व
दुष्यन्त
मेधातिथि
भरत
काण्वायन द्विज
वितथ (भरद्वाज)
मन्यु
वृहत्क्षत्र
महावीर्य
नगर
गर्ग
दुरक्षय
संकृति
शिनि
वायु०
प्रभाकर आत्रेय (रौद्राश्व की लड़कियों का पति)
रिवेयु
रन्ति
त्रसु
प्रतिरथ
ध्रुव
उपदात
सुष्यन्त
दुष्यन्त
प्रवीर
अनघ
धुर्य
भरत
कण्ठ
वितथ
मेधातिथि
भुवमन्यु
काण्ठायन द्विज
वृहत्क्षत्र
महावीर्य
नर
गर्ग

मेधातिथि
|
काण्वायन द्विज

बृहद्विष्णु
|
बृहत्कर्मा
|
बृहद्रथ
|
विश्वजित्
|
सेनजित्
|
रुचिराश्व — काव्य — राम — दृढहनु

रुचिराश्व
|
पृथुसेन
|
पार
|
नीप
|
समर
|
पर — पार — सदश्व

पार
|
पृथु

|
विष्वक्सेन
|
उदक्सेन
|
भल्लाभ[1]

|
सुकृति
|
विभ्राज
|
अणुह
|
ब्रह्मदत्त
|
विष्वक्सेन
|
उदक्सेन
|
भल्लाट
|
जनमेजय[2]

१. विष्णु० ४. १९. १-४७

२. वायु० अनु० ३१. ११९-१७७

मगध राजवंश (१)
हरि०
अजमीढ (धूमिनी-पत्नी)
ऋक्ष
संवरण
कुरु
सुधन्वा
सुधनु
परीक्षित
प्रवर
सुहोत्र
च्यवन
चैद्योपरिचर वसु
बृहद्रथ (तथा अन्य पाँच पुत्र और एक पुत्री)
कुशाग्र
वायु०
अजमीढ (धमिनी)
ऋक्ष
संवरण
कुरु
सुधन्वा
जह्नु
परीक्षित
अरिमर्दन
सुहोत्र
च्यवन
विद्योपरिचर वसु
सात पुत्रों में बृहद्रथ से वंश चला
बृहद्रथ
भागवत
अजमीढ
ऋक्ष
संवरण
कुरु
परीक्षित
सुधनु
जह्नु
निषेधाश्व
सुहोत्र
च्यवन
कृती
उपरिचर वसु
बृहद्रथ-प्रमुख पुत्र
कुशाग्र

कुशाग्र
|
वृषभ
|
पुष्पवान्
|
सत्यधृति
|
धनुष
|
शर्व
|
सम्भव
|
बृहद्रथ
|
जरासन्ध
|
सहदेव
|
सोमवित्
|
श्रुतश्रवा[1]

कुशाग्र — वृषभ — पुष्पवान् — सत्यहित — सुधन्वन् — जतु

जरासन्ध — सहदेव — सोमप — श्रुतिश्रवा[2]

१. मत्स्य० ५०. १७-३४

२. विष्णु० ४. १९. ७४-८४

यदुवंश (१)
हरि०
यदु
सहस्रद (यदु के पाँच पुत्रों में प्रथम)
हैहय
हय
वेणुहय
धर्मनेत्र
कार्त
साहञ्ज (साहञ्जनी पुरी)
महिष्मान् (माहिष्मती)
भद्रश्रेण्य
दुर्दम
कनक
वायु०
यदु
सहस्रजित् (यदु के पाँच पुत्रों में प्रथम)
शतजित्
हैहय
हय
वेणुहय
धर्मतत्त्व
कीर्ति
संजेय
महिष्मान्
भद्रश्रेण्य (वाराणसी का स्वामी)
दुर्मद
कनक
मत्स्य०
यदु
सहस्रजि (यदु के तीन पुत्रों में प्रथम)
शतजि
हैहय
हय
वेणुहय
धर्मनेत्र
कुन्ति
संहत
महिष्मान्
रुद्रश्रेण्य
दुर्दम

१. भागवत ९. २३. १९–३९ २. विष्णु ४. ११. ५–३०

यदुवंश (२)

भागवत

यदु
सहस्रजित् (यदु के चार पुत्रों में प्रथम)
शतजित्
महाहय वेणुहय हैहय
धर्म
नेत्र
भद्रसेनक
दुर्मद
धनक
कृतवीर्य कृताग्नि कृतवर्मा कृतौजा
अर्जुन
जयध्वज प्रमुख शतपुत्र—

वृष्णि वंश (२)

मत्स्य०

- वृष्णि
  - गान्धारी (प्रथम पत्नी)
    - सुमित्र
  - माद्री (द्वितीय पत्नी)
    - मुधाजित
    - देवमीढुष
    - अनमित्र
      - विघ्न
        - प्रसेन
        - शक्तिसेन
      - शिवि
        - सत्यक
          - सात्यकि युयुधान
            - असग
              - द्युम्नि
                - युगन्धर
      - युधाजित
      - वृषभ
        - जयन्त
          - अक्रूर
            - देववान
            - उपदेव[1]
      - क्षत्र
    - शिवि

वायु०

- यदु
  - क्रोष्टु
    - वृजिनीवान्
      - स्वाहि
        - रशादु
          - घृत
            - चित्ररथ
              - शशविन्दु
                - पृथुश्रवा आदि एक लाख पुत्र
                  - पृथुश्रवा
                    - मरुत्त
                  - कम्वलवर्हिष
                    - रुक्मकवच
                      - रुक्मेषु
                      - पृथुरुक
                      - ज्यामघ
                      - परिघ
                      - हरि[2]

१. मत्स्य० ४५. १–३३

२. वायु० ३३. १४–२९

सात्वत वंश

1. वायु० २. ३४. १–१६

१. हरि० १. ३६. २९–३०, ३७. १–३१

२. विष्णु० ४. १३. १–११

सात्वत वंश (२)
मत्स्य०
मधु (देवक्षत्र का पुत्र)
पुरवस्
पुरुद्वान्
जन्तु
सात्वत
भजि
भजमान
देवावृध
अन्धक
भोज
वृष्णि
निमि
क्रमिल
वृष्णि
परपुरंजय
देवावृध
बभ्रु
कुकुर
भजमान
शशि
कम्बलबर्हिष
वृष्णि
विदूरथ
भागवत
मधु (क्रोष्टु के प्रधान वंश की शाखा, विदर्भ वंश का राजा)
अनु
पुरुहोत्र
आयु
सात्वत
भजमान
भजि
दिव्य
देवावृध
अन्धक
महाभोज
वृष्णि
(एक पत्नी)
बभ्रु
निम्नलोचि
किंकिण
धृष्ट
(दूसरी पत्नी)
शताजित
सहस्राजित
अयुतायु
वृष्णि
सुमित्र
युधाजित
शिनि
अनमित्र

- धृति
  - कपोतरोमन्
    - तैत्तिरि
      - नल
        - पुनर्वसु
          - आहुक
            - देवक
              - देववान्
              - उपदेव
              - सुदेव
              - देवरक्षित
            - उग्रसेन
              - कंस (तथा अन्य आठ पुत्र)
          - आहुकी

- विदूरथ
  - राजाधिदेव
    - शोणाश्व
      - (शमी आदि पाँच पुत्र)
        - प्रतिक्षत्र
          - प्रतिक्षेत्र
    - श्वेतवाहन
  - शूर

- सत्यक
  - युयुधान (सात्यकि)
    - जय
      - कुणि

- निम्न
  - सत्यजित्
  - प्रसेन
- युगन्धर
- वृष्णि
  - श्वफल्क
    - अक्रूर प्रमुख बारह पुत्र
  - चित्ररथ
    - देववान
    - उपदेव
    - कुकुर
      - वह्नि
        - विलोमा
          - कपोतरोमा
            - अन्धक (दुन्दुभि)
              - वसु
                - आहुक
    - भजमान
    - शुचि
    - कम्बलबर्हिष

१. मत्स्य० ४४. ४४–८४

२. भाग० ९. २३. १९–३१, २४. ५–५६

सहायक पुस्तकों की सूची

सस्कृत पुस्तके

अग्नि पुराण—आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थावली ग्रन्थाक—४१ (१९००)

अष्टाध्यायी—वैदिक पुस्तकालय अजमेर में मुद्रित

अहिर्बुध्न्य सहिता—एम० डी० रामानुजाचार्य, आडयार, मद्रास १९१६

उत्तरगीता—गौडपाद विरचित—वाणी विलास मुद्रणालय श्रीरगम् १९१०

ऐतरेय ब्राह्मण—सद्गुरु शिष्य की टीका—Univ of Travancore Sanskrit Series No CXLIX, Trivendrum, 1942

ऋक् प्रातिशाख्य—The Indian Press, Allahabad

ऋग्वेद—वैदिक सशोधन मण्डल, वैदिक रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना १९४६

कठोपनिषद्—कल्याण उपनिषदक, गीता प्रेस, गोरखपुर १९४९

कालिकापुराण—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

कूर्मपुराण—Bibliotheca Indica, edited by Nilmani Mukhopadhyaya, Calcutta, 1890

कौमुदी महोत्सव—विज्जिका कृत—Shakuntala Rao Shastri, Bombay 1952

कृत्यरत्नाकर—चण्डेश्वर ठक्कुर विरचित—Asiatic Society Bengal 1925

कृत्यसार समुच्चय—अमृतनाथ झा विरचित—काशी सस्कृत सीरीज़—चतुर्थ पुष्प

गदाधर पद्धति—गदाधर भट्ट कृत—Bibliotheca Indica, Published by the Asiatic Society of Bengal

गरुड पुराण—Calcutta, Saraswati Press 1890

गीता—Translated by W G P Hill, Oxford Univ Press London, 1928

छान्दोग्य उपनिषद्—आनन्दाश्रम सीरीज, ग्रन्थाक १४ (१९१३)

जयाख्य सहिता—Edited by Embar Krishnamacharya, Gaekwad Oriental Series Vol LIV Baroda, 1931

जैन हरिवश पुराण—माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, ३१वाँ पुष्प

दानक्रिया कौमुदी—गोविन्दानन्द विरचित—Bibliotheca Indica New Series, No 1028 and 1039

देवी भागवत—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

धम्मपद—The Buddha Society, Bombay

ध्वन्यालोक—हरिदास सस्कृत ग्रन्थमाला—६६, १९३७

नाट्यशास्त्र—Bibliotheca Indica No 272 Vol I (1950), translated by Manmohan Ghosh

निर्णयसिन्धु—कमलाकर भट्ट कृत—चौखम्भा सीरीज न० २६६

पद्मपुराण—(१) आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थावली

पद्मपुराण—(२) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

वृहद्धर्म पुराण—Bibliotheca Indica, New Series No 668 edited by Har Prasad Shastri, 1888

वृहन्नारदीय पुराण—Bibliotheca Indica, Edited by Hrishikesh Shastri, Calcutta 1891

ब्रह्मपुराण—आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज १८९५, ग्रन्थाक २८

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण—कलकत्ता १८८८, जीवानन्द भट्टाचार्य-सशोधित

ब्रह्माड पुराण—वेकटश्वर प्रेस, बम्बई

भविष्य पुराण—वेंकटेश्वर प्रस, बम्बई

भागवत पुराण—(1) Edited and published by T. K Krishnamachari printed at Nirnaya Sagar Press, Bombay
„ (2) Published by Gopal Narain & Co, Kalbadavee Road, Bombay

मत्स्य पुराण—आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, ग्रन्थाक ४१—सन् १९००

मदनमहार्णव—विश्वेश्वर भट्ट कृत—Gaekwad Oriental Series No CXVII, edited by G H Bhatt, published by Maharaja Sayajirao, Univ of Baroda

मदनरत्नप्रदीप मदनसिहदेव कृत—Ganga Oriental Series No 6, edited by M K Sharma, Anup Sanskrit Library, Bikaner, 1948

मनुस्मृति—कुल्लूक कृत टीका, काशी सस्कृत सीरीज पुस्तकमाला ११४

महाभारत—P P S Shastri, Southern Recension, Madras

महाभारत—Edited by Ramachandra Shastri, printed & published by S N Joshi, Chitrashala Press Poona First edition 1930

„ —Sukthankar edition

मानव धर्मशास्त्र—इन्दिरारमण कृत—ज्ञानमण्डल प्रेस, काशी १९९९ (प्रथम संस्करण)

मानसार—

मार्कण्डेय पुराण—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

मालविकाग्निमित्र—Karnatic Publishing House, Bombay

मृच्छकटिक—Second edition, Poona 1950

रघुवंश—Kashi Sanskrit Series Pustakamala 51 1995

रामायण—D A V College Sanskrit Series No 17—North Western Recension

वामनपुराण—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

वायुपुराण—Bibliotheca Indica, published by the Asiatic Society of Bengal

वराह पुराण—Bengal Asiatic Society, Calcutta

विष्णु पुराण—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

विष्णुधर्मोत्तर—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

शतपथ ब्राह्मण—Edited by A Weber Leipzig Otto Harrassowitz 1929

शास्त्रवार्तासमुच्चय—मुनि विद्याविजयजी कृत—

श्वेताश्वतर उपनिषद्—कल्याण उपनिषदङ्क गीता प्रेस गोरखपुर १९४९

समरांगण सूत्रधार—Baroda Central Library 1925

स्मृतिमुक्ताफल—वैद्यनाथ कृत—धर्मशास्त्र ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक २५

स्कन्दपुराण—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

हरिवंश—(1) Edited by Ramachandra Shastri printed & published by S N Joshi Chitrashala Press Poona (First edition) 1936

हरिवंश—(2) Published by Khemraj Seth at Venkateshwar Press, Bombay (18[illegible])

ENGLISH BOOKS

Acharya, P K —Architecture of Manasara—Oxford Univ Press
—Dictionary of Hindu Architecture
Bandyopadhyaya, N Kautilya–Calcutta, 1945,(Second edition)
Bhandarkar, R G —Vaisnavism, Saivism & the Minor Religious Systems—Strassburg 1913
Bhandarkar—Commemorative Essays—Poona, 1917
Brown, P —Indian Architecture—"Treasure House of Books" Bombay
Cambridge History of India Vol I—edited by E J Rapson, Cambridge 1922
Chaudhury, T —History of Sanskrit Literature—Chuckérvertty, Chatterjee & Co, Ltd, Booksellers & Publishers, 15, College square Calcutta (Fifth edition)
Cowell, E B—The Jatakas, translated by Francis & Neil, London, published by the Pali Text Society by Luzac & Co, Ltd, 1957
Dikshitar, V R R —Some Aspects of the Vayu P, Madras 1933·
" " Matsya P A Study—Univ of Madras 1935
Dasgupta, S, History of Indian Philosophy Vol II Cambridge Univ Press London, 1940
Dasgupta, S—Indian Idealism, Cam Univ Press 1933
Fausbol —The Jātakas—London, 1877-97
Farquhar, J N—An Outline of the Religious Literature of India, Oxford 1920
Fick, Richard Social Organization in North East India in

Buddha's Time, translated from German by S K Maitra, Calcutta 1920.

Ghosh, N N—Early History of Kāusambi published under the auspices of the Allahabad Archaeological Society 1935.

Hazra, R C.—Puranic Records on Hindu Rites and Customs—Univ. of Dacca, Bulletin No. XX 1940.

Hiriyana—The Essentials of the Indian Philosophy—George Allen and Union Ltd, London.

Hopkins, F.W. The Great Epic of India—New Haven, Yale Univ. Press, 1920

Hopkins, F.W.—The Social & Military Position of the Ruling Caste in Ancient India—(a reprint from XIII Vol of JAOS) Morehouse & Tayler Printers, New Haven, Conn 1889.

Jayaswal, K P.—History of India—published by Motilal Banarasi Dass, the Punjab Sanskrit Book Depot, Lahore, 1934

Kane, P V.—History of Dharmaśāstra Vol. 1-5—Oriental Research Institute, Poona, 1930.

Kane, P.V—History of Sanskrit Poetics—Bombay 1923.

Keith, A.B.—Sanskrit Drama—Oxford Clarendon Press 1924.

Konow, S—Das Indische Drama, Berlin, 1920.

Law, B.C—Historical Geography of Ancient India, Published by Societe Asiatique De Paris, Paris, (France).

Macnicol—The Indian Theism, Humphrey Milford Oxford Univ. Press, London.

Macdonell—History of Sanskrit Literature—London, 1925.

Mc Crindle, J.W.—Ancient India as known to Megasthanese and Arrian—Bombay 1877.

Majumdar, R C —Corporate Life in Ancient India, Calcutta, 1918
" " An Advanced History of India–Macmillan & Co, Ltd St Martin's Street, London 1946
Pargiter, F E —Ancient Indian Historical Traditions–Oxford 1922
The Dynasties of the Kali Age–Oxford 1913
Patil, D R —Cultural History from the Vayu Purāna–
Peterson, P —Hymns from the Rgveda–Bombay Sanskrit Series No XXXVI 1931 (Sixth edition)
Pusalkar, A D —Studies in Epics and Purānas of India–Vidya Bhavan Bombay (First edition) 1953
Ray Chaudhuri, H —The Early History of the Vaisnava Sect–Published by the Univ of Calcutta 1920
" " Studies in Indian Antiquities Pt IV of Calcutta
" " Political History of Ancient India, Univ of Calcutta
Ridgeway, W The Dramas & Dramatic Dances of Non-European Races—camb Univ Press 1915
Schrader, F O —Introduction to the Pāncarātra and the Ahirbudhnya Sanhitā–Adyar, Madras 1916
Shastri, R —Studies in Rāmāyana–Dept of Education, Baroda State, Kirti Mandir Lecture Series No IX
Satya Shrava—Śakas in India–The Vedic Research Institute, Lahore 1947
Smith, V A —The Early History of India–(fourth edition) Oxford 1924
Sukthankar, V S —Analecta Vol II–V S Sukthankar Memorial Edition Committee, Bombay–2 1945, edited by R K Gode

Utgikar, N B Proceedings & Translation of the Oriental Conference, Poona

Vedic Age Vol 1 London, George Allen & Union Ltd The Age of Imperial Unity Bharatiya Vidya-Bhavan Vol II Bombay

Williams, M —Hinduism–London Society for Promoting Christian knowledge, New York, The Macmillan Co

Indian Wisdom–London Publisher to the India Office 1893 (fourth edition)

Wilson, H H —Select Specimen of the Theatre of the Hindus–2 Vols Third edition London 1871

Winternitz, M —History of Indian Literature Vol 1–Published by the Univ Calcutta 1927

Yajnik, R.K —The Indian Theatre–London George Allen & Union Ltd Museum Street

JOURNALS

ABORI	Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Poona Vol II X XIV XVII XX
ERE	Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol 7 Bombay
I A	Indian Antiquary Bombay Vols 5 (1876) 12 (1893) 18 (1889) 30 (1901) 37 (1908)
I C	Indian Culture Vol 4 1918
IHQ	Indian Historical Quarterly, Calcutta Vols 3 9 10
JAOS	Journal of American Oriental Society New Haven, Conn Vol 59 61

JBORS — Journal of Bihar Orissa Research Society, Vols. 14,16, 18.

JORM — Journal of Oriental Research, Madras Vol. 3-5,9, 12.

JRAS — Journal of Royal Asiatic Society, London 1904, 1907, 1908, 1911, 1916, 1918.

JUB. — Journal of the University of Bombay, 1942, Vol. XI, New Series Pt. 2., Published by the Univ. of Bombay.

JUPHS — Journal of U P. Historical Society Vol. 17.

JVOI — Journal of Venkateshwar Oriental Institute, Tirupati, Vol 8 No. 1.

NIA — The New Indian Antiquary Vol 5. 1942–1943.

SBE — Sacred Books of the East Ed by F. Max Muller, Oxford

SBH — Sacred Books of the Hindus, published by the Panini Office Bhuvaneshari Ashrama, Allahabad, printed at the Indian Press

शुद्धिपत्र

पृष्ठ,	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ,	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२२	कथ्यमाना	कथ्यमान	६६	२१	सीवेल	सीवेल ने
१२	७	प्रकार	विचार	७०	१७	साम, दाम	साम, दान
१६	२४	प्रहृपद्	प्रहर्पोद्	८४	२१	स्वर्गमुत्ततम्	स्वर्गमुत्तमम्
४७	२२	Asanca	Aśauca	८६	१७	पुराणो में	पुराणा के
५०	२६	on	no	८९	२५	Indischa	Indische
५२	१४	करती का	करती है।	९०	१४	were	wore
			युद्ध का	९३	२८	Māhāmāyā	Māhātmya
५३	१९	निरजा	विरजा	९५	८	शतसहस्री	शतसाहस्री

अनुक्रमणिका